DCEPA-103

लोक नीति–II

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

खण्ड 1 लोक नीति निर्माण : मुख्य निर्धारण	पेज न0
इकाई–1 हित समूह एवं नीति निर्माण	3-13
इकाई–2 जनसंचार माध्यम	14-21
इकाई–3 सामाजिक आन्दोलन	22-34
इकाई–4 अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियां	34-45
खण्ड 2 नीति निष्पादन	
इकाई–5 नीति निष्पादन में सरकारी एजेंसियों की भूमिका	46-55
इकाई–6 नीति–निष्पादन में गैर–सरकारी एजेंसियों की भूमिका	56–63
इकाई–7 नीति निष्पादन की समस्याएं	64–71
इकाई–8 भूमि सुधार	72–81
खण्ड 3 नीतिगत हस्तक्षेप वृत्त अध्ययन	
इकाई–9 गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम	82–90
इकाई–10 औद्योगिक नीति	91–104
इकाई–11 पंचायती राज (ग्रामीण विकास)	105–117
खण्ड 4 लोक नीति के निर्माण नमूने	
इकाई–12 नीति निर्माण दृष्टिकोण एवं नीति विश्लेषण के नमूने	118–124
इकाई–13 नीति विश्लेषण (आमण्ड एवं ईस्टन के सन्दर्भ में)	125–131

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

DCEPA-103 लोक नीति–II

संरक्षक एवं मार्गदर्शक

प्रो0 सत्यकाम — **कुलपति**
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति

प्रो0 सन्तोषा कुमार — निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो0 वी. के. राय — राजनीति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो0 नन्द लाल भारती — लोक प्रषासन विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रो0 पंकज कुमार — राजनीति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ0 दीपशिखा श्रीवास्तव — सहायक आचार्य, राजनीति विज्ञान, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

लेखक

डॉ0 खुर्शीद आलम — सहायक आचार्य, मानविकी और समाज विज्ञान विभाग, इंटीग्रल विश्वविद्यालय, लखनऊ

सम्पादक/परिमापक

डॉ0 आनंदानंद त्रिपाठी — सह–आचार्य, राजनीति विज्ञान, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

समन्वयक

डॉ0 सोहिनी देवो — सहायक आचार्य, लोक प्रषासन, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रकाशक

2024 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज 2024

ISBN-978-81-19530-28-1

प्रस्तुत पाठ्य सामग्री में विषय से सम्बन्धित सभी तथ्य एवं विचार मौलिक रूप से लेखक के द्वारा स्वयं उपलब्ध कराये गये हैं। विश्वविद्यालय, इस सामग्री के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार से उत्तरदायी नही है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नही है।

प्रकाषन : उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रकाशक : विनय कुमार, कुलसचिव प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

मुद्रक : चंद्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज– 211006

इकाई 01 हित समूह एवं नीति निर्माण

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 परिचय

1.2 हित समूह

1.3 हित समूह की विशेषताएं

1.4 हित समूह के प्रकार

1.5 हित समूह की तकनीकें/कार्यशैली

1.6 हित समूह और लोक नीति

1.7 हित समूह और नीति निर्माण

1.8 हित समूह एवं राज्य की प्रकृति

1.9 सारांश

1.10 अभ्यास के प्रश्न

कुछ उपयोगी पुस्तकें

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप निम्नलिखित तथ्यों को समझ सकेंगेः

- हित समूहों के अर्थ, स्वरूप व विशेषताएं।
- हित समूहों के प्रकार।
- हित समूहों द्वारा उपयोग की जाने वाली विभिन्न तकनीकें व कार्यनीतियां।
- नीति–निर्माण में हित समूहों की भूमिका।

1.1 परिचय

सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य अन्य व्यक्तियों से सम्बन्ध स्थापित करता है। सम्बन्ध वह इसलिए स्थापित करता है कि उसकी अनेकों आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके। व्यक्ति की विभिन्न आवश्यकताएं हैं– आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक आदि। विभिन्न प्रकार की आवश्यकताएं विभिन्न व्यक्तियों में अलग–अलग हो सकती है। मनुष्यों के विचारों में भिन्नता का होना स्वाभाविक होता है। जब एक समान विचार वाले व्यक्ति अपने हितों या आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए एक संगठन बनाकर उद्देश्यों या लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं, इस संघ को हम समूह की संज्ञा देते हैं।

वर्तमान समय में 'समूह' का समाज में महत्वपूर्ण स्थान है। किसी उद्देश्य के प्राप्ति या किसी समस्या के समाधान में 'समूह' की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। आधुनिक राज्यों का अध्ययन यदि हम केवल संस्थागत दृष्टिकोण से करते हैं तो वह अध्ययन अपूर्ण समझा जाएगा। आज के राज्य और समाज में अनेक 'गुटों' और 'समूहों' का अस्तित्व है, क्योंकि राज्य में अनेक प्रकार के हित एक साथ रहते और काम करते हैं। समाज के विकास की प्रत्येक अवस्था में 'समूह' किसी न किसी रूप मे विद्यमान रहे हैं और अपनी भूमिका का निर्वाह करते रहे हैं। राज्य में रहने वाले व्यक्तियों के संगठित समूह अपने हितों की रक्षा के लिए सरकार पर नीति–निर्माण एवं नीति कार्यान्वयन के लिए दबाव डालते हैं। नीति निर्माण और निर्णय लेने वाली प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले समूहों को 'हित समूह' कहते हैं। समाज में अनेक प्रकार के हित रहते हैं। जब कोई छोटा या बड़ा हित संगठित रूप धारण कर लेता है तो उसे 'हित–समूह' कहते है। नीति–निर्माण एक संगठित प्रक्रिया है जो सरकारों, संघों और संगठनों द्वारा नई नीतियों का निर्माण, विकास और लागू करने के लिए अपनाई जाती है। हित समूहें नीति

निर्माण प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं क्योंकि वे विशेष उद्देश्यों और हितों का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस अध्याय में हम हित समूह की भूमिका, अर्थ, परिभाषा, विशेषताएं तथा इसके प्रकारों का अध्ययन करेंगे तथा लोक नीति के निर्माण में हित समूह की भूमिका का भी अध्ययन करेंगे।

1.2 हित समूह

हित समूह एक ऐसा समूह होता है जिसका मुख्य उद्देश्य अपने सदस्यों के हित की सुरक्षा होती है। ये समूह सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक या किसी क्षेत्र में सक्रिय हो सकते हैं। हित समूह अपने सदस्यों की समृद्धि, सुरक्षा, विकास और अधिकारों की संरक्षा के लिए कार्य करते हैं। इस प्रकार समूहों में सदस्य आम तौर पर एक समान उद्देश्य के लिए संगठित होते हैं। सामान्यतः नियम, नीतियों और संस्कृति के अनुसार कार्य करते हैं। हित समूह एक संगठित समूह है जिसके प्रत्येक सदस्य समान विचार रखते हैं एवं समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकारी संस्थाओं, अभिकरणों, अधिकारियों तथा नीतियों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने का प्रयास करते हैं–

वर्तमान में ही नहीं अपितु आदिकाल से ही समाज के विभिन्न क्षेत्रों में लोगों के अपने–अपने स्वार्थ पाये जाते रहे हैं। खासतौर से औद्योगिक समाज में तो स्वार्थवाद बड़ी तेजी से बढ़ा है। समाज में विभिन्न प्रकार के हित पाए जाते हैं, जैसे – मजदूर, कृषक, उद्योगपति, शिक्षक, व्यवसायी इत्यादि। जब कोई छोटा बड़ा हित संगठित रुप धारण कर लेता है तब उसे हित–समूह कहा जाता है। इस समूह का उद्देश्य अपने सदस्यों के विविध प्रकार के हितों रक्षा करना होता है। समूह के सदस्यों के विविध उद्देश्य हो सकते हैं। जैसे – सामाजिक, आर्थिक, व्यावसायिक आदि। इन्हीं उद्देश्यों में समानता एक विशेष हित को जन्म देती है। अतः व्यक्ति एक साथ अनेक हित समूहों का सदस्य हो सकता है। सरल शब्दों में हित समूह एक ही प्रकार के हित रखने वाले व्यक्तियों का एक ऐसा स्वैच्छिक अथवा गैर–सरकारी संगठन होता है जो अपने हितों को पूरा करने का प्रयास करते हैं। हित समूह के अर्थ को और स्पष्ट रूप से समझने के लिए विद्वानों द्वारा दी गयी इसकी परिभाषाओं को समझना आवश्यक है। हित समूह की परिभाषाएं निम्नलिखित हैं।

आयरन वीवर के अनुसार "हित समूह से तात्पर्य ऐच्छिक रूप से संगठित ऐसे समुदाय से है जो प्रशासकीय ढांचे से बाहर रहकर शासकीय अधिकारियों के निर्वाचन, मनोनयन तथा सार्वजनिक नीति के निर्माण एवं क्रियान्वयन को प्रभावित करने का प्रयास करता है।"

ऑमण्ड एवं पावेल के अनुसार "हित समूह से हमारा अभिप्राय व्यक्तियों के उस समूह से है जो आपस में कार्य–व्यापार तथा लाभ के बन्धनों में जुड़े हैं और जिन्हें इन बन्धनों की जानकारी भी रहती है। हित–समूह संगठित भी हो सकते हैं अर्थात समूह के सदस्य उन कार्यो को करते हैं जो हित–समूह में रहकर उन्हें करने चाहिए या यह भी हो सकता है कि व्यक्यिों में हित समूह की चेतना सामयिक और विरामी हो।"

वी. ओ. की. के अनुसार "हित–समूह ऐसे गैर–सरकारी संगठन हैं जिनका निर्माण सार्वजनिक नीति को प्रभावित करने के लिए किया जाता है। ये प्रत्याशियों के चयन तथा सरकार के व्यवस्थापन के उतरदायित्व की अपेक्षा सरकार को प्रभावित करने का प्रयत्न करके अपने हित–साधन में लगे रहते हैं।"

औडगार्ड "एक हित–समूह ऐसे लोगों का औपचारिक संगठन है जिनके एक सामान्य उद्देश्य एवं स्वार्थ हों और जो घटनाओं के क्रम को विशेष रूप से सार्वजनिक नीति के निर्माण और शासन को इसलिए प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं कि उनके अपने हितों की रक्षा और वृद्धि हो सके।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि हित–समूह समाज में पाए जाने वाले विशेष हितों के संगठन होते हैं जो अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सरकार पर ऐसी किसी भी नीति को अपनाने के लिए दबाव डालते हैं, जो उनके हित के अनुकूल हो। हित समूह राजनैतिक दल से भिन्न होते हैं क्योंकि राजनैतिक दल के समान ये समूह सत्ता (सरकार) का नियंत्रण एवं संचालन अपने हाथ में लेने के लिए व्याकुल नहीं होते। इनका उद्देश्य प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इनके हितों को प्रभावित करने वाले उन लोक नीतियों के प्रतिपादन को प्रभावित करना है। इस प्रकार के समूहों के आकार, शक्ति, धन तथा उद्देश्यों में भिन्नता होती ही है, लेकिन इनके कार्य करने का तरीका सामान्यतः एक–दूसरे के समान ही होता है। इसमें सरकारी संस्थाओं तथा लोकमत को प्रभावित करने वाली लॉबिंग, चुनावों में हस्तक्षेप तथा प्रचार इत्यादि सम्मिलित हैं। हित समूह विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका में लिए जाने वाले निर्णयों को प्रभावित करने के प्रयास करते हैं। हित–समूह एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है, जो सैद्धांतिक संकल्पना समाज के एक विशिष्ट भाग के समान उद्देश्यो एवं समान हितों की पूर्ति करने वाले सिद्धान्त पर आधारित है।

1.3 हित समूह विशेषताएं :

हित–समूह की निम्नलिखित विशेषताएं है।

1. हित–समूह के निर्माण का आधार स्वहित होता है। विशिष्ट हित की पूर्ति के उद्देश्य से ही हित समूह का गठन होता है। बिना उद्देश्य या हित के काई भी हित समूह नहीं बनते हैं।
2. हित–समूह गैर सरकारी व्यक्तियों का संगठन होता है। इनका संगठन दोनों प्रकार का होता है (1) संगठित और (2) असंगठित। जैसे भारत असंगठित श्रमिकों का संगठन भी है तथा संगठित श्रम संगठन के रूप में विभिन्न श्रम संघ पाए जाते हैं।
3. हित–समूह की सदस्यता ऐच्छिक है। एक प्रकार के हित के लोग किसी 'हित–समूह' विशेष में शामिल अवश्य होते हैं, परन्तु यह सदस्यता अनिवार्य न होकर ऐच्छिक है।
4. हित–समूह अस्थायी संगठन होते हैं। यह संगठन स्थायी नहीं होते। राज्य या समाज के अंतर्गत नए–नए हित समूहों का उदय होता रहता है और पुराने हित–समूह समाप्त होते रहते हैं।
5. हित समूहों का संगठन औपचारिक होता है। अर्थात् इन समूहों के अपने नियम, सदस्यता शुल्क तथा कार्यकारिणी आदि होते हैं। औपचारिक संगठन के अभाव में वह कार्य कर ही नहीं सकते जिन्हें करने से समूह के सदस्यों का हित पूरा होता है।
6. हित समूह अपने हितों की पूर्ति के लिए शासन की नीतियों को अपने पक्ष में कराने का प्रयत्न करते हैं तथा ऐसा करने के लिए सरकार पर दबाव बनाते हैं। अर्थात सरकारी नीतियों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं।
7. हित समूह सभी प्रकार की राजनैतिक व्यवस्था वाले समाजों में कम या अधिक मात्रा में क्रियाशील होते हैं। चाहे राजतंत्र हो या लोकतंत्र अथवा सर्वाधिकारी शासन प्रणाली एवं स्वेच्छाचारी शासन व्यवस्था हो, हर राजनैतिक व्यवस्थाओं में हित समूह पाए जाते हैं।
8. हित समूह राजनैतिक दल नहीं होते, लेकिन अपने हित को देखते हुए किसी न किसी राजनैतिक दल से अपना संबंध स्थापित कर लेते हैं।

1.4 हित समूह के प्रकार

प्रत्येक देश काल और परिस्थितियों में हित समूह पाए जाते हैं। हित–समूहों के लक्ष्य, प्रकृति, उनके कार्यक्षेत्र आदि के आधार पर इन्हें कई वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। यहां हम कुछ प्रमुख विद्वानों के द्वारा प्रस्तुत हित–समूह के प्रकारों को प्रस्तुत करेंगे जो निम्नलिखित हैं–

कार्ल फ्रैड्रिक ने हित–समूहों को निम्नलिखित दो प्रकारों में विभाजित किया है –

1) सामान्य हित

(2) विशिष्ट हित

सामान्य हितों को ही आधार मानकर चलने वाले समूह प्रथम श्रेणी में आते हैं और विशिष्ट हित की पूर्ति के लिए अपना कार्य संचालन करने वाले समूह द्वितीय प्रकार की श्रेणी में आते हैं।

ऑमण्ड तथा पावेल का वर्गीकरण

ऑमण्ड ने हित समूहों को निम्न चार श्रेणियों में वर्गीकृत किया है–

(1) संस्थागत हित–समूह (Institutional Interest group)

(2) प्रदर्शनात्मक हित–समूह (Anomic Interest Groups)

(3) संयोजित हित–समूह (Associatinal Interest Group)

(4) असंयोजित हित–समूह (Non &Associational Interest Group)

ऑमण्ड तथा पावेल का वर्गीकरण

ऑमण्ड ने हित समूहों को निम्न चार श्रेणियों में वर्गीकृत किया है–

(1) संस्थागत हित–समूह (Institutional Interest Groups) – संस्थागत हित–समूह, जैसा कि इसके नाम से विदित है ये किसी न किसी संस्थाओं या निगमों के अन्तर्गत रहते हुए कार्य करते हैं। ये हित समूह

राजनैतिक दलों या अन्य संगठनों के अन्तर्गत समूह के रूप में कार्यशील रहते हैं। ऐसे समूह विधायिकाओं, लोक प्रशासकीय संगठनों, सेनाओं तथा व्यापारिक एवं सरकारी निगमों में अवस्थित हैं। ये समूह ज्यादा सुदृढ़ व संगठित होते हैं। ये अपने हितों के साथ–साथ उन संस्थाओं के हितों को व्यक्त करते हैं जिनमें ये अवस्थित होते हैं। इसके अलावा ये समूह अपने मूल समूहों द्वारा घोषित हितों की पूर्ति का ही कार्य करते हैं तथा अपने ऊपर सौंपे गए उतरदायित्व का ये बखूबी निर्वाह करते हैं।

(2) प्रर्दशनात्मक या उद्दंड हित–समूह (Anomic Interest Groups) – **ऑमण्ड तथा पावेल** ने दूसरे प्रकार के हित–समूह को उग्रात्मक या आन्दोलनों में भाग लेने वाले समूह के रूप में वर्गीकृत किया है। ये समूह प्रदर्शनों, आन्दोलनों, जुलूसों आदि के रूप में प्रकट होकर सहसा ही अपने प्रभाव का विस्तार करते हैं। इन समूहों की कार्यप्रणाली नियोजित ढंग की नहीं होती तथा इनका रूप प्रायः अस्त–व्यस्तता का होता है। अपने उग्र रूप में ये समूह प्रायः सीमाओं का उल्लंघन कर देते हैं और कभी–कभी वे स्वयं कानून निर्माण एवं उसके पालन कराये जाने का कार्य अपने हाथों में ले लेते हैं। फ्रांस, इटली, अरब के देशों तथा लैटिन अमेरिका आदि देशों में ये हित समूह अधिक प्रभावशाली हैं। उद्दंड हित–समूहों की प्रकृति अस्थायी एवं असंगठित होती है तथा आवश्यकता एवं परिस्थिति के अनुसार इनका संगठन अस्थायी रूप से हो जाता है। जिन लोगों में नेतृत्व आदि के चमत्कारिक व्यवहार पाए जाते हैं, वे ही ऐसे समूहों के अन्दर क्रियाशील रहते हैं।

(3) संयोजित हित–समूह (Associational Interest Groups) – संयोजित हित समूहों के अन्तर्गत विशिष्ट व्यक्तियों के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले समूहों को रखा गया है। व्यापारिक संघ, उद्योगपतियों के संगठन, श्रमिक संघ, धार्मिक सम्प्रदायों द्वारा संगठित संघ आदि संयोजित हित–समूह के उदाहरण हैं। ये समूह अपने कार्य के लिए सवैतनिक कर्मचारी रखते हैं। ये समूह उन सभी देशों में पाए जाते हैं जहां कानूनी तौर पर संघ निर्माण करने को लोगों को स्वतंत्रता प्राप्त होती है। **पीटर ऑडगार्ड** को **'एंटी सैलून लीग'** सम्बंधी अध्ययन इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। इस प्रकार के हित–समूह बिना किसी दबाव के अपने सदस्यों को भर्ती करते हैं तथा उनके हितों की सुरक्षा और सम्पादन के लिए सरकार एवं सरकार से सम्बद्ध संस्थाओं को प्रभावित करने और उन पर दबाव डालने का प्रयास करते हैं। आधुनिक समाजों में ऐसे हित समूहों का अधिक महत्व होता है।

(4) असंयोजित हित–समूह (Non-Associational Groups) – इस प्रकार के हित समूहों की कोई औपचारिक संरचना नहीं होती है। ये अपने हितों की पूर्ति के लिए शासन की नीतियों पर अप्रत्यक्ष प्रभाव डालते हैं। ऐसे अनौपचारिक हित–समूहों में न तो हित–स्पष्टीकरण की कोई व्यवस्थित प्रक्रिया होती है, न उनकी प्रकृति और साधन ही निश्चित होते हैं और न इन समूहों की आन्तरिक संरचना में कोई निरन्तरता रहती है। ये हित–समूह परम्परागत धरातल पर आधारित होते हैं जिनमें वर्ग, रक्त सम्बन्ध, धर्म या मेल–मिलाप या संचार के परम्परागत आधार पर सम्मिलित रहते हैं। अर्थात् वंशीय समूह, सजातीय समूह, धार्मिक समूह, नातेदारी, क्षेत्रीय समूह, परिस्थिति समूह आदि असंयोजित हित–समूह के उदाहरण कहे जाते हैं। इस प्रकार के हित–समूहों को कार्य करने की कोई संगठित कार्य–प्रणाली नहीं होती है।

1.5 हित–समूह की तकनीकें / कार्यशैली (MeansAnd Methods of Pressure Groups)

विश्व के प्रत्येक हित–समूहों के अपने–अपने उद्देश्य प्राप्त करने और कार्य करने के तरीके होते हैं। इन तरीकों व साधनों को नीचे प्रस्तुत किया गया है–

(1) संगठन (Organisation) – विश्व के प्रत्येक हित–समूहों का अस्तित्व इसलिए है कि उनका निर्माण सदस्यों के संगठन पर आधारित होता है। संगठन में ही शक्ति होती है। इन्हीं संगठनों के माध्यम से विभिन्न हित समूहों को शक्ति प्राप्त होती है। हालांकि विभिन्न देशों में असंगठित हित समूहों के भी उदाहरण मिलते हैं। कहने का आशय यह है कि हित समूहों का सुदृढ़ संगठन ही उनके प्रभावों को बढ़ाते हैं तथा बड़े लक्ष्यों को प्राप्त करने की उन्हें सफलता मिलती है।

(2) प्रकोष्ठ क्रिया (Lobbying) – हित समूहों के कार्य करने का सबसे सुपरिचित तरीका 'लॉबिइंग' है। अमेरिका में यह काफी लोकप्रिय होता जा रहा है। वहां प्रत्येक व्यवस्थापिका सदन के साथ लगे हुए कमरे के बरामदे लाबी व प्रकोष्ठ कहे जाते हैं। वहां विधायक अवकाश के समय आकर बैठते हैं और वहां हित समूहों के प्रतिनिधि उनसे अपने सम्पर्क स्थापित करते हैं। अधिकांश हित समूह अपने वैधानिक प्रतिनिधियों द्वारा 'लॉबिइंग' का काम करते हैं।

(3) सामूहिक प्रचार (Mass Propoganda) – अपने हितों व लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न हित समूहों द्वारा सामूहिक प्रचार–प्रसार का कार्य किया जाता है। इसके लिए विभिन्न तरीकों को अपनाया जाता है।

(4) पत्र–पत्रिकाएं (PaperAnd Magazines) – हित समूह अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विभिन्न प्रकार के पत्र–पत्रिकाओं का प्रकाशन करते हैं। ये पत्रिकाएं, मासिक, पाक्षिक व वार्षिक हो सकती हैं। इनमें हित समूह, अपने संगठन व कार्यक्रमों को जनता के समक्ष प्रस्तुत कर एक ओर अपने पक्ष में जन समर्थन या जनमत तैयार करते हैं। दूसरी ओर शासन की नीतियों की खामियों को भी जनता के सम्मुख प्रकाशित करते हैं। परिणामस्वरूप सरकार को अपने हितों के अनुकूल नीतियां बनाने के लिए बाध्य करते हैं।

(5) राजनैतिक दलों के अन्दर क्रियाशील रहना (Working inside Political Parties) – प्रायः संगठित हित समूह किसी न किसी राजनैतिक दलों से 'सांठ–गांठ' रखते हैं और ये समूह अपने हित–साधन के लिए इन राजनैतिक दलों को बाखूबी फायदा उठाते हैं तथा अपने कार्यों को अंजाम देते हैं। वर्तमान में हित समूहों को राजनैतिक दलों का संरक्षण प्राप्त होता 'ा है।

(6) चुनाव में भाग लेना (Electioneering) – हित समूहों का चुनाव से सम्बन्ध नहीं होता और न ही ये अपना प्रत्याशी ही खड़ा करते हैं किन्तु ये किसी भी राजनैतिक दल को अपना समर्थन देने के पक्ष में सदैव रहते हैं। ये हित समूह इन दलों के चुनाव में धन, बल तथा कानून शक्ति की मदद करते रहते हैं और बदले में अपने हितों को पूरा कराने का इन दलों से आश्वासन प्राप्त करते रहते हैं। भारत में अखिल भारतीय श्रमिक संघ (A.I.T.U.C) समाजवादी दलों से तथा भारतीय राष्ट्रीय श्रमिक संघ (I.N.T.U.C) से सम्बद्ध हैं। भारतीय मजदूर संघ भारतीय जनता पार्टी से सम्बन्धित हित समूह हैं।

(7) हड़ताल तथा प्रदर्शन (Strike & Demonstration) – हित समूह अपने हित की रक्षा के लिए हड़ताल व प्रदर्शन आदि साधनों को अपनाते हैं। बहुधा श्रमिक संघ औद्योगिक कार्यों में संलग्न कर्मचारी की मांगों के समर्थन में हड़ताल आदि कराते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य हित समूह इस साधन का प्रयोग सामान्यतः राजनैतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए ही करते हैं। इसके साथ ही वे सरकार पर दबाव डालने के लिए कभी–कभी प्रदर्शनों का भी आयोजन करते हैं। वर्तमान में हड़ताल व प्रदर्शनकारी हित समूहों की संख्या में वृद्धि हुई है।

(8) अहिंसक सविनय अवज्ञा (Non-violent Civil Disobedience)- अहिंसात्मक सविनय अवज्ञा आंदोलन भी हित–समूहों का एक साधन होता है। महात्मा गांधी ने इस साधन का प्रयोग करके ही देश को आजादी दिलाई थी। अमेरिका में नीग्रो आंदोलन का एक साधन अहिंसात्मक अवज्ञा आन्दोलन रहा है। भारत के हित समूहों द्वारा इसका प्रयोग बहुतायत रूप में किया जाता है। इसी के परिणामस्वरूप यहां कई जन–कल्याण की योजनाएं खटाई में पड़ जाती हैं। सामाजिक कार्यकर्ता मेधा पाटकर और सुन्दरलाल बहुगुणा का बांध निर्माण के संबंध में आन्दोलन इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

(9) न्यायालयों द्वारा दबाव (Pressure through the Courts) – आज हित समूह अपने हित के लिए न्यायालयों का सहारा लेने लगे हैं। जनहित याचिका का सहारा लेकर जरा–सी बात को लेकर आए दिन शासन के किसी कार्य को न्यायालय में चुनौती देना इनका पेशा बन गया है। ये हित समूह ऐसे नियमों का विरोध करते है जो उनके हितों के विपरीत होते हैं। उदाहरण के लिए, आरक्षण वृद्धि के लिए, आदिवासियों या अल्पसंख्यकों द्वारा न्यायालय की शरण में जाना।

(10) गोष्ठियां आयोजित करना (To Organise Conferences)– अनेक हित समूह विभिन्न प्रकार की गोष्ठियों का आयोजन करके जन सामान्य तक शासन विरोधी बातों को पहुंचाते हैं जिसके परिणामस्वरूप जनमत इनके पक्ष में होता है तथा गोष्ठियों भाषणों, वाद–विवाद एवं वार्ताओं के माध्यम से ये शासन को अपने हित पूर्ति के लिए बाध्य करने को मजबूर करते हैं।

(11) आकड़ों को प्रकाशित करना (Data Publication) – नीति–निर्माताओं के समक्ष ये हित समूह शासन संबंधी विश्वसनीय आंकड़ों को एकत्रित कर शासन को उनसे अवगत कराते हैं तथा ऐसे आंकड़ों को समाचार पत्रों या अन्य माध्यमों से प्रकाशित कर अपना पक्ष मजबूत करते हैं। शासन इन आंकड़ों के प्रकाशनों को गम्भीरता से सोचता है और इन समूहों के हितों का ख्याल रखने का प्रयास करता है।

1.6 हित समूह और लोक नीति

इकाई के इस भाग में हम लोकनीति और हित समूहों के बीच संबंध का अध्ययन करेंगे तथा यह समझने का प्रयास करेंगे कि किस प्रकार हित समूह, नीति–निर्माण करने वाली संस्थाओं, अभिकरणों और संगठनो को प्रभावित कर अपने उद्देश्यो की पूर्ति का प्रयत्न करते हैं।

हित समूहों के संगठन और अस्तित्व के मुख्य कारकों में उस देश की सामाजिक–आर्थिक व राजनैतिक संरचना की प्रकृति पर निर्भर करता है। क्योंकि सामाजिक–आर्थिक व राजनैतिक संरचना के अनुरूप हितों के

उद्‌भव के फलस्वरूप हित समूहों की संरचना, प्रकृति निर्भर करती है। **टॉमस. आर. डाई** के अनुसार "आधुनिक शहरी संस्थागत समाजों में विभिन्न हित, समूहों का बाहुल्य है। इनकी विविधता तथा बहुलता के कारण ऐसी संभावना का जन्म ही नहीं हो पाता कि कोई एक हित समूह समस्त क्षेत्रों में नीति निर्माण को निर्धारित कर सके। इसके विपरीत गरीब, ग्रामीण तथा कृषि–समाजों में कम हित समूह उत्पन्न होते हैं लेकिन अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं मे इन हित समूहों के पास नीति निर्माण को प्रभावित करने के अधिक अवसर होते है।" लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि विकासशील या अल्पविकसित देशों में इनका महत्व कम होता है। किसी भी प्रकार के शासन–व्यवस्था वाला देश कोई भी हो, चाहे वहां लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था हो या अधिनायकवादी शासन हो, हित समूह सभी शासन व्यवस्था वाले समाज में पाये जाते हैं। यद्यपि इनकी भूमिका विभिन्न शासन–व्यवस्था में भिन्न– भिन्न, कम या ज्यादा हो सकती है। अधिनायकवाद शासन व्यवस्था में हित समूह उतनी प्रभावशाली भूमिका का निर्वहन लोकनीति के क्षेत्र में नहीं निभा पाते, क्योंकि अभिनायकवादी शासन व्यवस्था में अधिनायक का निर्णय अन्तिम होता है, जिस पर कोई प्रश्न नहीं उठाये जा सकते हैं।

सर्वाधिकार, अधिनायकतंत्र अथवा लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था की प्रकृति कैसी भी हो, लोक नीति में हित समूहों की भूमिका को कम नहीं किया जा सकता। इन हित समूहों के प्रयास सीमित मूल्यों, उद्देश्यों तथा लक्ष्यों की और निर्दिष्ट होते हैं। अपने हित का समर्थन करने या पूरा करने के लिए ये समूह नीति निर्माताओं को आंकड़े संग्रहीत करने के बाद उपलब्ध कराते है। इन समूहों द्वारा उपलब्ध कराये गये सूचना या आंकड़ों से नीति–निर्माता सन्तुष्ट होते हैं तो इस विषय पर नीति बनाने के लिए आवश्यक कदम उठाते हैं। विकासशील देशों के अन्य देशों के समान भारत में भी सामाजिक एवं आर्थिक विकास में सरकार एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। अतः स्वभाविक है कि विकास लक्ष्यों एवं प्राथमिकताओं का निर्धारण करने में लोक नीति व्यापक रूप से प्रभावित होती है।

हित समूह नीतियों का निर्माण करने वाली संस्थाओं, संगठनों और अभिकरणों और नीति निर्माताओं को प्रभावित कर अपने हितों के अनुरूप निर्माण करवाने के लिए सक्रिय होते है अथवा वे समूह नीति निर्माताओं पर ऐसी नीतियां बनाने के लिए दबाव डालते हैं जिसमें उन्हें अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके। हित समूह के सदस्य नीति–निर्माण की किसी भी संस्था, संगठन और अभिकरण के सदस्य नहीं होते हैं और ना ही वे किसी राजनैतिक दल के सदस्य होते हैं। हित समूह बाहर से अपने हितों के अनुरूप हितों की पूर्ति के लिए अपने पक्ष में नीतियों के निर्माण हेतु प्रभावित करते हैं।

हित समूह औपचारिक ढांचों वाले संगठन हैं जिनमें सदस्य एक सामान्य हित में सहभागी होते हैं। वे राजनैतिक महत्व के पद प्राप्त करने का प्रयास किए बिना, सरकार के निर्णयों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। वे व्यक्तिगत रूप से नागरिकों तथा नीति निर्धारकों के मध्य सेतु का काम करते हैं। व्यक्तिगत रूप से नागरिकों के लिए हित समूह संचार व शक्ति के सबसे महत्वपूर्ण साधन हैं। वे नागरिकों के समूहों को अपनी आशाएं एवं आकांक्षाएं लोक अधिकारियों तक संप्रेषित करने में सहायक होते और इस उद्देश्य से नीति निर्माण के व्यापक पक्षों तथा प्रविधियों में उन्हें विशेषज्ञता और कार्मिक तंत्र प्रदान करते हैं। नीति निर्माताओं के लिए हित समूह विशेषज्ञता और राजनीतिक समर्थन प्रदान करने के साथ–साथ किसी सामान्य हित से जुड़े नागरिक समुदाय के एक बड़े अंश के दृष्टिकोण की प्रखरता को सामने लाता है। बदले में हित समूह नीति निर्माताओं पर प्रभाव डालने में सक्षम हो पाते हैं।

इस प्रकार समान हितों पर आधारित हित समूह से तात्पर्य ऐसे संगठनों से है जो राजनैतिक प्रक्रिया में प्रत्यक्ष भागीदारी के बिना अप्रत्यक्ष रूप से राजनैतिक प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। नीति निर्माण में इन समूहों की काफी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। ये समूह नीति को अपनी–अपनी शक्ति और प्रभाव के अनुरूप प्रभावित करते हैं। जो हित समूह जितना ताकतवर होगा उसकी राजनैतिक हैसियत उतनी ही अधिक होगी और उसी मात्रा में नीति को प्रभावित करने की उसकी क्षमता भी होगी।

समान हितों पर आधारित कई प्रकार के हित समूह हो सकते हैं। जैसे भारत में किसानों के हितों पर आधारित समूह हैं जो अपने हितों अर्थात किसानों के हितों की सिद्धि के लिए कार्य करते हैं। व्यापारियों व उद्योगपतियों के हितों के समान हित पर आधारित हित समूह भी होते हैं। वर्तमान में उपभोक्ताओं के हितों के आधार पर भी संगठित हित समूह दिखाई दे रहे हैं जिनके प्रयासों और अन्य कारकों के सम्मिलित प्रभाव से भारत में उपभोक्ता संरक्षण कानून भी बना और उसके आधार पर उपभोक्ताओं के हितों के संरक्षण हो रहा है। इन समूहों का प्रमुख लक्ष्य होता है लोकनीति को प्रभावित करना। अर्थात लोकनीति को अपने हितों के अनुरूप ढालने का प्रयास करना जिससे उनके अपने हितों की भी पूर्ति हो सके।

बहुत से देशो में हित समूहों एवं राजनीतिक दलों के बीच निकट सम्बन्ध होता है। उदाहरण के लिए फ्रांस में हित समूहों तथा राजनीतिक दलों के बीच बड़ा ही निकट संबंध है। ब्रिटेन में लेबर पार्टी का उदय ब्रिटिश

ट्रेड यूनियन आन्दोलन से ही हुआ तथा आज भी वह इस आन्दोलन से निकट रूप से सम्बन्धित है।

लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था में बहुमत की प्राप्ति के लिए समाज के अधिकांश समूहों का सहयोग आवश्यक होता है। इसलिए लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों और हित समूहों में सम्बन्ध दिखाई देते हैं। यह परस्पर निर्भरता का संबंध हो जाता है क्योंकि बहुमत की प्राप्ति के लिए राजनीतिक दलों को हित समूहों के माध्यम से भी जन समर्थन की आवश्यकता होती है, जबकि हित समूहों को अपने हितों को नीति में शामिल करने के लिए राजनीतिक दलों पर भी निर्भर होना पड़ता है। क्योंकि राजनीतिक दलों के माध्यम से अपने हितों को उनके चुनाव घोषणापत्र में शामिल करवाने और जब वह राजनीतिक दल सता में आ जाए तो फिर उसे नीति के रूप में अपनाने हेतु प्रभावित करते हैं।

उपरोक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि हित समूह व लोकनीति में अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध है। हित समूह प्रत्यक्ष रूप से राजनीति में भागीदारी किये बिना किस प्रकार से नीति–निर्माण करने वाली संस्थाओं को प्रभावित कर अपने हितों की सिद्धि करते हैं।

1.7 हित समूह और नीति–निर्माण

हित समूहों का नीति निर्माण में महत्वपूर्ण स्थान है। यह प्रत्येक राजनैतिक, व्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वर्तमान युग प्रतियोगिता का युग है और हित समूह अपने सामने आने वाले विषयों को गंभीरतापूर्वक लेते हैं। अपनी निर्दिष्ट दिशा में सतत प्रयत्न करते रहते हैं। एक हित समूह केवल अपने समूह सदस्यों के हितों की पूर्ति के लिए ही प्रत्यनशील नहीं होते हैं वरन वे अपने हितों से समानता रखने वाले समूहों के हितों की पूर्ति के लिए भी प्रयत्नशील रहते हैं। हित समूहों का प्राथमिक उद्देश्य इन लोक नीतियों के प्रतिपादन को प्रभावित करना होता है जो कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इनके हितों को प्रभावित करती है तथा लोक नीति निर्माण प्रक्रिया में उनके प्रभाव का स्तर उनके संगठन एवं संचालन के स्तर पर निर्भर करता है। एक हित समूह जितना अधिक संगठित होगा उतना ही अधिक वह राजनीतिक प्रक्रिया में प्रभावशाली होता है तथा नीति निर्माण को प्रभावित कर पाता है। राजव्यवस्था का स्वरूप चाहे जो भी हो– लोकतन्त्र, सर्वाधिकारवाद अथवा अधिनायकतन्त्र –लोकनीति निर्माण में हित समूहों की भूमिका को कम नहीं किया जा सकता। इन समूहों के प्रयास सीमित मूल्यों, उद्देश्यों तथा लक्ष्यों की ओर निर्दिष्ट होते हैं। अपने दृष्टिकोण का समर्थन करने के लिए यह समूह नीति निर्माताओं को आंकड़े संग्रहीत करने के पश्चात उपलब्ध कराते हैं। उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर अगर नीति निर्माता सन्तुष्ट होते हैं तो उस विषय पर नीति बनाने के लिए आवश्यक कदम उठाते हैं। उन राजनीतिक प्रक्रियाओं में जिनमें सशक्त दल व्यवस्था का अभाव होता है नीति निर्माण में हित समूहों के प्रभाव के प्रत्यक्ष नियंत्रण में होते हैं। संगठित एवं शक्तिशाली राजनीतिक दलों के अभाव में, हित समूह विधायिकाओं के मामलों मे प्रत्यक्ष एवं प्रबल भूमिका निभाते हैं क्योंकि उनके प्रभाव को कम करने वाला कोई सशक्त राजनैतिक दल नहीं होता है। इसके विपरीत ऐसी राजनीतिक व्यवस्था जिसमें दल मजबूत, सम्बद्ध तथा संगठित होते हैं, हित समूहों की संख्या और सक्रियता भी ज्यादा होने की संभावना होती है तथा ऐसी व्यवस्था में नीति निर्माण में उनका प्रभाव निष्पन्दित होता जाता है तथा दल के हित सिद्धान्तों, विचारधाराओं और कार्यक्रमों के अनुरूप रखते हुए संयत भी हो जाता है।

भारत की राजनीतिक अर्थव्यवस्था के विकास ने कई हित समूहों को जन्म दिया है तथा इनमें संगठित समूहों एवं मुख्य राजनीतिक दलों के बीच संबंधों की जटिलताओं को जन्म दिया है तथा इनमें संगठित समूहों एवं मुख्य राजनीतिक दलों को चुनाव जीतने के लिए धन तथा स्थानीय मत दोनों की आवश्यकता होती है। दोनों ही प्रयासों के लिए हित समूहों का समर्थन आवश्यक है। इस समय, यह समर्थन इसलिए भी आवश्यक हो गया है क्योंकि अधिकतर मुख्य राजनीतिक दलों के पास सक्रिय स्थानीय संगठनों का अभाव है तथा चुनाव खर्च में भारी वृद्धि हुई है। चेंबर ऑफ कॉमर्स जैसे कुछ व्यापारिक हित समूह प्रमुख राजनीतिक दलों के लिए बड़ी मात्रा में वित्त उपलब्ध कराते हैं जबकि अन्य समूह जैसे किसान सभा इत्यादि पार्टियों के लिए स्थानीय चुनावी समर्थन जुटाते हैं। बदले में ये समूह लोक नीति–निर्माण प्रक्रिया में अपना प्रभाव बनाए रखते हैं।

भारत एक लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था वाला देश है तथा भारत में संसदीय लोकतंत्रात्मक शासन व्यवस्था को अपनाया गया है, जिसमें संसद के निचले सदन में बहुमत प्राप्त राजनीतिक दल को सरकार के गठन और संचालन का अधिकार होता है। चुनाव में सरकार के गठन के लिए बहुमत की आवश्यकता होती है। बहुमत प्राप्ति के लिए देश के अधिकांश हित समूहों का समर्थन प्राप्त होना चाहिए। चूंकि भारत एक विविधतापूर्ण समाज है जहां धर्म, जाति, वंश, पंथ, भाषा एवं भौगोलिक संरचना में विविधता के साथ जुड़ी सांस्कृतिक भिन्नता पाई जाती है। इसलिए बहुमत प्राप्ति के लिए सभी राजनीतिक दल इन सभी हित समूहों के समर्थन प्राप्ति के लिए कोशिशें करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हित समूह समय व परिस्थितियों के अनुसार नीति–निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। विशेष रूप से भारत में जहां हितों का बाहुल्य है, इन समूहों की भूमिका और महत्वपूर्ण हो जाती

है।

भारतीय समाज में तो हित समूहों की बहुलता है अर्थात अलग–अलग प्रकार के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले अलग–अलग हित समूह। इस प्रकार के समाज से सहयोग की अपेक्षा अन्ततः हित समूहों से सहयोग की अपेक्षा के रूप में दिखाई देती है, जिसमें राजनीतिक व्यवस्था में हित समूहों भी महत्ता और प्रभाव में वृद्धि हो जाती है। भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में काफी परिवर्तन हुआ है तथा ये क्षेत्र तेजी से विकास कर रहे हैं। अब देश के सभी नागरिकों को समान अधिकार व समान अवसर प्राप्त है तथा कृषि व उद्योगों के क्षेत्र में काफी विकास हुआ है। इसी कृषि में विकास तथा उद्योगों के कारण नये वर्गों का उदय हुआ। इन वर्गों के हितों की रक्षा तथा हितों की पूर्ति के लिए अनेक हित समूहों का भी जन्म हुआ तथा ये समूह राजनीतिक प्रक्रिया को तथा लोक नीति प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। भारत में मुख्यतः तीन प्रमुख क्षेत्रों में संगठित समूह हैं। वे तीन निम्नलिखित हैं–

(1) किसानों के हित संबंधित

(2) औद्योगिक पूंजीपति वर्गों/उद्योगपतियों/ औद्योगिक मजदूरों से संबंधित

(3) नौकरशाही से संबंधित संघ

कृषि में हुई उन्नति के कारण ग्रामीण क्षेत्रों में नए राजनीतिक अभिजात्य वर्ग का उदय हुआ है। वहीं दूसरी ओर शहरी क्षेत्रों में भी औद्योगिक पूंजीवाद तथा नौकरशाही जैसे हित समूहों का उदय हुआ और इन समूहों ने लोक नीति–निर्माण को बहुत प्रभावित किया है। राज्य नीति प्रत्यक्ष रूप से प्रमुख वर्गों के हितों को प्रतिबिम्बित करती हुई प्रतीत होती है। प्रारम्भ के वर्षों में आर्थिक वृद्धि की प्रक्रिया में सभी मुख्य हित समूह उन्नत हुए।

नए ग्रामीण अभिजात वर्ग ने देश के कई हिस्सों में महत्वपूर्ण हित समूहों की स्थापना की है। ऐसे कई कृषि हित समूह हैं, जो पंजाब, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश और कर्नाटक में अधिक पाये जाते हैं। उत्तर प्रदेश में स्थित भारतीय किसान यूनियन, राकेश सिंह टिकैत के नेतृत्व में कार्य कर रही है और महाराष्ट्र में शरद जोशी के नेतृत्व में शतकारी संगठन कार्यशील है, जो हाल के वर्षो में एक प्रभावक शक्ति के रूप में उभरे हैं। ये राज्य स्तरीय किसान संगठन राष्ट्रीय राजनीति पर अधिक प्रभाव डालने के उद्देश्य से संयुक्त रूप से एक साथ आने का प्रयास कर रहे हैं। लेकिन ये प्रयास बहुत सफल नहीं हो पाया है। ये किसान संघ राष्ट्रीय विधायिका में तथा मुख्य राजनीतिक पार्टियों में अपना प्रभाव बढ़ाने में सफल हुए हैं।

सामान्यतः ऐसे समूह उन सम्पन्न किसानों के नियन्त्रण में हैं, जो प्रमुख प्रबल स्थानीय जातियों के सदस्य हैं। हालांकि यह गहरे राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक विभाजनों के कारण विखंडित हैं जिसमें परिणामस्वरूप स्थानीय क्षेत्रों में भी सुसंगत कार्य असम्भव हो जाता है तो भी ये सम्पन्न किसान समूह अपने समान वर्ग के हितों को प्रभावित करने वाली नीतियों का पुरजोर विरोध करते हैं जैसे अधिक कीमत पर कृषि उत्पादन की बिक्री के लिए आन्दोलन करना अथवा भूमि हदबंदी कानून में अवरोध पैदा करना।

किसानों के संगठन वर्तमान समय में अत्यधिक शक्तिशाली हो गए हैं। प्रारम्भ के वर्षो में धनी किसानों के राष्ट्रीय स्तर पर मजबूत समूह नहीं होते थे लेकिन राज्य स्तर पर लोक नीति–निर्माण को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया है। 1950–60 के दशकों में मुख्य मुद्दे भूमि–सुधार, खाद्यान्नों की अनिवार्य अधिप्राप्ति तथा कृषि भूमि तथा आय पर कर लगाना था। सम्पन्न किसानों ने एक हित समूह के रूप में इन मुद्दों पर सफलता पूर्वक दबाव डालकर केन्द्र एवं राज्य सरकारों को प्रभावित किया। उदाहरण के लिए इन्हीं दबावों के कारण ही राज्य सरकारों ने भूमि सुधारों में नर्म रुख अपनाया, जिसके परिणाम स्वरूप सम्पन्न किसानों के निहित हितों को बरकरार रखा गया तथा उनको कोई ज्यादा नुकसान नहीं पहुंचाया गया।

1960 के बाद के दशकों में मुख्य मुद्दे लागत सामग्री एवं कृषि उपज की कीमतों तथा लागतों में आर्थिक सहायता प्रदान करना था। केन्द्रीय सरकार द्वारा कृषि मांगों को ज्यादा महत्व न दिए जाने के कारण वह किसान संघों की कार्यसूची में शामिल नहीं था। अतः राज्य स्तर पर ही जरूरी प्रयास किए जाते थे ताकि राज्य सरकारें केन्द्रीय नीति–निर्माण प्रक्रिया पर दबाव डालें।

उद्योगों एवं कृषि के बीच सतत् असमान वितरण के कारण उनमें बराबर हितों का टकराव बना रहता है जिसके परिणामस्वरूप संगठित कृषि हित समूहों का उदय हुआ। वर्तमान में, सभी राजनीतिक दलों में अतिरेक उत्पादन करने वाले सम्पन्न किसानों का एक प्रकार का दबदबा पाया जाता है। इसके कारण भारत में किसानों की लॉबी काफी प्रभावशाली रूप से संचालित है। वर्तमान समय में किसानों के हित समूह काफी सक्रिय हैं, तथा समूह नीति–निर्माण में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं तथा नीति–निर्माण प्रक्रिया को प्रभावित भी करते हैं।

उदाहरण के लिए हाल में हुए किसान आन्दोलन, जो लगभग देश के सभी हिस्सों में हुआ, जिसके कारण केन्द्र सरकार को कृषि से सम्बन्धित तीन कानूनों को वापस लेना पड़ा।

औद्योगिक क्षेत्र के विकास और आर्थिक सुधार को लागू करने से नये औद्योगिक पूंजीपति अभिजात्य वर्ग का उदय हुआ। साथ ही देश में नीतियों के निर्माण मे सहायक की भूमिका निभाने वाले तथा उन नीतियों के क्रियान्वयन से प्रत्यक्ष रूप से संबंधित एक विस्तृत आकार की नौकरशाही का उद्‌भव हुआ। इन सभी ने अपने हितों की रक्षा के लिए संघ बनाए। ये संघ संगठित हित समूह हैं।

औद्योगिक पूंजीपतियों का भी एक शक्तिशाली हित समूह है। ये हित समूह अपने हितों की पूर्ति के लिए बहुत ही सक्रिय रहते हैं। औद्योगिक हित समूह विभिन्न उद्योगों, क्षेत्रों या व्यापारिक समूहों और उद्यमियों के समूह होते हैं जो संगठित रूप से एकत्रित होते हैं और इनके हित में नीतियों, कानूनों पर प्रभाव डालने का प्रयास करते हैं। ये समूह व्यवसायिक संगठन, उद्योग एवं वाणिज्य संघ., उद्योगपति संघ, व्यापारी मंडल आदि के रूप में जाने जाते हैं। यह एक शक्तिशाली व प्रभावी हित समूह है जो अपने हितों की पूर्ति के लिए सदैव सक्रिय रहते हैं। इन समूहों का मुख्य उद्देश्य अपने सदस्यों के हितों की रक्षा करना होता है।

औद्योगिक हित समूह नीति–निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं क्योंकि औद्योगिक हित समूह नीति निर्माण की प्रक्रिया में भाग लेते हैं और सरकारी निर्णयों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। उनका उद्देश्य व्यापार और उद्योग क्षेत्र के हितों की रक्षा करना होता है, जिससे उद्योग स्थायी और संतुलित रूप से विकास कर सके। इसके लिए वे सरकारी निर्णयों के समर्थन या विरोध के रूप में अपने दृष्टिकोण और समस्याओं को संबोधित करने का प्रयास करते हैं।

औद्योगिक हित समूह अपने सदस्यों की आवाज को संगठित करता है और सरकारी निर्णयकर्ताओं तक पहुंचने का प्रयास करता है, साथ ही उन्हें नीति निर्माण की प्रक्रिया में शामिल होने का मौका देता है। इस प्रक्रिया में वे संगठन भी बातचीत, नीतियों के विकास में अपने विचार और विपणन योजनाओं के माध्यम से सरकारी निर्णयकर्ताओं को प्रभावित करने की कोशिश करते हैं अर्थात् औद्योगिक हित समूह अपने सदस्यों के हितों की रक्षा के लिए संगठित प्रयास करते हैं और नीतियों में उनकी मांगों को शामिल करने के लिए तथा नीतियों और नियमों में परिवर्तन के लिए लॉबिंग करते हैं, सरकारी निकायों और निर्णयक केन्द्रों के साथ संवाद करते हैं।

प्रश्न उठता है कि औद्योगिक हित समूहों या उद्यमियों द्वारा राजनीतिक प्रक्रिया व नीति निर्माण प्रक्रिया को प्रभावित करने के लिए क्या–क्या तरीके अपनाये जाते है? इनमें एक मुख्य लोकतांत्रिक राजनीति तथा धन–बल का खेल है। चुनाव के लिए काफी धन की आवश्यकता होती है। वर्तमान समय में चुनाव में बहुत ही धन की आवश्यकता होती है और चुनाव जीतने के लिए प्रत्याशियों द्वारा काफी धन खर्च किया जाता है। अतः प्रत्याशी या राजनीतिक पार्टियां उद्योगपतियों की ओर धन के लिए देखती हैं। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पूंजीपति राजनीतिक पार्टियों को धन देती है। वर्तमान समय में चुनावी बांड को खरीद कर राजनीतिक पार्टियों को धन दिया जा रहा है। **जे. आर.डी. टाटा** ने औद्योगिक वर्ग की भूमिका को स्पष्ट करते हुए कहा था "हमने बहुत वर्षो तक अपने को खेल में मोहरे की तरह इस्तेमाल होने दिया और हर चुनाव के समय भारी कीमत चुकानी पड़ी है, या तो डर के कारण या झूठी आशाओं के कारण पिछले कई वर्षों में देश में हुई भ्रष्टाचार की वृद्धि का कारण शायद व्यापार और उद्योगों का राजनीति के लिए की गई मांगों के आगे बराबर झुक जाना है।" इस सबके बदले में व्यापारी वर्ग को लेकर उदार नीति तथा आर्थिक सहायता के रूप में तथा सरकार द्वारा समय पर बनाई गई नीतियों के रूप में बहुत से लाभ मिलते हैं। राजनीतिक तथा प्रशासनिक निर्णय कर्ताओं को निर्णायक रूप से प्रभावित करने के लिए प्रभावी लॉबी के रूप में कार्य करने वाले वर्गों का शक्तिशाली संगठन होता है। **भारतीय व्यापार तथा उद्योग प्रकोष्ठ संघ (The Federation of India Chamber of Commerce Industry)**ने लोक नीति–निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

हाल के वर्षों में लोकनीति को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करने वाला यह हित समूह और भी ज्यादा प्रसारित तथा संगठित हुआ है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा औद्योगिक पूंजीवाद, दोनों के दबावों के फलस्वरूप नियंत्रण में कमी करने के लिए बहुत से आर्थिक सुधार लागू किये गये। उनका उद्देश्य भारतीय अर्थव्यवस्था को नौकरशाही के अनावश्यक नियन्त्रण के जाल से बाहर लाना है। इनमें प्रयास से औद्योगिक क्षेत्र में सरकार द्वारा बहुत से सुधार किये गये, जैसे लाइसेसिंग राज प्रणाली की समाप्ति, आर्थिक उदारीकरण व नव लोक प्रबन्धन को अपनाना आदि।

एक महत्वपूर्ण हित समूह, संगठित औद्योगिक श्रमिकों (मजदूर संघों) का भी है। लेकिन मजदूर संघ सामान्यतः श्रम नीति के निर्माण में सकारात्मक तथा प्रभावी भूमिका नहीं निभाते हैं। उनकी भूमिका आलोचना करने तथा नीति का विरोध करने तक ही सीमित रही है न कि नीतियों का सूत्रपात करने अथवा मौजूदा नीतियों को

प्रभावित करने की है।

लोक नौकरशाही भी एक महत्वपूर्ण हित समूह है जो अपने सदस्यों के हितों की पूर्ति के लिए लिए कार्य करता है तथा नीति–निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। भारत में नौकरशाही की संरचना बहुत विशाल है। इसकी विशालता के प्रमुख कारण एक तो देश की विशालता और बहुत वृहत्त कार्यक्षेत्र तथा संघ और राज्य दोनों स्तर पर प्रशासनिक ढांचे का पाया जाना। इस द्विस्तरीय नौकरशाही में अपने हितों की रक्षा के लिए बड़े ही संगठित तरीके से हित समूह बना रखे हैं। ये काफी हद तक अपने हितों की पूर्ति में सफल भी हैं, क्योंकि ये समूह नीति निर्माण में सहयोगी की भूमिका में हैं और नीति के क्रियान्वयन में यह प्रत्यक्ष भूमिका निभाते हैं। भारत में परम्परागत रूप से मुख्य धारा से वंचित वर्गों ने भी अपने हितों को संगठित करने में सफलता प्राप्त की है। ऐसा इसलिए सम्भव हुआ है क्योंकि भारत एक लोकतांत्रिक देश है, जिसमें बहुमत की जरूरत होती है।

1.8 हित समूह एवं राज्य की प्रकृति

हित समूह और नीति–निर्माण इकाई के अध्ययन के इस भाग में हम राज्य की प्रकृति के विभिन्न प्रकारों के साथ हित समूहों के स्वरूप का अध्ययन करेंगे। वर्तमान समय में पूरे विश्व में मुख्यतः दो प्रकार के शासन व्यवस्थाएं प्रचलित हैं, लोकतांत्रिक और अधिनायकवादी।

लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था का अर्थ है जनता का शासन। लोकतंत्र में सरकार का गठन जनता के द्वारा किया जाता है क्योंकि जनता के मत के आधार पर ही बहुमत प्राप्त राजनीतिक दल को सरकार के गठन और संचालन का अधिकार होता है। लोकतंत्र में जनता, जो मतदाता होती है उनके विभिन्न हित होते हैं और उन हितों के आधार पर समान हित वाले हित समूह का निर्माण करते है जो उनके मतदान व्यवहार को प्रभावित करता है। चुनाव के समय ये हित समूह किस राजनीतिक पार्टी को अपना मत देंगे, वह इस बात पर निर्भर करता है कि कोई राजनीतिक दल किस स्तर तक उनके हितों को महत्व देता है तथा अपने घोषणा पत्र में शामिल करता है और सरकार के गठन के बाद उसका क्रियान्वयन भी किस स्तर तक करता है। इसलिए लोकतांत्रिक देशों में हित समूह अलग–अलग समय पर अलग–अलग दलों को अपना समर्थन देते हैं। इसलिए किसी भी लोकतांत्रिक शासन में यह संभव नहीं है कि वह हित समूहों की मांगों को लम्बे समय तक नजरअंदाज कर सकें, क्योंकि शासन या सत्ता की कुंजी जनता के पास होती है तथा व्यक्ति एक साथ एक से अधिक हित समूहों का सदस्य होता है। जबकि अलोकतांत्रिक या अधिनायकवादी शासन व्यवस्था में जनता के पास स्वतंत्रता, समानता का अधिकार नहीं होता है तथा सरकार के गठन में जनता की कोई भूमिका नहीं होती है तथा अधिनायक सरकार में कोई निर्णायक स्थिति में जनता नहीं होती वरन् वह सरकार के अधीन होती है। इसलिए इस शासन व्यवस्था में हित समूहों की प्रभावशाली सक्रियता नहीं दिखाई देती है।

हित समूह और राज्य की प्रकृति के बीच संबंधों की सही व्याख्या करने के लिए इसमें एक और पक्ष को शामिल करना जरूरी है, वह है संगठित हित समूह और असंगठित हित समूह। संगठित हित समूह जैसे औद्योगिक पूंजीपतियों के हित समूह, संपन्न किसानों के हित समूह तथा नौकरशाही वर्ग का हित समूह आदि आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न तथा राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय होते हैं, इसलिए वे सरकार की संस्थाओं, संगठनों तथा उसके विभिन्न अभिकरणों पर अपने हितों की पूर्ति के लिए प्रभावशाली दबाव बनाने में सफल भी होते हैं तथा नीति–निर्माण प्रक्रिया को प्रभावित भी करते हैं। दूसरी तरफ असंगठित हित समूह जैसे श्रमिक, खेतिहर मजदूर आर्थिक दृष्टि से कमजोर तथा राजनीतिक दृष्टि से उतने सक्रिय नहीं होते हैं जितने संगठित हित समूह होते हैं। इसलिए कोई भी लोकतांत्रिक व्यवस्था वाला देश इन असंगठित हित समूहों के सामान्य हितों को लंबे समय तक नजरअंदाज नहीं कर सकता क्योंकि सरकार को सत्ता में बने रहने के लिए उनके मत व सहयोग की आवश्यकता होती है। भारत में परम्परागत रूप से मुख्य धारा से वंचित वर्गों ने भी अपने हितों को संगठित करने में सफलता प्राप्त की है। ऐसा इसलिए सम्भव हुआ है क्योंकि भारत एक लोकतांत्रिक देश है, जिसे बहुमत की जरूरत होती है।

1.9 सारांश

इस इकाई में हमने हित–समूह के अर्थ, प्रकृति तथा इसके प्रकार का अध्ययन किया गया है। इसके साथ हमने यह भी अध्ययन किया कि नीति–निर्माण प्रक्रिया में हित–समूह की क्या भूमिका होती है तथा हित–समूह नीति–निर्माण को किस प्रकार प्रभावित करते हैं और कौन–कौन सी विधि अपनाते हैं। और हमने राज्य की प्रकृति के विभिन्न प्रकारों के साथ हित–समूहों के स्वरूप का भी अध्ययन किया। अध्ययन में यह पाया गया कि जनतांत्रिक शासन व्यवस्था वाले राज्य में हित–समूह ज्यादा संगठित और सक्रिय होते हैं। तथा यदि हित–समूह संगठित हैं तो वह नीति–निर्माण करने वाली संस्थाओं, संगठनों और अभिकरणों को अपने हितों के अनुरूप नीति–निर्माण के लिए सफलतापूर्वक प्रभावित करते हैं। जैसे औद्योगिक हितों से सम्बन्धित हित–समूह और बड़े किसानों से सम्बन्धित

हित–समूह। औद्योगिक हित–समूह बहुत ही प्रभावशाली होते हैं क्योंकि लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में चुनाव में ये राजनीतिक दलों को चंदे के रूप में आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं, जिससे सरकार के गठन के बाद राजनीतिक दल उनके हितों के अनुरूप नीतियों का निर्माण करते हैं।

1.10 अभ्यास के प्रश्न

1. हित–समूह से आप क्या समझते हैं? इनके प्रकारों को बताइए?
2. हित–समूह की प्रकृति व विशेषताओं का वर्णन करें।
3. नीति–निर्माण में हित–समूह की भूमिका की विवेचना कीजिए।
4. हित–समूह और लोक नीति में क्या सम्बन्ध है? वर्णन कीजिए।
5. हित–समूह के साधन व तरीकों का उल्लेख कीजिए।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. राजनैतिक समाज शास्त्र, डॉ0 डी. एस. बघेल व डॉ0 डी. पी. सिंह
2. तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएं, सी. बी. जेनर
3. तुलनात्मक राजनीति, जे. सी. जौहरी
4. प्रशासन एवं लोकनीति, मनोज सिन्हा
5. लोक नीति, आर. के. सप्रू
6. ईपीए–06 लोकनीति निर्माण मुख्य निर्धारक, बुकलेट–4 इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
7. वी0 ए0 पी0 ए0– 301 हित समूह एवं नीति निर्माण, इकाई 2 उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
8. लोक प्रशासन, डॉ0 वी. एल. फाड़िया

इकाई 02 जनसंचार माध्यम

इकाई की रूप रेखा

2.1 उद्देश्य

2.2 परिचय

2.3 जनसंचार माध्यम का अर्थ

2.4 जन संचार माध्यम एवं नियोजित परिवर्तन

2.5 नीतियों को प्रभावित करने में जनसंचार माध्यम की भूमिका

2.5.1 सूचनात्मक भूमिका

2.5.2 अभिमुखीकरण भूमिका/जागरूकता/दिशा निर्धारण भूमिका

2.5.3 सलाहकारी भूमिका

2.6 जनसंचार माध्यम एवं जनमत

2.7 जनसंचार माध्यम के लिए उचित नियमन की आवश्यकता

2.8 सारांश

2.9 अभ्यास के कुछ प्रश्न

कुछ उपयोगी पुस्तकें

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप निम्नलिखित तथ्यों को समझ सकेंगें:

- जन संचार माध्यम के अर्थ एवं महत्व को समझ सकेंगे।
- नीतियों के निर्धारण में जनसंचार माध्यम की भूमिका को समझ सकेंगे।
- नियोजित परिवर्तन में जनसंचार माध्यमों की भूमिका का वर्णन कर सकेंगे।
- लोक नीतियों को प्रभावित करने में जनसंचार माध्यमों की भूमिका की व्याख्या कर सकेंगे।
- जनसंचार माध्यम का जनता एवं जनमत पर पड़ने वाले प्रभाव का विश्लेषण कर सकेंगे।
- जनसंचार माध्यम के उचित नियमन की आवश्यकता को समझ सकेंगे।

2.1 परिचय

एक स्वस्थ व मजबूत लोकतांत्रिक देश व समाज की प्रगति के लिए जनसंचार माध्यम आवश्यक हैं। जनसंचार माध्यम जैसे समाचार–पत्र, पत्रिकाएं, रेडियो, फिल्में, तथा टेलीविजन एक जगह से अधिकांश जनता तक संचरण को सरल बनाते हैं। लोक नीति को प्रभावित करने, जनचेतना बढ़ाने तथा समाज में परिवर्तन लाने वाले साधन के रूप में जनसंचार माध्यमों की भूमिका कई प्रकार से उपयोगी हैं। जनसंचार माध्यम समाज के विभिन्न वर्गों तथा समूहों की वास्तविक जनजीवन की समस्याओं, आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं को प्रतिबिम्बित करते हैं। यह जानकारी नीति–निर्माण के लिए मूल्यवान निवेश प्रदान करती है।

सूचनाओं का आदान–प्रदान देश और समाज के लोगों के विकास के लिए आवश्यक है। सूचनाओं, विचारों और भावनाओं को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक साझा करना सामाजिक परिवर्तन एवं नीतियों के निर्धारण हेतु एक आवश्यक कारक है। सूचनाओं का आदान प्रदान व्यक्ति कभी अकेला करता है तो कभी सामूहिक प्रयास के द्वारा होता है। इसमें अनेक माध्यमों का प्रयोग किया जाता है जैसे अन्तर्वैयक्तिक संचार, समूह संचार तथा जनसंचार आदि। सूचना और प्रौद्योगिकी के विकास के कारण आज जनसंचार माध्यमों का विकास बहुत तेजी से हो रहा है

तथा जनसंचार ने पूरे विश्व को एक छोटे से गांव में बदल दिया है। समाचार पत्र, पत्रिकाएं, फिल्में, टेलीविजन एवं रेडियो, एक्स (ट्विटर) फेसबुक, इंस्टाग्राम आदि जैसे जनसंचार माध्यमों ने एक स्थान से अधिकांश जनता तक एकतरफा संचरण को सरल बना दिया है। ये एक सूचना को, एक स्रोत से अनेकों श्रोताओं और दर्शकों तक सूचना को पहुंचाते हैं।

20वीं तथा 21वीं शताब्दी में जनसंचार साधनों में तेजी से वृद्धि हुई है जिसके फलस्वरूप सूचनाओं का तेजी से संचार हुआ है। टेलीविजन और फिल्में अपनी दृश्य एवं श्रव्य क्षमता के कारण प्रभावी जनसंचार के माध्यम के रूप में सामने आया है। **बर्ट्रम ग्रॉस** के अनुसार, "टेलीविजन ने जनसंचार माध्यमों की भूमिका ही बदल दी है क्योंकि संप्रेषण आमने–सामने न होते हुए भी बहुत से मामलों में आमने–सामने के संबंधों से भी आर्थिक व्यावहारिक तथा प्रभावी बना दिया है और कुछ स्थितियों में तो यह आमने–सामने संप्रेषण का ही एक रूप बन जाता है। उपग्रह के प्रयोग ने तो संचार व्यवस्था में अभूतपूर्व परिवर्तन ला दिया है। इससे सूदूरतम क्षेत्रों में रह रहे लोगों को एक नई वास्तविकता के सम्मुख लाना सम्भव हो सका है। भारत में उपग्रह इनसैट 1–बी के सफल संचालन के पश्चात् देश के लगभग सभी भागों में "दूरदर्शन" का विस्तार हुआ और भारत में जनसंचार के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई और 21वीं सदी में सोशल मीडिया के विकास से जनसंचार के क्षेत्र में एक क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है। इस अध्याय में जनसंचार के माध्यम के बारे में विस्तृत अध्ययन करेंगे।

2.1 जनसंचार का अर्थ

मानव सभ्यता के अभ्युदय के साथ ही संचार का प्रादुर्भाव हुआ। मानव अस्तित्व की परिकल्पना संचार के अभाव में अधूरी है। संचार मानव की बुनियादी मूल प्रवृत्ति है। संचार सर्वव्याप्त है एवं मानव व्यवहार को संचालित एवं मूर्त रूप प्रदान करने वाली धुरी है। प्रारम्भ में संचार के साधनों के अभाव में भी व्यक्ति प्रतीक चिन्ह तथा भाव भंगिमा के माध्यम से सम्प्रेषण करता था। आधुनिक समय में संचार की प्रक्रिया एवं तकनीक में प्रगति हुई जिसने मानव सभ्यता को ऊंचाईयों तक पहुंचा दिया है। उसने मूक अभिव्यक्ति से लेकर मौखिक संवाद तक का सफर तय किया है। मुद्रण के क्षेत्र से लेकर टेलीफोन, टेलीविजन, कम्प्यूटर, इन्टरनेट और यहां तक कि उपग्रह जगत तक पहुंचने वाले जटिल मार्गों तक की जानकारी संचार की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। मानव विकास की प्रगति एवं उत्थान प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से संचार की ही देन है।

शाब्दिक अर्थों में संचार अंग्रेजी का 'कम्यूनिकेशन' (Communication) शब्द लैटिन के कम्यूनिज (Communis) शब्द से बना है। जिसका अर्थ है साझा करना अर्थात् सम्प्रेषण या संचार, एक ऐसा प्रयास है जिसके माध्यम से एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को सूचना देने या समझने की प्रक्रिया का नाम है। दूसरे शब्दों में संचार एक व्यक्ति के विचारों, भावनाओं एवं मनोवृत्तियों में सहभागी होता है। व्यापक अर्थों में "किसी एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को या व्यक्ति से समूह को या समूह से समूह को किसी माध्यम के द्वारा सूचना, जानकारी, ज्ञान या मनोभावों का आदान–प्रदान करना संचार है।"

संचार में दो या दो से अधिक व्यक्ति सूचनाओं एवं अनुभूतियों का आपस में विनिमय करते है। संचार के माध्यम से व्यक्तियों में परस्पर समझ का विकास होता है। संचार एक गतिशील प्रक्रिया है तथा यह सामाजिक पारस्परिक क्रिया की प्रक्रिया है।

जनसंचार माध्यम का अर्थ है उन सभी विधियों और तकनीकों का संयोजन जो सूचना, जानकारी, और विचारों को एक स्थान से दूसरे स्थान या व्यक्ति से साझा करने में मदद करते है। इसका मुख्य उद्देश्य लोगों के बीच संवाद बनाना तथा सूचना का पहुंचाना, और विचारों को प्रसारित करना। जनसंचार एक प्रक्रिया है जिसका उद्देश्य सूचनाओं, जानकारियों, विचारों और संदेशों को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों तक पहुंचाना होता है। जनसंचार का अर्थ है जनसंचार माध्यमों द्वारा सूचना, विचार, ज्ञान, व जानकारी को एक साथ विभिन्न लोगों व समुदायों तक पहुंचाना। जनसंचार को विभिन्न माध्यमों से किया जाता है जैसे– समाचार पत्र, पत्रिका, फिल्में, टेलीविजन, रेडियो, सोशल मीडिया आदि। जनसंचार से तात्पर्य है वृहत् स्तर पर विस्तृत आकार के विषम वर्गीय समूह तक संचार माध्यमों द्वारा सन्देश या सूचना को पहुंचना। अर्थात जनसंचार व्यापक पैमाने पर जनता के बीच संदेश प्रेषित करने से है।

जनसंचार, प्रौद्योगिकी उपकरणों को माध्यम बनाकर एक बहुत बड़े जनसमूह को संदेश भेजने की प्रणाली है। मुद्रण मशीन के अविष्कार के साथ ही जनसंचार युग का प्रारम्भ हो गया था। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में रेडियो, टेलीविजन इलेक्ट्रोनिक माध्यमों के प्रचलन के साथ ही जनसंचार सामाजिक शक्ति के रूप में प्रकट हुआ। बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक तक सेटेलाइट, कम्प्यूटर, इंटरनेट तथा सोशल मीडिया आदि पर आधारित जनसंचार माध्यमों ने विश्व में क्रांति उत्पन्न कर दी है। **आल्ट एवं एगी** के अनुसार – "जनसंचार का अर्थ किसी उद्देश्य

के लिए विकसित संचार माध्यमों के उपयोग द्वारा विस्तृत आकार के विभिन्न प्रापकों तक सूचनाओं एवं विचारों को पहुंचाता है।" **डेविड वार्ल** के शब्दों में "जनसंचार एक ही स्थान पर तैयार किये गए संचार के उस स्वरूप के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो बिखरे हुए विशाल समुदाय तक पहुंचने में समर्थ हो।"

कार्नर के अनुसार– "जनसंचार संदेश के बड़े पैमाने पर उत्पादन तथा वृहत्त स्तर पर विषमवर्गीय जन–समूहों में द्रुतगामी वितरण करने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में जिन उपकरणों का अथवा तकनीक का उपयोग किया जाता है उन्हें जनसंचार माध्यम कहते है।"

उपरोक्त परिभाषाओं के विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हैं कि जनसंचार एक विशेष प्रकार का संचार है जो विभिन्न माध्यमों व यन्त्रों द्वारा चालित है और सूचना व संदेश को बहुत से लोगों के पास दूर–दूर तक भेजता है। अर्थात जनसंचार माध्यम से तात्पर्य ऐसी तकनीक, उपकरण या माध्यम से है जिसके द्वारा सूचना या संदेश लगभग एक ही समय में बहुत से व्यक्तियों के मध्य पहुंचाया जा सके। जनसंचार माध्यम एक तरीके से सूचना का आवागमन सरल बनाते हैं। इस प्रकार जनता को एक स्रोत से अनगिनत श्रोता, दर्शक तक सूचनाएं उपलब्ध हो जाती हैं।

जनसंचार माध्यम विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं।

1. **प्रिंट मीडिया :** इसमें समाचार पत्र, पत्रिकाएं, पुस्तकें, पोस्टर बैनर आदि शामिल होते हैं जो लिखित सूचना या संदेश को प्रसारित करते हैं।
2. **इलेक्ट्रॉनिक मीडिया** : यह टेलीविजन, रेडियो, ऑनलाइन पोर्टल्स जैसे मीडिया को शामिल करते हैं, जो वीडिओ, ऑडियो और लिखित सूचना को प्रसारित करते हैं।
3. **सोशल मीडिया :** इसमें फेसबुक, एक्स (ट्विटर) व्हाट्सएप, इंस्टाग्राम, लिंक्डिन, यूट्यूब जैसे आधुनिक डिजिटल प्लेटफॉर्म्स शामिल होते हैं जिसके द्वारा सूचनाओं, विचारों और संदेशों को एक साथ बहुत से लोगों तक पहुंचाया जाता है।

इस प्रकार जनसंचार माध्यम का अर्थ, जनता के बीच विभिन्न माध्यमों से सूचनाओं और संदेशों का प्रसार करना है। जनसंचार परिपक्व समाज की मनोदशा, विचार, संस्कृति आम जीवन दशाओं को नियंत्रित व निर्देशित करता है। जनसंचार प्रवाह अति व्यापक एवं असीमित होता है। जनसंचार माध्यमों की महत्ता को दर्शाते हुए **मार्शल मैक्लूहान** ने लिखा है कि "माध्यम ही सन्देश है। माध्यम का अर्थ– मध्यस्थता करने वाला होता है, जो दो बिन्दुओं को जोड़ता है व्यावहारिक दृष्टि से संचार माध्यम एक सेतु है, जो स्रोत (संचारक और प्रापक) के मध्य ट्यूब, वायर, प्रवाह इत्यादि के द्वारा पहुंचाता है।" **कुप्पूस्वामी** के अनुसार– "जनसंचार तकनीकी आधार विशाल अथवा व्यापक रूप से लोगों तक सूचना के संग्रह एवं प्रेषण पर आधारित प्रक्रिया है। आधुनिक समाज में जनसंचार का कार्य सूचना प्रेषण, विश्लेषण, ज्ञान एवं मूल्यों का प्रसार करना है।"

2.4 जनसंचार माध्यम एवं नियोजित परिवर्तन

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। यह एक व्यापक प्रक्रिया है। समयानुसार समाज व देश के सभी क्षेत्र में अर्थात सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, नैतिक, प्रशासनिक नीतिगत आदि क्षेत्रों में परिवर्तन होते रहते हैं। इन सभी परिवर्तनों में जनसंचार माध्यमों की भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण होती है। वर्तमान युग सूचना और तकनीकी का युग है। इस दृष्टि से वर्तमान युग में जनसंचार माध्यमों जैसे– समाचारपत्र, पत्रिकाएं, रेडियो, टेलीविजन फिल्म, इंटरनेट, सोशल मीडिया अन्य साधनों का विशेष महत्व है।। विश्व के सभी देशों की सरकारें अपने देश के विकास के लिए प्रतिबद्ध होती हैं और ये देश सभी क्षेत्रों में जैसे सामाजिक, आर्थिक, प्रशाासनिक आदि में विकास के लिए निरंतर कार्य करती हैं। अविकसित और विकासशील देशों के सन्दर्भ में विकास परिवर्तन की वह प्रक्रिया जोकि जनसंख्या के अधिकांश वर्गों को प्रभावित करने वाली बीमारियों, भुखमरी, अन्याय, शोषण, बेरोजगारी तथा अन्य समस्याओं का उन्मूलन करने के उद्देश्य की ओर निर्देशित तथा गतिशील होती हैं। भारत जैसे कुछ विकासशील देशों ने नियमित पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा विकास से इन उदेश्यों को पूरा करने का प्रयत्न किया है। जनसंचार माध्यमों के विकास से, विशेषतः टेलीविजन के विकास से नियोजित परिवर्तन तथा जन–शिक्षा के सशक्त माध्यमों का करोड़ों अशिक्षित जनता पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा है। अतः यह माध्यम दूर–दराज के रह रहे ग्रामीण क्षेत्रों में अशिक्षित तथा पिछड़ी हुई जनता तक विकासात्मक नीतियों की सूचना व जानकारी का संप्रेषण, सूचनाओं का प्रसारण तथा नये विचारों व व्यवहारों के प्रसार में अत्यन्त उपयोगी है। भारत में समाचारपत्रों, टी.वी. चैनलों और अन्य जनसंचार माध्यमों का बहुत ही विस्तार हुआ है। डिजिटलाइजेशन के फलस्वरूप अब हर हाथ में मोबाइल और टैब पहुंच चुका है। इंटरनेट के विस्तार ने सूचना के त्वरित विस्तार में क्रांति ला दी है। वास्तविक

तौर पर देखें तो आज का भारत अब सूचनाओं का लोकतंत्र बन चुका है। लोकतन्त्र के इस दौर में सरकार अपने विकासात्मक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए जनसंचार माध्यमों के फैले जाल का उपयोग कर रही है। बेरोजगारी, बीमारी, अन्याय, हिंसा, शोषण एवं समस्त असामाजिक बुराइयों से लड़ने में इन जनसंचार माध्यमों का इस्तेमाल किया जा रहा है तथा अशिक्षा एवं सामाजिक कुरीतियों एवं बुराइयों से लड़ने मे सरकार जनसंचार माध्यमों का दोहरा लाभ ले रही है।

जनसंचार माध्यम समाज में नये विचारों तथा व्यवहारों के प्रसार का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। किसी भी समाज पर सूचना व प्रौद्योगिकी का गहरा प्रभाव पड़ता है। जनसंचार माध्यम आम जनता को अपने ज्ञान में वृद्धि करने, अपने सामान्य दृष्टिकोण का विस्तार करने, नये विचारों और व्यवहारों को अपनाने, वैज्ञानिक सोच बढ़ाने एवं तकनीकी उन्नति का लाभ उठाने के लिए प्रेरित करता है। इसका प्रभाव भारत के लोगों पर भी पड़ा। टेलीविजन, रेडियो तथा अन्य जनसंचार के माध्यम ने लोगों को वैज्ञानिक दृष्टिकोण, नये विचारों तथा व्यवहारों को अपने व्यक्तिगत तथा समाज कल्याण के लिए अपनाने के लिए प्रेरित किया है। जन जागरुकता कार्यक्रम चलाकर देश के पिछड़े क्षेत्रों को मुख्य धारा से जोड़ने का काम किया है तथा सभी प्रकार की नकारात्मकता से लड़ने में संचार माध्यम की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

भारत की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार कृषि है। देश की लगभग 70 प्रतिशत जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में रहती है। ग्रामीण क्षेत्र के लोगों की जीविका कृषि पर निर्भर है। कृषि के विकास के लिए तथा कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिए नए उर्वरकों, बीजों, कीटनाशकों, तथा खेती के तरीके इत्यादि की जानकारी को प्रसारित करने में जनसंचार माध्यम की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इस दिशा में दूरदर्शन जैसा माध्यम बहुत ही सराहनीय कार्य कर रहा है। उदाहरण के लिए दूरदर्शन पर प्रसारित होने वाला 'कृषि दर्शन' कार्यक्रम हो अथवा किसान चैनल, इनके माध्यम से किसानों तथा कृषि से सम्बंधित अनेक कार्यक्रम प्रसारित किये जाते हैं। किसान को नये उर्वरकों, उन्नतशील बीजों, कीटनाशकों तथा कृषि की विभिन्न विधियों के बारे में जानकारी प्रदान की जाती है तथा कृषि से सम्बन्धित समस्याओं के समाधान के लिए किसानों को कृषि विशेषज्ञों द्वारा सलाह दी जाती है। इसके अतिरिक्त पशुपालन, मछली पालन, कुक्कुट पालन, परिवार कल्याण, स्वास्थ्य तथा पोषण पर सामान्य कार्यक्रम जनसंचार माध्यमों से आमजन तक पहुंच रहे हैं एवं इसमें नवाचार को बल मिल रहा है। लोगों को शिक्षित करने के कार्यक्रम यथा शिक्षा–स्वास्थ्य एवं कुप्रथाओं से जुड़े रोचक व प्रभावशाली कार्यक्रम अब नाटक, गायन, संगीत एवं नृत्य के माध्यम से चलाया जा रहा है जिसका लोगों पर सकारात्मक प्रभाव पड़ रहा है।

जनसंचार माध्यम सामाजिक परिवर्तन का वाहक है। समाज में परिवर्तन लाने में जनसंचार माध्यम रचनात्मक एवं सृजनात्मक भूमिका निभाता है तथा इसके साथ ही परिवर्तन एवं विकास के नकारात्मक प्रभाव भी समाज पर पड़ते हैं। न्यूटन का तीसरा नियम यहां भी लागू होता है। जिस प्रकार प्रत्येक क्रिया की समान और विपरीत प्रतिक्रिया होती है, उसी प्रकार सामाजिक परिवर्तन व गतिशीलता का प्रभाव भी व्यक्ति, समाज तथा देश पर पड़ता है। यह प्रभाव सकारात्मक भी होता है जो व्यक्ति, समाज व देश को उन्नति की ओर ले जाता है तथा इसके विपरीत इसका प्रभाव नकारात्मक भी होता है जिसके कारण सामाजिक स्थिरता का ह्रास होता है तथा अनेक सामाजिक समस्याएं जन्म लेती हैं। इसलिए एक बदलते एवं विकासशील समाज में पुरानी संस्थाओं और मूल्यों को बदलने के लिए नई संस्थाओं और मूल्यों की आवश्यकता होती है। उदाहरण स्वरूप, भारत के सन्दर्भ में आधुनिकीकरण और परिवर्तन की प्रक्रिया ने धर्म, जाति, संयुक्त परिवार, परम्परा और ग्रामीण समाज के लिए गम्भीर खतरा उत्पन्न कर दिया है जो पूर्व भारतीय समाज के पुराने स्तंभ थे। परिणामस्वरूप सामाजिक नियन्त्रण के पारंपरिक साधनों का प्रभाव कम हो गया है, जबकि नए साधनों ने अभी अपनी जड़ें मजबूत करनी है। जैसा कि दूरदर्शन के लिए कार्य समूह कहता है, "एक तरफ धार्मिक कट्टरतावाद या रुढ़िवाद तथा जात–पात और दूसरी तरफ जड़हीन आधुनिकीकरण की विपरीत प्रवृत्तियों से उत्पन्न दोलन।" इस गम्भीर संकट व दुविधा को हल करने में जनसंचार माध्यमों के लिए रचनात्मक और सृजनात्मक भूमिका निभाने का एक अवसर है कि वह इस गम्भीर नैतिक समस्या के समाधान में, रचनात्मक तथा सृजनात्मक भूमिका निभाये। "मूल्यों की खोज" को मंच के केंद्र में रखकर लोगों को पुराने और नये मूल्यों में सर्वोत्तम के संश्लेषण के माध्यम से जीवन के नये अर्थों की खोज की ओर उन्मुख करना चाहिए।

सूचना प्रौद्योगिकी की क्रांति, नवीनतम परिवर्तन तथा सोशल मीडिया भी अपने सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों प्रभावों से समाज को प्रभावित कर रहा है। एक तरफ जहां इन संचार माध्यमों ने वैश्विक गांव, शिक्षा, रोजगार, मनोरंजन, जनमत निर्माण, समाज को गतिशील बनाने तथा ज्ञान आधारित अर्थव्यवस्था बनाने में मदद की है, वहीं अश्लीलता, हिंसा, साइबर अपराध उपभोक्तावादी प्रवृत्ति तथा समाज को नैतिक और सांस्कृतिक पतन की ओर अग्रसर किया है।

इसके अतिरिक्त भारतीय समाज को अभिजात्य समाज से समरस या जन समाज के निर्माण में जनसंचार माध्यम ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है और वैज्ञानिक मूल्यों की स्थापना तथा वैज्ञानिक सोच को प्रोत्साहन देने में भी संचार माध्यम ने बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किया है। आकाशवाणी तथा दूरदर्शन के विज्ञान आधारित कार्यक्रमों में विज्ञान का संदेश भारत की अशिक्षित तथा अज्ञानी जनता तक पहुंचाने तथा उन्हें इसके लिए अर्थपूर्ण बनाने का कार्य किया है। दूरदर्शन तथा आकाशवाणी जैसे जनसंचार के माध्यमों द्वारा भारतीय जनता में वैज्ञानिक मानसिकता और दृष्टिकोण को बढ़ावा दिया गया है।

2.5 नीतियों को प्रभावित करने में जनसंचार की भूमिका

लोकनीति निर्माण एक प्रक्रिया है जिसमें सरकार के विभिन्न अंगों के साथ–साथ गैर सरकारी संगठनों, हित–समूहों तथा जनसंचार साधनों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। नीतियां किसी समस्या के समाधान तथा किसी विशेष लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बनायी जाती हैं। जैसे गरीबी उन्मूलन के लिए बनायी गयी नीतियां, ग्रामीण विकास, शहरी विकास, औद्योगिक विकास, जनजातीय कल्याण, दिव्यांग कल्याण, आदि नीतियां, जन कल्याण के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बनाई गयी हैं। इस संदर्भ में नीतियां वह मुख्य साधन हैं जो कि समाज को लक्ष्य की ओर प्रेरित करने के लिए सावधानीपूर्वक बनायी जाती हैं। किसी भी लोकतांत्रिक देश में प्रेस की स्वतन्त्रता और विचारों की स्वतन्त्रता का महत्वपूर्ण स्थान होता है तथा लोकतांत्रिक देश इसकी स्वीकृति देते हैं। लोकनीति निर्माण प्रक्रिया में जनसंचार माध्यम की भूमिका महत्वपूर्ण होती है क्योंकि यह नीतियों के निर्माण के सभी चरणों जानकारों, नागरिकों, और निर्णयकर्ताओं के बीच संवाद को संचालित करता है। इस प्रकार जनसंचार माध्यम नीतियों को प्रभावित करने की अनेक भूमिकाओं का निर्वाह करता है। नीतियों को प्रभावित करने में जनसंचार माध्यम तीन प्रकार भी भूमिका अदा करता है। जो निम्न हैं– सूचनात्मक भूमिका, अभिमुखीकरण भूमिका तथा सलाहकारी भूमिका।

2.5.1 सूचनात्मक भूमिका

जनसंचार माध्यम समाज के दर्पण के रूप कार्य करते हैं। जनसंचार माध्यम समाज के विभिन्न वर्गों और समूहों की वास्तविक जनजीवन की समस्याओं, जरूरतों तथा आकांक्षाओं को दर्शाता है। ऐसी सूचना या जानकारी नीति–निर्माण में बहुत आवश्यक होती है तथा यह जानकारी नीति–निर्माण के लिए मूल्यवान निवेश प्रदान करती है। नीति निर्माता को यह पता चलता है कि समाज में वास्तविक समस्या क्या है, तथा लोगों की क्या आकांक्षाएं और जरूरतें हैं जिससे नीति–निर्माण में उनको सहायता मिलती है। जनसंचार माध्यम, नीति निर्माताओं को नवीनतम वैज्ञानिक व तकनीकी उपलब्धियों की सूचना व ज्ञान से अवगत करवाते हैं तथा दुनिया के अन्य देशों में होने वाली महत्वपूर्ण घटनाओं तथा प्रक्रियाओं को प्रसारित कर जानकारी उपलब्ध करवाते हैं। जनसंचार माध्यम लोगों को सरकार की नीतियों के बारे में सूचित करते हैं तथा जनता को नीतियों के बारे में जागरूक करते हैं तथा नीतियों पर जनता की प्रतिक्रियाएं भी प्रस्तुत करते हैं। ऐसी जानकारी नीतियों के मूल्यांकन करने में बहुत उपयोगी सिद्ध होती हैं। इस मूल्यांकन से मौजूदा नीतियों में छोटे–बड़े बदलाव हो सकते हैं।

2.5.2 अभिमुखीकरण भूमिका

भारत जैसे देशों के लोगों को लोकनीतियों के प्रति जागरुक करना तथा जनोन्मुख नीतियों का समर्थन करना जनसंचार माध्यम का महत्वपूर्व कार्य है। भारत में जहां कुल आबादी का एक बड़ा हिस्सा गरीबी रेखा से नीचे जीवन व्यतीत करता है, तो ऐसी कोई भी नीति जो गरीबी की समस्या का निवारण करने के लिए निर्देशित नहीं है, तो उसके सकारात्मक परिणाम होने की सम्भावना नहीं है। जैसे की एक जन–उन्मुख शिक्षा नीति का कोई अर्थ नहीं है अगर उसको जन–उन्मुख आर्थिक नीति के द्वारा समर्थित नहीं किया जाता है। इसलिए यह विकल्प अभिजात–उन्मुख नीतियों और जन–उन्मुख, नीतियों से जुड़ा हुआ है। जनसंचार माध्यम दोनों में से किसी को भी सहायता प्रदान कर सकते हैं।

किसी भी शासन की व्यवस्था में सत्तारूढ़ अभिजात्य वर्ग, शक्ति या पदानुक्रम में अपनी मजबूत स्थिति के कारण नीति–निर्माण की प्रक्रिया में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि नीति निर्माताओं के रूप में ये अभिजात्य वर्ग जन–उन्मुख नीतियों के बजाय अभिजात्य–उन्मुख नीतियों की ओर झुके होते हैं। जन–उन्मुख नीतियों का समर्थन करके, जनसंचार माध्यम अभिजात्य वर्ग की मनोवृत्ति तथा दृष्टिकोण में बदलाव लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

2.5.3 सलाहकारी भूमिका

जनसंचार माध्यम सलाहकारी भूमिका भी निभाते हैं जो कि नीति–निर्माताओं को नीति निर्माण करने में

सहायक होते हैं। भारत एक लोकतांत्रिक देश तथा यहां लोकतांत्रिक मूल्यों की बहुलता है। नतीजतन लोकतांत्रिक व्यवस्था में नीति–निर्माताओं के पास हमेशा विकल्पों की बहुलता होती है, तथा नीतिगत निर्णय करते समय बहुल विकल्पों में से एक विकल्प चुनना कठिन कार्य होता है। जनसंचार माध्यम न केवल विभिन्न विकल्पों पर चर्चा को प्रोत्साहित करते हैं, बल्कि किसी एक विकल्प के पक्ष में महत्वपूर्ण सुझाव भी देते हैं। जैसे समाचार पत्र के सम्पादकीय लेख, सरकार की नीतियों की आलोचनात्मक टिप्पणी करते हैं, साथ ही वैकल्पिक नीतियां तथा सुझाव भी देते हैं। ऐसी आलोचनात्मक टिप्पणियां और सुझाव, नीति निर्माताओं के कार्य को आसान बनाते हैं। यह उन्हें एक बेहतर नीतिगत निर्णय लेने तथा नीतिगत निर्णयों को संशोधित करने या वापस लेने में सहायक होते हैं।

2.6 जनसंचार माध्यम एवं जनमत

जनमत का शाब्दिक अर्थ 'जनता का मत' है। जो मत जनता के हितों के रक्षार्थ सार्वजनिक विचारों को प्रकट करता है, वही जनमत है। अर्थात वह मत ही जनमत कहलाता है जो सबके हित में, समूह का मत हो। जनमत एक निर्णय है, जो जनता का निर्माण करने वाले लोगों द्वारा बनाया और स्वीकार किया जाता है तथा जो सार्वजनिक कार्य से सम्बन्धित होता है। **चार्ल्स स्टीनवर्ग** ने सही परिभाषित किया है "जनमत अनेक व्यक्तियों के समूह में समान लक्ष्यों, आकांक्षाओं, आवश्यकताओं तथा आदेशों से आबद्ध मतों की सामूहिक अभिव्यक्ति है।" अतः स्पष्ट है, कि विशाल जनसमूह या समुदाय विशेष के सदस्यों द्वारा पारस्परिक विचार–विमर्श से सामान्य हित से सम्बन्धित किए गए सुनिश्चित विचार ही जनमत कहलाते हैं। यह किसी समस्या के बारे में समूह द्वारा मान्य मत होता है। इस प्रकार जनमत जनता का ही मत होता है। इसके माध्यम से जनता की सामान्य इच्छा प्रकट होती है।

आधुनिक युग में जनसंचार माध्यमों की जनमत के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका है। आज अत्यधिक तीव्र गति से सामाजिक परिवर्तन हो रहे हैं। इन परिवर्तनों के अनुकूल नागरिकों में मानसिकता विकसित करना अनिवार्य है। यदि परिवर्तनों के प्रति अनुकूल मानसिकता विकसित नहीं होती है तो परिवर्तन की गति प्रभावित होने लगती है तथा इसके लाभ भी अधिकांश लोगों को नहीं मिल पाते हैं। जनसंचार माध्यम परिवर्तन के अनुकूल एवं इसे प्रोत्साहन देने वाले स्वस्थ जनमत का निर्माण कर समाज तथा नीति–निर्माण में योगदान देते हैं। इसीलिए जनमत को आधुनिक समय में समाज, राजनीति तथा लोक नीति में परिवर्तन का आधार माना जाता है। जनमत के निर्माण में जनसंचार माध्यम–समाचार पत्र, रेडियो, फिल्में, टेलीविजन और सोशल मीडिया (फेसबुक, एक्स, यूट्यूब, इंस्टाग्राम आदि) की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। जिस पर अनेक सूचनाएं एवं जानकारियां तथा मत–मतान्तर भी प्रसारित होते हैं। इन सभी से जनमत के निर्माण में इतनी अधिक सहायता मिलती है कि जनसंचार के माध्यम जनमत के निर्धारक तक बन गए हैं।

जनसंचार माध्यम, सरकार की गलत नीतियों के विरोध में जनमत का निर्माण कर सरकार पर अंकुश लगाने का कार्य भी करते हैं। कोई भी सरकार जनसंचार माध्यमों द्वारा निर्मित जनमत की अवहेलना का साहस नहीं कर सकती है। इसलिए प्रजातांत्रिक व्यवस्था में संचार के जनमाध्यमों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है तथा सभी राष्ट्रीय मुद्दों पर सहमति तथा असहमति से सम्बन्धित जनमत का निर्माण इन्हीं जनसंचार माध्यमों द्वारा होता है। जनसंचार माध्यम सरकार के हाथ में ऐसे सकारात्मक यन्त्र हैं जिसके द्वारा वह अपनी नीतियों को जनता तक पहुंचाती है तथा उसके समर्थन के प्रति जनता का जनमत जानने का प्रयास करती है। इससे सरकार को अपनी लोकनीतियों को बनाने एवं लागू करने में सहायता मिलती है।

लोगों में जनचेतना बढ़ाने में तथा जनमत को लामबन्द करने में जनसंचार माध्यमों की भूमिका महत्वपूर्ण है, जिसका प्रभाव नीति–निर्माण पर पड़ता है। विभिन्न जनसंचार माध्यमों द्वारा विभिन्न प्रकार के समाचार तथा दृष्टिकोण प्रसारित होते हैं, जैसे कि विधायी, वाद–विवाद, प्रमुख व्यक्तियों के भाषण, सरकार, राजनीतिक दल तथा सामाजिक कार्य समूहों की विज्ञप्ति, जनता की शिकायतें तथा सामयिक मुद्दे और समस्याएं। ऐसे समाचार, जानकारियों तथा दृष्टिकोण लोगों को उनकी राजनीतिक तथा सामाजिक चेतना को बढ़ाने में सहायता प्रदान करते हैं तथा यह जन–चेतना जनमत के निर्माण में सहायक सिद्ध होती है।

लोकनीतियों के निर्माण में जनमत की भी प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष भूमिका रहती है। सरकार और राजनीतिक दलों को उन्हीं नीतियों के निर्माण में पहल करनी पड़ती है जो प्रबुद्ध जनमत चाहता है। आज के सूचना एवं तकनीकी युग में ऐसे कितने ही जनसंचार के माध्यम हैं जो जनमत का निर्माण करते हैं और समय–समय पर यह

बताते भी हैं कि जनमत क्या चाहता है। सरकारों, प्रशासकों और बुद्धिजीवियों द्वारा उठाए गए महत्वपूर्ण प्रश्न समाचार पत्रों पत्रिकाओं, टेलीविजन, रेडियो, सिनेमा आदि जनसंचार माध्यम से सामान्य जनता तक पहुंचाने का प्रयास किया जाता है, जो उनकी क्रिया एवं प्रतिक्रिया की अभियक्ति होती है।

2.7 जनसंचार माध्यम के लिए उचित नियमन की आवश्यकता

जनसंचार माध्यम, समाज में सूचना और जानकारी को प्रसारित करने और प्राप्त करने का महत्वपूर्ण साधन हैं। इन माध्यमों में टेलीविजन, रेडियो, समाचार पत्र, पत्रिकाएं, इंटरनेट, सोशल मीडिया और अन्य साधन शामिल हैं। इन साधनों के माध्यम से सूचना प्राप्त करना तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार समाज के प्रत्येक व्यक्ति को है। लेकिन यह भी महत्वपूर्ण है कि इन माध्यमों का सही और उचित उपयोग हो। पिछले कुछ वर्षों से जनसंचार माध्यमों का दुरूपयोग हो रहा है तथा समाज में नकारात्मक व भ्रामक सूचनाएं एवं जानकारियां फैलाई जा रही हैं। झूठी एवं भ्रामक खबरें, अश्लीलता, राजनीतिक सम्बद्धता, द्विअर्थी संवाद, गाली–गलौज, पेड न्यूज और निजता के अधिकारों के उल्लंघन जैसी शिकायतें आम हो गयी हैं। वर्तमान समय में भारत का संचार माध्यम मीडिया पूरी तरह से बाजार द्वारा नियंत्रित हो रहा है, जो इसके लिए बड़ी चुनौती है। अखबार और न्यूज चैनल का मुख्य उद्देश्य धन उगाहना हो गया है। वास्तविकता यह है कि आज विज्ञापन बटोरने के लिए अखबार और टीवी चैनल सभी मर्यादाओं को तोड़कर काम कर रहे हैं। समाचार पत्रों, न्यूज चैनलों तथा सोशल मीडिया द्वारा निजता के अधिकार का भयानक रूप से उल्लंघन हो रहा है। निजता का अधिकार एक मौलिक अधिकार है। उच्चतम न्यायालय ने **आर. राजपाल बनाम तमिलनाडु** मामले में निजता के अधिकार को मौलिक अधिकार मानते हुए इसे जीवन और व्यक्तिगत आजादी का हिस्सा बताया है। किन्तु मीडिया निजता के अधिकार पर प्रहार करने से बाज नहीं आ रहा है।

प्रेस काउन्सिल ने भी 2005 में जारी पत्रकारिता आचार संहिता में निजता के अधिकार की रक्षा करने की बात कही है। भारतीय दंड संहिता की धारा 499 के अन्तर्गत भी किसी की मानहानि करना दण्डनीय अपराध है। इन सभी प्रकरणों ने न्यूज चैनलों और समाचार पत्रों के नियमन या 'कन्टेंट रेगुलेशन' पर व्यापक प्रश्न खड़ा कर दिया है। इन प्रकरणों ने यह भी साबित कर दिया है कि न्यूज चैनलों, इंटरनेट, सोशल मीडिया तथा अन्य जनसंचार माध्यमों के नियमन की कोई एक स्वतंत्र, स्थाई, पारदर्शी व प्रभावशाली व्यवस्था नहीं है। जिसके कारण समाचार चैनल तथा अन्य जनसंचार के माध्यम भी बार–बार मनमानी तथा गलती करते रहते हैं तथा नैतिक नियमों एवं प्रतिमानों को तोड़ा जाता है। यही कारण है कि आज मीडिया को आचार संहिता द्वारा बांधने की आवश्यकता है तथा एक पारदर्शी एवं प्रभावशाली नियमन की आवश्यकता है क्योंकि बिना नियमन के जनसंचार माध्यमों का दुरूपयोग हो रहा है, जिससे समाज को हानि हो रही है।

वर्तमान में भारत में जनसंचार माध्यमों पर नियंत्रण रखने के लिए केवल टेलीविजन रेगुलेशन एक्ट 1994, इंडिसेंट रिप्रेजेंटेशन ऑफ वीमेन एक्ट 1986, भारतीय दण्ड संहिता के अतिरिक्त, ब्रॉडकॉस्ट अथॉरिटी ऑफ इंडिया, भारतीय फिल्म सेंसर एवं प्रमाणन बोर्ड, भारतीय प्रेस परिषद् तथा न्यूज ब्रॉडकॉस्टर्स एसोशियेशन (NBA) आदि संस्थाएं हैं किन्तु सरकारी इच्छाशक्ति के कारण जनसंचार माध्यमों पर प्रभावी प्रतिबंधों का आरोपण नहीं हो पा रहा है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 19 में दिए गए युक्तियुक्त प्रतिबंध जनसंचार माध्यमों पर अंकुश लगाने के लिए एक उपयुक्त और सशक्त आधार हो सकता है।

2.8 सारांश

इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि जनसंचार माध्यम, नीति–निर्माण के लिए एक मुख्य निर्धारक के रूप में कार्य करते हैं। लोकनीति को प्रभावित करने, जन जागरूकता बढ़ाने तथा समाज में परिवर्तन लाने वाले साधन के रूप में जनसंचार माध्यमों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। समाचार पत्र, पत्रिकाएं, रेडियो, टेलीविजन, समाचार चैनल, सोशल मीडिया आदि जनसंचार के प्रमुख माध्यम हैं। जनसंचार माध्यम समाज के विभिन्न वर्गों तथा समूहों की वास्तविक जनजीवन की समस्याओं, आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं को प्रतिबिम्बित करते हैं। यह जानकारी नीति–निर्माण के लिए बहुत ही उपयोगी निवेश प्रदान करती है। जनसंचार माध्यम सरकार की गलत नीतियों के विरोध में जनमत का निर्माण कर सरकार पर अंकुश लगाने का कार्य भी करते हैं तथा जनसंचार माध्यम सरकार की जनविरोधी नीतियों और उनके दुष्प्रभावों का मूल्यांकन काफी प्रभावशाली ढंग से करते हैं तथा उसे सबके सामने लाकर रख देते हैं। जनसंचार माध्यम नीतियों पर आलोचनात्मक टिप्पणियां करते

हैं तथा साथ–साथ आवश्यक सुझाव भी देते हैं जो नीति निर्माताओं के लिए काफी महत्वपूर्ण होते हैं।

2.9 अभ्यास के कुछ प्रश्न

1. नीति–निर्माण में जनसंचार माध्यमों की भूमिका का परीक्षण कीजिए।
2. जनसंचार माध्यम से आप क्या समझते हैं? समाज में परिवर्तन लाने के लिए जनसंचार माध्यम की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
3. वर्तमान समय में सोशल मीडिया की भूमिका का वर्णन करें।
4. जनता में जनचेतना बढ़ाने में जनसंचार माध्यम किस प्रकार सहायक सिद्ध होते हैं?
5. जनसंचार माध्यमों के लिए एक उचित नियमन क्यों आवश्यक है?
6. जनमत के निर्माण में जनसंचार माध्यमों की भूमिका का वर्णन कीजिए।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. संचार के सिद्धांत, संजीव भानावत।

2. प्रशासन व लोक नीति, मनोज सिन्हा।

3. ईपीए–06 लोक नीति निर्माण के मुख्य निर्धारक, बुकलेट–4 इंदिरा गांधी मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

4. वी0 ए0 पी0 ए0– 301 हित समूह एवं नीति निर्माण, इकाई 2 उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय।

इकाई –03 सामाजिक आन्दोलन

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 परिचय

3.2 सामाजिक आन्दोलन

3.2.1 सामाजिक आन्दोलन का अर्थ

3.2.2 सामाजिक आन्दोलन की उत्पत्ति

3.3 सामाजिक आन्दोलन एवं लोक नीति

3.4 भारत के प्रमुख सामाजिक आन्दोलन

3.4.1 तेलंगाना आन्दोलन एवं लोक नीति

3.4.2 नक्सलवादी आन्दोलन

3.4.3 धनी किसानों का आन्दोलन

3.5 नीति निर्धारण में सामाजिक आन्दोलनों की भूमिका

3.6 सारांश

3.7 अभ्यास के प्रश्न

कुछ उपयोगी पुस्तकें

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने के उपरान्त आप निम्नलिखित तथ्यों को समझ सकेंगेः–

- सामाजिक आन्दोलन का अर्थ, उत्पत्ति एवं सिद्धान्त
- नीति–निर्माण एवं सामाजिक आन्दोलन के स्वरूप
- सामाजिक आन्दोलन की विशेषताएं
- नीति निर्धारण में सामाजिक आन्दोलनों की भूमिका
- भारत में हुए प्रमुख सामाजिक आन्दोलन

3.1 परिचय

सामाजिक आन्दोलन, समाज के सुधार और लोक नीति निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह सामाजिक आन्दोलन समाज में परिवर्तन की मांग करता है और सरकारों को जनता की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कदम उठाने के लिए बाध्य करता है। सामाजिक आन्दोलन सामाजिक परिवर्तन और विकास का एक प्रमुख कारक है। सामाजिक आन्दोलन, व्यक्तियों और संगठनों के बड़े अनौपचारिक समूह होते हैं जिनका उद्देश्य किसी विशिष्ट सामाजिक, राजनीति या आर्थिक मुद्दे पर केन्द्रित होता है तथा समाज में परिवर्तन लाने का प्रयत्न करना है। ये परिघटनाएं किसी समय तथा स्थान में विभिन्न सामूहिक क्रिया को प्रदर्शित करती हैं। सामाजिक प्रक्रियाओं के रूप में सामाजिक आन्दोलन स्थापित सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं के विरुद्ध सामूहिक असंतोष की अभिव्यक्ति के रूप में उभरे है। आधुनिक शिक्षा–प्रणाली नगरीकरण, औद्योगीकरण, यातायात एवं दूरसंचार के साधनों के विकास ने पूरी दुनिया में सामाजिक आन्दोलनों को बढ़ावा दिया है। आधुनिक युग में

लोकतन्त्र का बहुत तेजी से विकास और प्रचार हुआ है। लोकतान्त्रिक मूल्यों ने भी सामाजिक आन्दोलन को बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है, चाहे वह योगदान अप्रत्यक्ष ही क्यों न हो। इन्हीं सब कारणों से पिछले 200 वर्षो में सामाजिक आन्दोलन की प्रवृत्ति सारी दुनिया में मुखर हुई है। सामाजिक आन्दोलन का विस्तार अपने में पर्यावरण के आन्दोलन से लेकर युद्ध विरोधी आन्दोलन, महिला आन्दोलन, मजदूर आन्दोलन, किसान आन्दोलन और कई ऐसे मुद्दों के आन्दोलन को शामिल करता है जिसके बारे में औपचारिक राजनीति ध्यान नहीं देती है।

प्रतिरोध के तरीके भी इसके सामान्य राजनैतिक प्रतिरोध से अलग होते हैं। सामाजिक आन्दोलन, व्यापक जनहित और गैर–परम्परागत प्रतिरोधात्मक माध्यमों का प्रतिनिधित्व करने वाला सामाजिक दबाव समूह है। सामाजिक आन्दोलन सामान्यतया समतावादी सामाजिक संरचना की ओर उठा हुआ कदम है। दूसरी तरफ सामाजिक आन्दोलन कभी–कभी परिवर्तन विरोधी भी होते हैं, जो ऐसे प्रयत्नों का विरोध करते हैं और यथास्थिति को बनाये रखने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करते हैं। सामाजिक आन्दोलन नीति निर्माण में भी भूमिका अदा करता है, यह नीति निर्माण का प्रमुख निर्धारक है। बहुत सी नीतियों का निर्माण सामाजिक आन्दोलन के फलस्वरूप हुआ है। वर्तमान समय में सामाजिक आन्दोलन जनता का एक कारगर हथियार है जिसका उपयोग जनहित में किया जाता है।

3.2 सामाजिक आन्दोलन

सामाजिक आन्दोलन एक प्रकार की सामूहिक क्रिया है। सामाजिक आंदोलन व्यक्तियों या संगठनों के विशाल अनौपचारिक समूह होते हैं। जिसका ध्येय किसी विशिष्ट सामाजिक मुद्दे पर केन्द्रित होता है। किसी भी समाज में सामाजिक आन्दोलन तब पैदा होता है जब वहां के लोग वर्तमान स्थिति से असन्तुष्ट हों और उसमें परिवर्तन लाना चाहते हों। कई बार सामाजिक आन्दोलन किसी परिवर्तन का विरोध करने के लिए भी आयोजित किये जाते हैं। सामाजिक आन्दोलन के पीछे कोई विचारधारा अवश्य होती है। किसी आन्दोलन का प्रारम्भ पहले असंगठित रूप में होता है और धीरे–धीरे उनमें व्यवस्था व संगठन पैदा हो जाता है। सामाजिक आन्दोलन एक सामाजिक विचारधारा पर आधारित सामाजिक संरचना या व्यवस्था को बदलने का विरोध करने का एक संगठित प्रयास है।

सामाजिक आन्दोलन में वैचारिकी का एक वृहत्त पुंज है, जिसका उद्देश्य सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक व्यवस्थाओं का पुननिर्माण करना होता है। इसी पर सामाजिक आन्दोलनों के कार्यक्रम आधारित होते हैं। सामाजिक आन्दोलन कुछ संस्थापित सामाजिक सम्बन्धों का रुपांतर करने का प्रयत्न है। आन्दोलन कभी भी एक निरन्तर प्रक्रिया या घटना नहीं है। वह जनसंख्या के एक महत्वपूर्ण अनुभाग द्वारा कुछ विशिष्ट पहलुओं या समाज की प्रक्रिया विधि के विरूद्ध संकेत करते हैं।

कभी तो सामाजिक आन्दोलन सुधारवादी और अन्य समय में उसी समाज या क्षेत्र में धार्मिक और क्रांतिकारी प्रकृति के हो सकते हैं। किसी समाज में वे एक प्रारम्भिक चरण में भी हो सकते हैं जिसमें कोई महत्वपूर्ण आन्दोलन नहीं हुआ है।। किसी भी आन्दोलन में दो बातों की आवश्यकता है, पहला कुछ हद तक एक संगठन और दूसरा लक्ष्य हासिल करने के लिए सामूहिक प्रतिबद्धता।

प्रत्येक आन्दोलन के दो पक्ष होते हैं। एक तो उस आन्दोलन का सैद्धान्तिक और वैचारिक पक्ष और दूसरा व्यवहारिक और क्रियान्वयन का पक्ष। आन्दोलन दोनों पक्षों को मिलाकर ही सम्पूर्ण होता है, परन्तु जब वह व्यापक जन समुदाय में फैलता है तो उसका सम्बन्ध क्रियात्मक पक्ष से अधिक होता है। वैचारिक पक्ष को न जानते हुए भी सामान्य जनता नेतृत्व के अन्तर्गत उसका प्रचार–प्रसार और प्रयोग करती है। जैसे की मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन को लें तो विभिन्न धर्मो में दार्शनिक आधार और उनके मध्य सूक्ष्म अन्तर से जनता का कोई परिचय नहीं था, परन्तु उसके व्यावहारिक पक्ष में जो उपदेश दिया जाता था उसका वे पालन करते थे। इसी इतर 19वीं शताब्दी के जागरण में प्रत्येक आन्दोलन के पीछे वैचारिकी और सैद्धान्तिक आधार था, परन्तु सामान्य जनता अपने नेताओं का अनुसरण करती थी, जैसे सत्य और अहिंसा के सिद्धांत को बगैर समझे सामान्य जन गांधी जी का अनुकरण करते थे और उनके आदेशों का अनुपालन भी करते थे।

सामाजिक आन्दोलन का विश्लेषण समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में किया जाता रहा है लेकिन हाल के वर्षों में केवल समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में ही नहीं अपितु राजनीति विज्ञान, लोक प्रशासन, लोक नीति, इतिहास आदि विषयों के परिप्रेक्ष्य में भी इसका विश्लेषण किया जा रहा है तथा सामाजिक आन्दोलन की अवधारणा को परिवर्तित किया है। वास्तव में सामाजिक आन्दोलन समय के साथ अपने स्वरूप, मूल्य, विचार बदलता रहता है। सामाजिक आन्दोलन की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक संरचना कोई स्थिर अवधारणा नहीं है, वरन वह निरन्तर प्रवाहमान प्रक्रिया है जो अपने समय के मूल्यों, विचारों, मांगों और समस्याओं को लेकर चलता है। समकालीन समाज की,

छोटी–बड़ी घटनायें इसके साथ जुड़ती जाती हैं। कभी छोटे–छोटे सामाजिक आन्दोलन छोटे मुद्दों को लेकर किए जाते हैं और यह अल्पकालिक होते हैं। इसके विपरीत बड़े–बड़े मुद्दों को लेकर जब आन्दोलन किए जाते हैं तो काफी समय तक चलते रहते हैं। इनका उद्देश्य और फलक काफी विशाल होता है. जैसे– स्वतंत्रता आन्दोलन, सामाजिक सुधार आन्दोलन, दलित आंदोलन, किसान आन्दोलन। इन सभी आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में सामाजिक तथ्य, मूल्य विभिन्न प्रकार की विचारधाराएं आदि समाहित होते हैं।

सामाजिक आन्दोलन की क्रियायें सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाना चाहती हैं जिससे की समाज के मूल्य और सोच में परिवर्तन हो सके। नयी व्यवस्था नये मूल्यों के साथ स्थापित कर सके। सामाजिक आन्दोलन में विचार एक महत्वपूर्ण तत्व है जो इसे स्वरूप प्रदान करता है। उसे संगठित और क्रियाशील बनाने में सहायक होता है। कोई भी आन्दोलन जिसकी आधार/मूल में कोई विचारधारा नहीं है, वह न तो बहुत दिनों तक चल सकता है और न उसे कोई बड़ी सफलता ही प्राप्त हो सकती है। दुनिया में जितने भी आन्दोलन हुए हैं चाहे वे सामाजिक हो अथवा राजनीतिक, उनके पीछे एक ठोस विचारधारा रही है। एक सशक्त विचारधारा, एक मजबूत सामाजिक आन्दोलन को बढ़ाने में सहायक बनती है जैसे – नवजागरण का आन्दोलन, स्वतन्त्रता–संग्राम, किसान आन्दोलन आदि।

3.2.1 सामाजिक आन्दोलन का अर्थ

सामाजिक आन्दोलन समाज के एक वर्ग द्वारा समाज में आंशिक या पूर्ण परिवर्तन के उद्देश्य से सामूहिक लामबन्दी के रूप में किया गया और एक विचारधारा पर आधारित संगठित प्रयत्न होता है। सामाजिक आन्दोलन सामाजिक परिवर्तन का विशेष यन्त्र है जिसका लक्ष्य राजनीतिक, सामाजिक धार्मिक तथा आर्थिक जीवन में आंशिक या पूर्ण परिवर्तन होता है। यह एक सामूहिक प्रयास है जो एक सामान्य विचारधारा पर आधारित होता है तथा इसी विचारधारा पर लोग संगठित होकर अपनी समस्याओं का सामाधान करने तथा वांछित लक्ष्यों को प्राप्त करने प्रत्यन करते हैं। अर्थात् यह सामान्य विचारधारा पर आधारित सामाजिक संरचना व्यवस्था को बदलने या विरोध करने का एक संगठित प्रयास है।

सामाजिक आन्दोलनों को मुख्य रूप से ऐसे संगठित अथवा सामूहिक प्रयास के रूप में समझा गया है जो समाज में विचारों, मान्यताओं, मूल्यों तथा प्रमुख सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक संस्थाओं में परिवर्तन लाते हैं तथा उपयुक्त सामाजिक व्यवस्थाओं में होने वाले किसी परिवर्तन का प्रतिरोध करते हैं।

विभिन्न विद्वानों द्वारा सामाजिक आन्दोलन अलग–अलग ढंग से परिभाषित किया गया है। सामाजिक आन्दोलन को परिभाषित करते हुए **टर्नर एवं किलियन** लिखते हैं, "एक सामाजिक आन्दोलन एक समाज अथवा समूह जिसका कि वह भाग है, के अन्तर्गत कुछ निरन्तरता से परिवर्तन लाने अथवा उसका विरोध करने का सामूहिक प्रयास है।" **इन्टरनेशनल एनसाइक्लोपीडिया** के अनुसार "सामाजिक आन्दोलन शब्द किन्हीं सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन लाने अथवा पूर्णतः नवीन व्यवस्था के निर्माण के लिए व्यापक प्रकारों के सामूहिक प्रयासों को स्पष्ट करने के लिए प्रयुक्त होता है।"

रॉन ईरमेन के शब्दों में, "सामाजिक आन्दोलन ऐसे लोगों के समूहों द्वारा बनाए जाते हैं जो किसी सामान्य असन्तोष को सामाजिक तरीके से अभिव्यक्त करने तथा उस असन्तोष के सामाजिक एवं राजनीतिक आधारों को परिवर्तित करने की आवश्यकता अनुभव करते हुए एकत्रित होते हैं।"

हार्टन एवं हण्ट के अनुसार, "सामाजिक आन्दोलन समाज अथवा उसके सदस्यों में परिवर्तन लाने अथवा उसका विरोध करने का सामूहिक प्रयास है।"

हर्बर्ट ब्लूमर के शब्दों में, "जीवन की एक नयी व्यवस्था को स्थापित करने के लिए सामूहिक प्रयास को सामाजिक आन्दोलन कहा जाता है।"

पॉल विल्किन्सन के अनुसार "सामाजिक आन्दोलन किसी भी दिशा में सामाजिक परिवर्तन के लिए किया गया एक सुविचारित सामूहिक प्रयत्न होता है। यह सामूहिक प्रयत्न हिंसा, अवैधानिकता और क्रांति सहित किन्हीं भी प्रयत्नों के आधार पर किया जा सकता है।"

जे.पी. सिंह के अनुसार "सामाजिक आन्दोलन व्यक्तियों का एक ऐसा प्रयास है, जिसका एक सर्वमान्य उद्देश्य होता है और उद्देश्य की पूर्ति के लिए संस्थागत सामाजिक नियमों का सहारा न लेकर, लोग अपने ढंग से व्यवस्थित होकर किसी परम्परागत व्यवस्था को बदलने का प्रयास करते हैं।"

इन प्रयत्नों का उद्देश्य विशेष रूप से प्रायः किन्हीं वर्तमान सामाजिक संस्थाओं में सुधार करना उन्हें सुरक्षित रखना, उनके स्थान पर नयी संस्थाएं स्थापित करना या उन्हें समाप्त करना होता है। सामाजिक आन्दोलन में

राजनीतिक सुधार, औद्योगिक लोकतन्त्र, प्रजातीय एवं सामाजिक न्याय, धार्मिक तथा नागरिक अधिकार सम्बन्धी आन्दोलन आदि आते हैं। वर्तमान में सामाजिक तथा आर्थिक संस्थाओं में परिवर्तन अथवा सुधार करने के लिए सामाजिक आन्दोलन एक सामूहिक और शान्तिमय तरीका है, जिसकी आवश्यकता इस कारण होती है कि ये संस्थाएं अपनी भूमिकाएं पूरी नहीं कर पाती और परिणामस्वरूप समाज कल्याण कार्य के प्रभावी होने में बाधक होती हैं। सामाजिक आन्दोलन द्वारा अनेक समस्याओं को हल करने करने का प्रयत्न किया जाता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक आन्दोलन का उद्देश्य समाज अथवा सामाजिक संरचना में कोई आंशिक अथवा पूर्ण परिवर्तन लाना अथवा परिवर्तन का विरोध करना होता है। सामाजिक आन्दोलन में कई व्यक्ति अनौपचारिक रूप से सम्मिलित होते हैं, अतः यह एक सामाजिक क्रिया एवं सामूहिक प्रयास है। प्रत्येक सामाजिक आन्दोलन एक विशिष्ट परिस्थिति की देन होता है। दूसरे शब्दों में, सामाजिक आन्दोलन सुविधा विहीन वर्ग द्वारा सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिए किया जाने वाला सामूहिक प्रयास है। आन्दोलन के दौरान संरचनात्मक परिवर्तन के साथ संस्थागत नियमों, नीतियों एवं सांस्कृतिक मूल्यों में भी कमोवेश परिवर्तन होता है। फिर भी यह बहुत कुछ सीमा तक आन्दोलन की प्रकृति एवं उसके लक्ष्य पर निर्भर करता है कि उसका झुकाव संरचना अथवा संस्कृति में से किसी एक परिवर्तन लाने की ओर अधिक है अथवा दोनों में समान रूप से परिवर्तन लाने की ओर है। सामाजिक आन्दोलन की स्थिति साधारण संरचना में विद्यमान अन्तरविरोधों व तनावों के परिणामस्वरूप जन्म लेती है।

सामाजिक आन्दोलन की विशेषताएं–

सामाजिक आन्दोलनों की व्याख्या एवं विश्लेषण से कुछ विशेषताएं उभर कर सामने आती हैं जिन्हें निम्नलिखित रूप में रेखांकित किया जा सकता है। इस प्रकार सामाजिक आन्दोलन की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं।

1. सामाजिक आन्दोलनों का कोई स्थायी एवं निश्चित ढांचा नहीं होता है।
2. सामाजिक आन्दोलन का लक्ष्य और स्वरूप समयानुसार परिवर्तित होते रहते हैं।
3. सामाजिक, आन्दोलन एक सामूहिक प्रयत्न है न कि एक व्यक्तिगत प्रयास।
4. सामाजिक आन्दोलन किसी विशेष विचारधारा पर आधारित होता है। जैसे मार्क्सवाद से प्रभावित श्रमिक आन्दोलन, स्वदेशी आन्दोलन आदि।
5. प्रत्येक सामाजिक आन्दोलन में नेतृत्व एक प्रमुख तत्व होता है।
6. सामाजिक आन्दोलन आर्थिक–सामाजिक और संस्कृति में परिवर्तन लाने हेतु भी किए जाते हैं।
7. सामाजिक आन्दोलन में सामाजिक परिवर्तन का लक्ष्य समाहित होता है। कभी–कभी आन्दोलन यथास्थिति बनाए रखने के लिए भी किया जाता है।
8. सामाजिक आन्दोलन विशेष प्रकार की सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध भी किए जाते हैं, जैसे जमींदारी प्रथा, पूंजीवादी व्यवस्था आदि।
9. सामाजिक आन्दोलन में सामूहिकता की भावना समाहित होती है।
10. सामाजिक आन्दोलन में मनोवैज्ञानिक दबाव का बल होता है जो सरकार व समाज को अपनी गतिविधियों से प्रभावित करता है।
11. सामाजिक आन्दोलन किसी–न–किसी प्रकार के असन्तोष के बढ़ने से फूटता है, जैसे दहेज हत्या, भ्रष्टाचार, महिला उत्पीड़न, यौन शोषण आदि।
12. सामाजिक आन्दोलनों की एक महत्वपूर्णविशेषता यह भी है कि एक वर्ग आन्दोलन का पक्षधर होता है और दूसरा विरोधी।

उपर्युक्त सभी सामाजिक आन्दोलनों की विशेषतायें उसके व्यापक फलक को दर्शाती हैं जो समय–समय पर अपने रूप, रंग, तेवर और आन्दोलन की धार को बदलते रहते हैं। समयानुसार आन्दोलन अपने ढांचे से जुड़े विचार और गतिविधियों को नये आयाम देता रहता है। इसीलिए सामाजिक आन्दोलन का न कोई स्थायी ढांचा होता है और न विचार ही। ये निरन्तर परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरते रहते हैं। इसीलिए हमें सामाजिक आन्दोलनों के विविध रूप देखने को मिलते हैं। यह अतीत और वर्तमान के मूल्यों में जहां एक ओर सामंजस्य स्थापित किए रहते हैं वहीं भविष्य में सकारात्मक परिवर्तन की भी आशा संजोये रहते हैं। यह शान्तिपूर्ण एवं क्रांतिकारी दोनों ही

हो सकते हैं।

3.2.2 सामाजिक आन्दोलन की उत्पत्ति

सामाजिक आन्दोलन के विभिन्न पहलुओं के अध्ययन करते हैं तब यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि सामाजिक आन्दोलनों की उत्पत्ति का क्या कारण है? आन्दोलन क्यों होते हैं? इसी सिलसिले में यह भी प्रश्न उठता है कि सामाजिक संरचना में ऐसी कौन सी दशाएं होती हैं, जो सामाजिक आन्दोलन को जन्म देती हैं और आन्दोलनों के उद्‌गम को हम सैद्धान्तिक रूप से कैसे समझते हैं?

सामाजिक आन्दोलन शब्द का सबसे पहले प्रयोग **जर्मन समाजशास्त्री स्टीन** ने अपनी पुस्तक **SocialistAnd Communist Movements since the Third French Revolution (1848)** में किया था। लेकिन द्वितीय विश्व युद्ध के बाद वैश्विक और राष्ट्रीय राजनीतिक प्रणालियों में सामाजिक आन्दोलन का उदय हुआ। इसके पीछे ऐसे व्यक्ति, समूह और संगठन थे जिनका औपचारिक राजनीति के दायरों के बाहर सार्वजनिक नीतियों को जनहित के दृष्टिकोण से प्रभावित करना था। पिछले सत्तर से अस्सी वर्षो में सामाजिक आन्दोलनों ने राजनीतिक प्रणालियों और लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया पर उल्लेखनीय प्रभाव डाला है। पूरे विश्व में पर्यावरण संरक्षण के आन्दोलन, युद्ध विरोधी आन्दोलन, असंगठित मजदूरों के आन्दोलन, मानवाधिकारों के आन्दोलन, स्त्री अधिकारों के आन्दोलन तथा अन्य मुद्दों के आन्दोलन इस परिघटना की सफलता के प्रमाण है। आर्थिक उदारीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरण से उपनी जन–विरोधी प्रवृतियों के खिलाफ चल रहे आन्दोलन भी इसी श्रेणी में आते हैं।

सूचना प्रौद्योगिकी के विकास के फलस्वरूप जनसंचार में क्रांति आयी है तथा सूचना के आदान प्रदान में बहुत तीव्रता आयी है जिससे पूरा विश्व एक वैश्विक गांव के रूप में बदल गया है तथा इंटरनेट की परिघटना के उभार के बाद सामाजिक आन्दोलन के प्रसार, समन्वय और संजाल की सुविधा में और बढ़ोत्तरी हो गयी है। यदि हम आन्दोलन के उत्पत्ति के पीछे जो कारण हैं, उन्हें सैद्धान्तिक रूप से देखें तो ज्ञात होता है कि इन सिद्धान्तों का सूत्रपात अमरीकी समाज की अनुभाविक स्थिति से हुआ है। **मर्टन, रून्सीमेन और गुर्र** आदि सिद्धान्त वेत्ताओं ने सामाजिक आन्दोलन के विश्लेषण में कई सिद्धांतों को रखा है। मुख्य रूप से तीन हैं जो इस प्रकार हैं– **1. सापेक्ष वंचन का सिद्धान्त, 2. संरचनात्मक तनाव का सिद्धान्त तथा 3. पुनर्जीवन्तता का सिद्धान्त।**

सामान्यतः सामाजिक आन्दोलन लोगों के असन्तोष से ही उत्पन्न होता है, जब वे (लोग) यह महसूस करने लगते हैं कि उनको उनके हिस्से में जो मिलना चाहिए था वह नहीं मिल पा रहा है। दूसरे शब्दों में वे जब अपने आपको दूसरों की अपेक्षा ज्यादा वंचित महसूस करते हैं तो आन्दोलन का विचार उत्पन्न हो जाता है, यही है सापेक्ष वंचन का विचार। परन्तु ऐसा नहीं है कि सभी आन्दोलनों का उदय सापेक्ष वंचन से ही होता है। उनका उद्‌गम संरचनात्मक तनाव हो सकता है। जब समाज में स्थापित मूल्य तथा मानक–संरचना सदस्यों की अपेक्षाओं से मेल नहीं खाती हैं, तब समाज में तनाव होता है। जैसा कि भारत में परम्परागत समाज की बनावट की वजह से व्यक्तियों को स्वतन्त्रता नहीं थी। परन्तु यह व्यवस्था कुछ खास वर्गों पर ही लागू थी। जन्म के आधार पर ही लोगों की स्थिति का आकलन होने के कारण लोगों की क्षमता तथा योग्यता का संज्ञान नहीं लिया जाता था। अतः समाज में असंतोष बढ़ता गया और वंचित जातियों ने यथा पिछड़ी एवं दलित जातियों, आदिवासी महिलाओं तथा पुरुषों ने आन्दोलन शुरू कर दिया। यह है संरचनात्मक तनाव का नतीजा।

सामाजिक आन्दोलन के उद्‌गम का तीसरा कारक पुनर्जीवन्तता है। यद्यपि सामाजिक आन्दोलन व्यवस्था के विरुद्ध असन्तोष एवं मतान्तर को परिलक्षित करते हैं, वे सकारात्मक विकल्प भी प्रस्तुत कर सकते हैं। वस्तुतः वे वर्तमान व्यवस्था जो कि संरचनात्मक–तनाव से गुजर रही है, को पुनर्जीवित करने हेतु आरम्भ किए जा सकते हैं। लोग अपनी समस्याओं का समाधान परम्परा में ढूंढ़ते हैं। कुछ परम्परागत मूल्यों को पुनर्जीवित करने की कोशिश करते हैं, जैसे धर्म को बढ़ावा देना या धार्मिक पुस्तकों की पढ़ाई या कर्मकाण्डों पर जोर देना इत्यादि। स्कूली शिक्षा के लिए परम्परागत मदरसा या संस्कृत विद्यालयों को प्रोत्साहित करना इत्यादि एक प्रकार की पुनर्जीवन्तता ही तो है।

3.3 सामाजिक आन्दोलन एवं लोकनीति

लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था वाले देश में सामाजिक आन्दोलन, सामाजिक समस्याओं के समाधान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। लोकतांत्रिक व्यवस्था में सामाजिक आन्दोलन सामाजिक समस्याओं का दर्पण भी है। जिस देश में लोकतन्त्र जितना अधिक सशक्त होगा सामाजिक आन्दोलनों की संख्या भी उतनी ही अधिक होगी। लोकतन्त्र में जनता को यह अधिकार प्राप्त है कि वह सरकार पर आन्दोलन के द्वारा दबाव बनाए और समस्या के समाधान के लिए उसे बाध्य करे। लोकतन्त्र में जनता को यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह सरकार के कार्यों, निर्णयों, नीतियों और कानून और व्यवस्था से सन्तुष्ट नहीं है तो वह सरकार के निर्णयों और कार्यों के विरुद्ध

आन्दोलन करती है।

सामाजिक आन्दोलन लोकनीति का प्रमुख निर्धारक तत्व है तथा यह लोकनीति को प्रभावित भी करता है। सामाजिक आन्दोलन का लक्ष्य सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में आंशिक या पूर्ण परिवर्तन लाना है। यह समाज का सामूहिक प्रयास है जो किसी विशेष विचारधारा के आधार पर लोगों को संगठित कर अपनी समस्याओं का समाधान करने तथा वांछित लक्ष्यों को प्राप्त करने की प्रेरणा देता है। सामाजिक आन्दोलन लोकनीति को प्रभावित करने में सशक्त भूमिका अदा करते हैं। सामाजिक आन्दोलन अपने लक्ष्यों को लोक नीतियों द्वारा किसी नीति के निष्पादन का प्रतिरोध करने अथवा उनमें किन्हीं संशोधनों पर बल देकर प्राप्त करते हैं। सामाजिक आन्दोलन सरकार के अथवा किन्हीं अन्य सरकारी संस्थाओं व विभागों के नियमों में प्रभावी परिवर्तन लाकर अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए कार्य करते हैं।

सामाजिक आन्दोलन, सामाजिक व्यवस्था या संरचना का एक भाग है, जो नीति निर्माण को प्रभावित करते है। नीतियों का निर्माण देश के संवैधानिक उद्देश्यों को प्राप्त करने, विभिन्न सामाजिक समस्याओं को समाप्त करने, और सामाजिक प्रगति के लिए किया जाता है। सामाजिक आन्दोलन जो कि उनके सदस्यों के संघटित हितों तथा दृष्टिकोणों के द्वारा सामने आते हैं, नीति–निर्माताओं को बनाई गई नीति में परिवर्तन करने अथवा नई नीतियां बनाने के लिए बाध्य करते हैं। सामाजिक आन्दोलनों द्वारा रखी गई मांगों की निष्पक्षता व्यापक उद्देश्यों, अन्य सामाजिक वर्गो की मांगों तथा उपलब्ध साधनों को ध्यान में रखकर नीति–निर्माता सामाजिक आन्दोलन के द्वारा सामने रखे गये मुद्दों पर नीतियों का निर्माण करती है। न सिर्फ नीति के निर्माण के समय वरन उनके निष्पादन के समय भी सामाजिक आन्दोलन एक मुख्य निर्धारक के रूप में कार्य करते हैं। अतः सामाजिक आन्दोलन नीति को प्रभावित करते हैं। किसी सामाजिक व आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए नई नीति बनाने के लिए सरकार पर आन्दोलन द्वारा दबाव बनाए जाते हैं।

इस प्रकार लोक नीति–निर्माण में सामाजिक आन्दोलन की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण हो जाती है तथा नीति निर्माण में महत्वपूर्ण निर्धारकों की भूमिका निभाते हैं।

3.4 भारत के प्रमुख सामाजिक आन्दोलन

भारत में समय–समय पर अनेक सामाजिक आन्दोलन हुए हैं। इस भाग में भारत में हुए विभिन्न सामाजिक आन्दोलनों की चर्चा की जा रही है तथा नीति–निर्माण पर सामाजिक आन्दोलनों के प्रभाव को समझाने के लिए हम कुछ सामाजिक आन्दोलनों का विश्लेषण कर रहे हैं तथा उनका प्रभाव सामाजिक आन्दोलनों के प्रयासों के परिणामस्वरूप निर्मित नीतियों की जांच करके निर्धारित किया जा सकता है।

19वीं और 20वीं सदी भारतीय सामाजिक व्यवस्था के इतिहास में महत्वपूर्ण शताब्दियां रही हैं जिनमें भारतीय राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिवर्तन भी हुए। भारत में समय–समय पर अनेक सामाजिक आन्दोलन हुए तथा इसके विविध रूप दिखे हैं। कुछ प्रमुख आन्दोलन इस प्रकार हैंः 19वीं सदी के भारतीय समाज में कई कुरीतियां मौजूद थीं, जैसे, जाति–व्यवस्था, अस्पृश्यता, बाल–विवाह, कन्या–हत्या, सती–प्रथा, दलित जातियों की दुर्दशा, विधवा–विवाह निषेध इत्यादि, इन सभी कुरीतियों को दूर करने के लिए धार्मिक–सामाजिक सुधार आन्दोलन चलाये गये। इस तरह के आन्दोलन के उदाहरण हैं– आत्मीय सभा, ब्रह्म समाज, रामकृष्ण मिशन आदि। वहीं कृषक आन्दोलन के उदाहरण हैं– नील आन्दोलन (1859–60), पाबना विद्रोह (1873–76) मराठा किसान आन्दोलन और दक्कन आन्दोलन (1875), खेड़ा सत्याग्रह आन्दोलन, बारदोली के किसानों के सत्याग्रह आन्दोलन, तेभागा किसान आन्दोलन इत्यादि।

दलित और पिछड़े वर्ग के उत्थान के लिए चलाये सामाजिक आन्दोलन इस प्रकार हैं। स्वाभिमान आन्दोलन, श्री नारायण धर्म (1903), जस्टिस पार्टी (1916–17), नादार आन्दोलन (1910), पल्ली आन्दोलन (1871), नायर आन्दोलन (1891), महार आन्दोलन (1920), नमो शूद्र आन्दोलन (1901) आदि।

किसान आन्दोलन

भारत एक कृषि प्रधान देश है और भारत की अर्थ व्यवस्था कृषि पर आधारित है। ग्रामीण क्षेत्रों के लोगों का मुख्य जीवाकोपार्जन का साधन कृषि ही है। भारत में कृषक आन्दोलन भी काफी महत्वपूर्ण है जिनके माध्यम से कृषि क्षेत्र में अनेक सुधार हुए तथा कृषि के विकास के लिए अनेक नीतियों का निर्माण किया गया। सामूहिक लामबंदी, वैचारिक आधार और परिवर्तनोमुखता आदि जैसे सामाजिक आंदोलनों के मौलिक तत्त्वों पर आधारित भारत में किसान आन्दोलन एक खास तरह का सामाजिक आन्दोलन है। यह आन्दोलन भारत में कृषि समाज की संरचना को प्रभावित करने वाली नीतियों द्वारा लाए जाने वाले कुछ परिवर्तनों का विरोध तथा कुछ समस्याओं को

प्रकाश में लाने के लिए सामूहिक रूप से संगठित किया गया है। देश के विभिन्न भागों में समय–समय पर विभिन्न कृषि आन्दोलनों का उदय होता रहा है। इन किसान आन्दोलनों को दो भिन्न उपभागों के अन्तर्गत अध्ययन किया गया है, किसान आन्दोलन और धनी किसान आन्दोलन। किसान छोटे भूस्वामी, निम्न स्तर के उत्पादक, मजदूर तथा कृषक श्रमिक हैं। किसान आन्दोलन समाज के इस वर्ग में व्याप्त तत्कालीन समस्याओं जैसे भूमि स्वामित्व, भूमि पर नियंत्रण, भूमि का उपयोग, भूमि का मालिकाना हक, श्रमिकों की दयनीय स्थिति एवं मजदूरी, कृषि उत्पादन का हिस्सा, ऋण एवं संस्थागत सहायता प्रणाली आदि, इन समस्याओं के समाधान एवं परिवर्तन लाने के लिए चलाया गया आन्दोलन है। इसके अलावा यह सामाजिक तथा आर्थिक जीवन के उन सभी पहलुओं की ओर लक्षित था जिन्होंने उन्हें लम्बे समय तक भौतिक आवश्यकताओं से दूर रखा था। दूसरी ओर धनी किसान वे हैं, जिनके पास तुलनात्मक रूप से बड़ी भूमि है। आर्थिक और सामाजिक रूप से ज्यादा सम्पन्न हैं तथा व्यावसायिक खेती करने की शक्ति रखते हैं जो उनके आर्थिक हितों का संरक्षण करती है। अतः धनी किसान आन्दोलन तुलनात्मक रूप में सम्पन्न किसानों का सामूहिक तथा संगठित प्रयास है जिसके द्वारा वह विद्युत आपूर्ति, जल आपूर्ति, उन्नतशील बीज उर्वरकों के लिए अधिक सहायता तथा कृषि उपज के लिए अधिक कीमत की मांग करते हैं। इस प्रकार निम्नलिखित किसान आंदोलन हैं:

3.4.1 तेलंगाना आन्दोलन

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व तथा पश्चात दोनों ही युगों में भारत में किसानों तथा कृषि मजदूरों के कई आन्दोलन हुए। उनमें से दक्षिण भारत के अविभाजित आंध्रप्रदेश के तेलंगाना क्षेत्र में 1946 से 1952 के मध्य हुए किसान आन्दोलन (तेलंगाना आन्दोलन) सबसे अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि यह आन्दोलन शासकों तथा स्थानीय भूस्वामियों के सामंती दमन व शोषणकारी नीतियों के विरुद्ध लड़ा गया था। हैदराबाद के तेलंगना क्षेत्र में हुए आन्दोलन व सशस्त्र विद्रोह का अपना ही महत्व है। इसे कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा नेतृत्व प्रदान किया गया था। स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरंत बाद यानी 1948 में हैदराबाद में किसानों में असंतोष की भी एक सशक्त लहर देखी गई। तेलंगाना क्षेत्र के किसान जागीरदारों के नियंत्रण में थे। जागीरदारी व्यवस्था के कारण मजदूरों का जागीरदारों द्वारा लगातार शोषण किया जाता था।

तेलंगाना क्षेत्र की कृषि सामाजिक संरचना 1920 के दशक में तथा उसके बाद अत्यधिक उत्पीड़नकारी के रूप में उभरी थी। काश्तकारी में उप–सामंती की प्रक्रिया ने काश्तकारों तथा गरीब किसानों की असुरक्षा को बढ़ा दिया। ग्रामीण तेलंगाना की राजनीतिक अर्थव्यवस्था में, जागीरदार तथा देशमुख जिन्हें स्थानीय रूप से डोरा कहा जाता था, ने प्रभावी भूमिका निभाई। ये ऊंचे पदों तथा सूदखोरी तथा ग्राम अधिकारियों वाले मध्यम भूस्वामी थे तथा अधिकतर ऊंची जातियों के अथवा प्रभावशाली मुस्लिम समुदाय से थे। अपने आर्थिक और राजनीतिक रसूख के कारण ये आसानी से वेट्टी प्रथा (बंधुआ मजदूरी) के द्वारा, गरीब कृषकवर्ग का अतिरिक्त आर्थिक शोषण करते थे तथा बेगारी, कम मजदूरी, ऋणों पर अत्यधिक ब्याज दर, कम दाम पर अनाज की जबरन वसूली, तथा भू–स्वामियों के हित में काम की शर्तें इत्यादि के रूप में किसानों का शोषण किया जाता था। भूमि सम्बन्धी वर्णक्रम के सबसे निचले तबके में अछूत जातियों तथा जनजातीय समूह जैसे– कोंड़, रेड्डी, कोया आदि थे। शोषणकारी प्रथा में दलित या हरिजन तथा आदिवासी लोग सबसे अधिक पीड़ित थे। (धनागरे 1983) सामंती शोषण के अतिरिक्त शासक निजाम (हैदराबाद का शासक) भी अपनी हिन्दू जनता के विशाल जनसमूह से अत्यधिक दूरी बनाए रखते थे।

किसान इन शोषणकारी तथा अत्याचारी स्थितियों से निजात पाना चाहते थे। समाजवादियों तथा कम्युनिस्ट पार्टी ने गरीब किसानों को निजाम के खिलाफ लामबंद किया। इसने एक आन्दोलन का रूप ले लिया। 40 के दशक में वासुपुन्यया के नेतृत्व में कम्युनिस्टों ने पृथक तेलंगाना की मुहिम की शुरुआत की थी। उस समय इस आन्दोलन का उद्देश्य भूमिहीनों को भूमि का स्वामी बनाना तथा किसानों को शोषण से बचाना था। यहां पर किसानों से कम दाम पर अनाज की जबरन वसूली की जा रही थी, जिसके कारण किसानों के अन्दर आक्रोश उत्पन्न हुआ। 1946 में प्रारम्भ इस आन्दोलन में निजाम के प्रतिनिधि जागीरदारों के खिलाफ एक मुहिम की शुरुआत की गयी थी। 1946 मे यह आन्दोलन हिंसक व सशस्त्र संघर्षों में बदल गया क्योंकि स्थानीय कम्यूनिस्ट नेता कमरैया पर हमला करके उसकी हत्या कर दी गयी थी। इसकी काफी हिंसक प्रतिक्रिया हुई। किसानों ने पुलिस व जमींदारों पर हमला कर दिया तथा हैदराबाद रियासत को समाप्त कर भारत का अंग बनाने की मांग की। यह आन्दोलन जमीदारों एवं साहूकारों के शोषण की नीति के खिलाफ तथा भ्रष्ट अधिकारियों के अत्याचार के विरुद्ध किया गया था। निजाम ने इस आन्दोलन को दबाने की कोशिश की परन्तु किसानों ने इसका विरोध किया तथा न केवल उन्होंने परम्परागत हथियार का प्रयोग किया वरन सशस्त्र छापामार दलों का भी निर्माण किया। यह आन्दोलन भारतीय इतिहास का सबसे लम्बे छापामार कृषक युद्ध का साझी बना। किसानों ने, यहां तक कि औरतों ने भी मजदूरों का साथ दिया तथा निजाम की सशस्त्र सेना के खिलाफ सफलतापूर्वक युद्ध किया। जागीरदारों की

भूमि जब्त कर ली गई तथा स्वतन्त्र क्षेत्रों का निर्माण कर लिया गया। यह संघर्ष लगभग दो साल तक चलता रहा। 1949 में भारतीय सेना ने हैदराबाद के निजाम के शासन को समाप्त कर दिया और हैदराबाद को भारतीय संघ में विलय कर भारत का हिस्सा बना दिया गया तथा यह सामाजिक आन्दोलन समाप्त हो गया। इस आन्दोलन के परिणाम स्वरूप जागीरदारी व्यवस्था का उन्मूलन हो गया।

3.4.2 नक्सलवादी आन्दोलन

नक्सलवादी किसान आन्दोलन का इतिहास भारत के किसानों के संघर्ष का एक महत्वपूर्ण अध्याय है। यह आन्दोलन भारतीय समाज में गरीबी, असमानता और शोषण के खिलाफ एक प्रकार की सामाजिक और आर्थिक न्याय की मांग के रूप में उत्पन्न हुआ। नक्सलवादी किसान आन्दोलन का प्रारंभिक कारण गरीबी और समाज में असमानता की भावना था। गांवों में अधिकतर किसान गरीबी, भूमिहीनता तथा शोषण की समस्या से ग्रस्त थे। इन किसानों को अपने अधिकारों की प्राप्ति में समस्याएं उत्पन्न हो रही थीं और उन्हें लगता था कि सरकार उनकी समस्याओं को समझने और समाधान करने में अक्षम थी। इसके बाद नक्सलवादी संगठनों ने इन किसानों के लिए एक ऐसा माध्यम प्रदान किया जिसके माध्यम से वे अपने अधिकारों की रक्षा कर सकते थे।

मार्क्सवादी विचारधारा पर आधारित नक्सलवादी आन्दोलन का उदय पश्चिम बंगाल के नक्सलवाड़ी नामक स्थान से 1967 ई॰ में हुआ। इस आन्दोलन में नक्सलवाड़ी गांव के किसानों ने गांव के भूस्वामियों के विरुद्ध संघर्ष अभियान चलाया था। आरम्भ में इस आन्दोलन का उद्देश्य सामाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक समानता स्थापित करना था। इस आन्दोलन का आरंभिक नेतृत्व मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के नेता कानू सान्याल, चारू मजूमदार और जंगल संथाल ने प्रदान किया।

देश की स्वतंत्रता के तत्काल बाद पश्चिम बंगाल की सरकार ने किसानों की स्थिति को सुधारने तथा भूमि सुधार के लिए अनेक कदम उठाए। सरकार ने पश्चिम बंगाल संपत्ति अधिग्रहण कानून 1953 लागू करके जमींदारी तथा अन्य मध्यवर्ती (बिचौलिये) प्रथाओं को समाप्त कर दिया तथा पश्चिम बंगाल भूमि सुधार कानून–1955 लागू करके भूसम्पत्ति की अधिकतम सीमा तय कर दी, जिसमें अधबंटाईदारों को उपज का 60 प्रतिशत भाग मिले तथा अधबंदाईदारों की बेदखली को प्रतिबंधित किया जा सके। हालांकि, राजनीतिक इच्छाशक्ति के अभाव तथा जमींदारों के प्रभाव के कारण इन कानूनों के प्रभावी क्रियान्वयन नहीं किया गया तथा प्रगामी प्रावधान सिर्फ कानूनी किताबों में ही बंद होकर रह गए। यही नहीं काश्तकारों तथा बंटाईदारों की बेदखली, किसानों की गिरती आर्थिक, सामाजिक स्थिति उनकी आर्थिक असुरक्षा तथा बेरोजगारी उस समय के कृषि समाज का अभिन्न हिस्सा बन गई तथा किसान अनेक सामाजिक और आर्थिक समस्याओं से ग्रस्त थे तथा उपरोक्त वर्णित कानूनों के बावजूद किसानों, खेतिहर मजदूरों की सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों में कोई सकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ा तथा किसानों की स्थिति दिन–ब–दिन खराब होती गयी। वृहत्त जोतों के उन्मूलन का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि अनुचित साधनों द्वारा भू–स्वामियों द्वारा उनकी भूमि उनके सम्बन्धियों के नाम हस्तान्तरित करवा दी गई तथा कुछ मामलों में तो वे नाम भी फर्जी थे। खेतिहर मजदूरों का शोषण अभी भी किया जा रहा था। भूमिहीनता के प्रसार में कमी, छोटे तथा मध्यम वर्गीय खेतिहर की संख्या में वृद्धि से सम्पन्न किसानों यहां कि मध्यम वर्गीय भूस्वामियों पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसके अलावा, समुचित कानूनी सुरक्षा न मिलने के कारण बंटाईदारों की मनमानी बेदखली होने लगी, उन्हें कृषि उपज में हिस्सा कम मिलने लगा और उनका और अधिक शोषण होने लगा। दूसरी तरफ उद्योगों का धीमा तथा अव्यवस्थित विकास, भूमि पर लगातार बढ़ता हुआ दबाव, रोजगार के बहुत ही सीमित अवसर तथा पूर्वी बंगाल से लगातार लोगों का प्रवसन इन सभी कारणों से पश्चिमी बंगाल राज्य की आर्थिक स्थिति पूर्णतया खराब हो गई थी।

उपरोक्त वर्णित कारणों से किसानों की दबी हुई भावनाएं, जो 1967 के मार्क्सवादी, माओवादी के वैचारिक आधार पर संघटित की गई थी, वह एक आन्दोलन के रूप में प्रखर हुई जिसे नक्सलवादी आन्दोलन के रूप जाना जाता है।

नक्सलवादी आन्दोलन के आन्दोलनकारियों ने छापामार तथा गुरिल्ला युद्ध नीति अपनाई। यह छोटे किसानों तथा खेतिहर मजदूरों द्वारा चलाया गया एक क्रांतिकारी आन्दोलन था। यह आन्दोलन जो एक छोटे से ग्राम से शुरू हुआ था जल्द ही किसानों, कृषि मजदूरों तथा बंटाईदारों की मांगों का समर्थन करते हुए समस्त राज्य में प्रसारित हो गया। यह भूमिस्वामियों तथा सूदखोरों द्वारा किसानों के शोषण को समाप्त करने के उद्देश्य से चलाया गया था।

आन्दोलन की गतिविधियों में भू–स्वामियों की अधिक भूमि को बलपूर्वक जब्त करना, भू–स्वामियों के गोदामों से अनाज जब्त करना, भू–स्वामियों के खेतों में खड़ी फसल को काट लेना, सूदखोरों के ऋण के कागजात

जब्त कर लेना इत्यादि सम्मिलित थे। 1968 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी–लेनिनवादी) के गठन से तथा 1969 में चारू मजूमदार द्वारा दिये गये शत्रुओं के सर्वनाश करने के नारे ने इस आन्दोलन को पश्चिम बंगाल में और भी बल प्रदान किया। इस आन्दोलन को कई महाविद्यालयों के छात्रों का भी समर्थन मिला जब नक्सलवादी आन्दोलन के आन्दोलनकारियों ने अपना कार्य बड़े पैमाने पर शुरू किया। भू–स्वामियों को उनकी भूमि से वंचित कर दिया गया तथा "स्वतंत्र क्षेत्र" घोषित कर दिया गया। कुछ एक भू–स्वामी गांव छोड़कर भाग गये तथा कुछ ने नक्सलवादियों के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। 1970 में राष्ट्रपति शासन के पश्चात पुलिस बल ने इस आन्दोलन को बड़े पैमाने पर दबाना शुरू कर दिया तथा थोड़े ही समय में इस आन्दोलन को समाप्त कर दिया गया।

इस आन्दोलन का संचालन एक क्रांतिकारी रूप में किया गया। किसान भू–स्वामियों के खिलाफ संगठित होकर अपने आपको भू–स्वामियों और सूदखोरों के शिकंजे छुड़वाना चाहते थे। अपनाये जाने वाला दृष्टिकोण वास्तव में सबका शत्रुतापूर्ण था। वामपंथी राजनीतिक दल इस आन्दोलन का समर्थन करते थे जो कि कृषि नीतियों तथा संस्थागत संरचनाओं में सुधार लाना चाहते थे। हालांकि सरकार द्वारा इस आन्दोलन का बलपूर्वक दमन कर दिया गया था, तब भी इसके द्वारा नीति–निर्माताओं को सोचने का अवसर प्राप्त हुआ तथा इन मुद्दों पर गम्भीरता पूर्वक विचार करके नीतियों का निर्माण किया। इस आन्दोलन के तथा अन्य आन्दोलन के परिणामस्वरूप कई नीतियों का निर्माण किया गया।

3.4.3. धनी या बड़े किसानों का आन्दोलन

धनी या बड़े किसानों का आन्दोलन से तात्पर्य है विभिन्न प्रदेशों में आर्थिक रूप से सम्पन्न किसानों द्वारा किया गया आन्दोलन। भारत में बड़े किसानों का आन्दोलन तत्कालीन सरकार की नीतियों की प्रतिक्रिया स्वरूप में उभरा क्योंकि श्रीमती इंदिरा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस सरकार की नीतियां औद्योगिक विकास की ओर ज्यादा निर्देशित थीं जबकि धनी कृषकों के हितों की ओर कम निर्देशित थीं। तत्कालीन सरकार में ग्रामीण क्षेत्रों में तो भूमि सीमाबंदी और भूमि अधिग्रहण कानून को कड़ाई से लागू कर दिया गया परन्तु शहरी क्षेत्रों में भूमि तथा सम्पति पर सीमा सम्बन्धित कानून के क्रियान्वयन में कोई उत्साह नहीं दिखाया गया। धनी किसान आन्दोलन जो कि ग्रामीण हितों को अनदेखा करते, फसल की कम कीमतें तथा अन्य सम्बन्धित मुद्दों को लेकर प्रारम्भ हो चुकी थी। धनी किसान आन्दोलनों की गतिशीलता को समझने के लिए हम महाराष्ट्र तथा तमिलनाडु में हुए धनी किसान आन्दोलनों की चर्चा करेंगेः–

1. महाराष्ट्र में धनी किसान आन्दोलनः

आधुनिक भारत में महाराष्ट्र के धनी किसानों का आन्दोलन भी काफी महत्वपूर्ण है। यह आन्दोलन कृषि से संबंधित मुद्दों जैसे कपास, गन्ना और प्याज का उचित और लाभकारी मूल्य की मांग से सम्बन्धित था। इस आन्दोलन के नेतृत्वकर्ता महाराष्ट्र के सामाजिक कार्यकर्त्ता और संयुक्त राष्ट्र संघ के भूतपूर्व अधिकारी शरद जोशी थे। उन्होंने भारत बनाम इंडिया या कृषि भारत बनाम शहरी औद्योगिक भारत का नारा दिया। शरद जोशी ने अस्सी के दशक में महाराष्ट्र में हो रहे किसान आन्दोलन को एक नयी दिशा प्रदान की। उन्होंने डा० एम. जी. बोकरे द्वारा 1972 में "महाराष्ट्र कपास उत्पादक शेतकरी संघ" के नाम से चलाये गये आन्दोलन को पुर्नजीवित किया।

कपास उत्पादक किसानों को अपने उत्पाद की सही और उचित कीमतें न मिलने के कारण कर्ज का भार बढ़ता जा रहा था तथा कपास उत्पादक किसानों की आर्थिक स्थिति दिन–प्रतिदिन खराब होती जा रही थी और लगभग यही स्थिति तम्बाकू और प्याज उत्पादक किसानों की भी थी। जिनका शोषण हो रहा था। ऐसी स्थिति में श्री एम. जी. बोकारे ने कपास के उचित मूल्य निर्धारित करने तथा शोषण की समाप्ति के लिए सरकार पर दबाव डालने के लिए किसानों के साथ आन्दोलन कर दिया और इस आन्दोलन को नेतृत्व प्रदान भी प्रदान किया।

डा० शरद जोशी ने महाराष्ट्र में शेतकरी संगठन का निर्माण किया। जिसका उद्देश्य कृषि उत्पादकों के लिए लाभकारी मूल्यों का निर्धारण तथा किसानों को शोषण से निजात दिलाना था। इसके लिए शरद जोशी को बहुत ही जन समर्थन मिला। शेतकरी संगठन ने किसानों को लामबंद किया तथा 1980 में नासिक में शरद जोशी के नेतृत्व में रास्ता रोको और रेल रोको आन्दोलन चला। 10 नवम्बर 1980 को लगभग दो लाख किसानों ने बंबई–कलकत्ता और बंबई–दिल्ली के रास्ते बंद कर दिए और लगभग 32000 लोगों ने गिरफ्तारियां दीं। जैसे–जैसे आंदोलन आगे बढ़ने लगा, शरद जोशी को भी सभी तरफ से सम्पूर्ण समर्थन मिला। इसके परिणामस्वरूप महाराष्ट्र राज्य विपणन संघ में प्याज की खरीद मूल्य में 25 से 35 प्रतिशत तक की वृद्धि की गयी तथा सरकार के आदेश

पर गन्ना किसानों को मिलने वाली अग्रिम धनराशि भी 130 रुपये प्रतिटन से बढ़ाकर 180 रुपये प्रतिटन कर दी गयी। इसके अलावा शरद जोशी के शेतकरी संगठन ने निपानी के तम्बाकू उत्पादक किसानों के लिए भी आन्दोलन किया। शरद जोशी के नेतृत्व में मार्च 1981 भें तम्बाकू उत्पादक किसानों ने कर्नाटक के निपानी में रास्ता रोको आंदोलन चलाया और 21 दिनों तक वहां यातायात बन्द कर रहा। पुलिस और तम्बाकू उत्पादकों के बीच हिंसक झड़प भी हुई, पुलिस द्वारा बल प्रयोग किया गया। गोली चलने से 10 व्यक्तियों की मृत्यु हो गई तथा कई व्यक्ति घायल हो गये। शरद जोशी गिफ्तार कर लिए गये। इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप किसानों की कई मांगें पूरी की गईं। किसानों को शोषण से बचाने के लिए तथा कृषि उत्पाद को उचित मूल्य व निर्धारण के लिए सरकार ने कई सकारात्मक कदम उठाये।

2. तमिलनाडु में धनी किसान आन्दोलनः

तमिलनाडु पहला राज्य है जहां धनी किसान आन्दोलन गैर–राजनीतिक रूप से प्रारंभ किया गया। 1947 में तंजौर के एक बड़े किसान राजगोपाल नायडु ने कम्युनिस्टों द्वारा संगठित काश्तकारों के आन्दोलन के खिलाफ एक संघ का निर्माण किया। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के दमन से यह संघ समाप्त हो गया। बढ़ती हुई बिजली दरों तथा सरकारी ऋणों को चुका न पाने की क्षमता के कारण, धनी किसान धीरे–धीरे संगठित होने लगे तथा 1966 में तमिलनाडु कृषि संघ की स्थापना हुई। समय के साथ आकार बढ़ता गया तथा 1973 में यह राज्य स्तर के संगठन में परिवर्तित हो गया। किसानों को पीड़ित करने वाले मुद्दे, बढ़ती बिजली की कीमतें, किसानों का ऋण सस्ता आदि मुद्दे को लेकर तमिलनाडु कृषि संघ के बैनर तले किसानों का आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। संघ द्वारा आम हड़ताल, सामूहिक अनशन तथा सरकारी कार्यालयों के समक्ष धरना–प्रदर्शन आदि किया जाने लगा। 1977 में इस आन्दोलन ने हिंसात्मक रूप ले लिया। सरकारी कार्यालय को बंद करके अधिकारियों और कर्मचारियों को कार्यालय के अन्दर जाने से रोका गया तथा किसानों ने ऋण चुकाने से मना कर दिया। शुरू में सरकार ने इन मांगों पर ध्यान नहीं दिया तथा आन्दोलन को दबाने का प्रयास किया।

बड़ी संख्या में धनी किसानों द्वारा इसे दिये गए समर्थन को देखते हुए सरकार द्वारा बिजली दरों में कटौती, मीटर किराया तथा मासिक निर्धारित शुल्क में कमी तथा नकदी फसल पर कर समाप्त कर दिया गया। लेकिन आन्दोलन के दबाव में आकर ऋण माफ नहीं किये, जिसके कारण आन्दोलन और तीव्र व उग्र हो गया। अन्ततः 1980 में सरकार ने छोटे किसानों के ऋण माफ कर थोड़ी राहत दी। हालांकि सरकार के द्वारा यह रणनीति के द्वारा उठाया गया कदम था जिससे आन्दोलन को विभाजित कर कमजोर किया जा सके, पर यह सफल नहीं हो सका। निश्चित रूप से इस आन्दोलन से किसानों को कुछ लाभ प्राप्त हुआ।

उपरोक्त वर्णित महाराष्ट्र एवं तमिलनाडु में हुए धनी किसान आन्दोलनों की तर्ज पर अन्य राज्यों जैसे उत्तर–प्रदेश, पंजाब, हरियाणा एवं कर्नाटक आदि राज्यो में किसान आन्दोलन हुए तथा किसानों ने अपनी मांगों को मनवाने के लिए सरकार पर दबाव डाला जिसके परिणाम स्वरूप सरकार ने किसानों की अनेक मांगों को पूरा भी किया।

वर्ष 2020 में नये कृषि कानूनों के खिलाफ आन्दोलनः

जून 2020 में केन्द्र सरकार तीन नए कृषि कानूनों को ले कर आई जिसके खिलाफ किसानों ने आन्दोलन शुरू कर दिया। वर्ष 2020 में केन्द्र सरकार ने तीन नए कृषि कानून शुरू किए थे। उनमें पहला कृषि कानून– कृषि उत्पादन व्यापार और वाणिज्य, (संवर्धन और सुविधा) विधेयक 2020 था। इसके अनुसार किसान अपनी मनचाही जगह पर अपनी फसल बेच सकते थे तथा बिना किसी अवरोध के दूसरे राज्यों में भी फसल बेच सकते थे। कोई भी लाइसेंस धारी व्यापारी किसानों से परस्पर सहमत कीमतों पर उपज खरीद सकता था। कृषि उत्पादों का यह व्यापार राज्य सरकारों द्वारा लगाए मंडी कर से मुक्त किया गया था। वहीं दूसरा कृषि कानून, किसान (सशक्तिकरण और संरक्षण) मूल्य आश्वासन और कृषि सेवा अधिनियम 2020 था। यह कानून किसानों को अनुबंध खेती करने और अपनी उपज का स्वतंत्र रूप से विपणन करने की अनुमति देता था, तथा तीसरा कानून – आवश्यक वस्तु (संशोधन) अधिनियम था। इस कानून के तहत असाधारण स्थितियों को छोड़ कर व्यापार के लिए खाद्यान्न, खाद्य तेल और प्याज जैसी वस्तुओं से भण्डारण की सीमा हटा दी गई थी।

केन्द्र सरकार के उपरोक्त वर्णित तीन नए कृषि कानून लागू किए जाने पर किसान संगठनों का तर्क था कि इस कानून से सरकार न्यूनतम समर्थन मूल्य (MSP) को समाप्त कर देगी और उन्हें उद्योगपतियों की दया पर छोड़ देगी और किसानों का शोषण किया जाएगा।

इसके फलस्वरूप नवम्बर 2020 में तीन नए कृषि कानूनों के खिलाफ किसानों ने आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। इस दौरान हजारों किसानों ने दिल्ली चलो अभियान के हिस्से के रूप में कानून को पूरी तरह से निरस्त

करने की मांग को लेकर नई दिल्ली मार्च किया।

5 नवम्बर 2020 को किसानों ने राष्ट्रव्यापी आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। इसके बाद पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश के किसानों ने 'दिल्ली चलो' का नारा दिया और दिल्ली में विरोध–प्रदर्शन किया। इस आन्दोलन का अनेक किसान संगठनों ने साथ दिया। किसान यूनियन के नेता राकेश टिकैत ने नेतृत्व प्रदान किया। यह आन्दोलन लगभग एक साल तक चला। पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश तथा देश के अन्य राज्यों के किसान इन तीनों कृषि कानूनों को वापस लिए जाने के लिए आन्दोलन कर रहे थे। आन्दोलन को समाप्त करने के लिए सरकार ने किसान संगठनों से बातचीत भी की, लेकिन किसान सरकार की बातों से सहमत नहीं थे। अंततः 19 नवम्बर 2021 को सरकार ने तीनों कृषि कानूनों को निरस्त कर दिया तथा इसके फलस्वरूप आन्दोलन समाप्त हो गया।

3.5 नीति–निर्धारण में सामाजिक आन्दोलनों की भूमिकाः

सामाजिक आन्दोलन नीति निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये आन्दोलन लोगों की आवाज बुलंद करने, सरकारों को सुनने के लिए दबाव डालने का माध्यम हैं। सामाजिक आन्दोलन के कारण लोकतन्त्र मजबूत और व्यापक हुआ है। जिस देश में लोकतन्त्र जितना अधिक सशक्त होगा सामाजिक आन्दोलनों की संख्या भी उतनी ही अधिक होगी। लोकतन्त्र में जनता को यह अधिकार प्राप्त है कि वह सरकार के कार्यो, निर्णयों, नीतियों और कानून से सन्तुष्ट नहीं है तो वह सरकार के निर्णय और नीतियों के विरुद्ध आन्दोलन कर सकती है। तथा सरकार पर आन्दोलन के द्वारा दबाव बनाये तथा समस्या के समाधान के लिए उसे बाध्य करे। सामाजिक आन्दोलन सुविधाविहीन वर्ग द्वारा, सामाजिक व्यवस्था में तथा लोकनीति में परिवर्तन लाने के लिए एक यन्त्र है। आन्दोलन के दौरान संरचनात्मक परिवर्तन के साथ संस्थागत नियमों एवं सांस्कृतिक मूल्यों मे भी परिवर्तन होता है। विभिन्न सामाजिक आन्दोलनों जैसे किसानों, मजदूरो तथा धनी कृषकों के आन्दोलन के विश्लेषण से पता चलता है कि सामाजिक आन्दोलन एक सामूहिक प्रयास हैं जो किसी समूह जैसे मजदूरों व किसानों की किसी समस्या के समाधान तथा इनके सामाजिक एवं आर्थिक उत्थान के लिए आन्दोलनों द्वारा कुछ परिवर्तन लाने अथवा परिवर्तन का विरोध करने के लिए अपनायी कार्यनीतियां हैं। सामाजिक आन्दोलन का क्षेत्र बहुत व्यापक होता जा रहा है। इसके क्षेत्र मे पर्यावरण संरक्षण के आन्दोलन से लेकर महिला सशक्तिकरण आन्दोलन, मजदूर आन्दोलन, सामाजिक सुधार आन्दोलन तथा किसान आन्दोलन तथा अन्य बहुत ऐसे मुद्दों के आन्दोलन को अपने क्षेत्र में शामिल करता है, जिसके बारे में सरकार ध्यान नहीं देती है। सरकार द्वारा बनाई गई विभिन्न नीतियों को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि किसान तथा अन्य आन्दोलनों ने नीति–निर्माताओं के विचारों को प्रभावित किया है तथा उसके अनुसार नीतियों का निर्माण किया गया है, जो कुछ निम्नलिखित है।

- देश में सामाजिक सामनता व सामाजिक न्याय स्थापित करने के लिए तथा कृषि उत्पादकता बढ़ाने के लिए के लिए भूमि सुधार नीतियां प्रारम्भ की गई हैं। भूमि सुधारों को सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन के मुख्य साधन के रूप में मान्यता तथा स्वीकृति प्रदान की गयी है।

- स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात ही भूमि व्यवस्था में से मध्यस्थों (बिचौलियों) को समाप्त किया कर दिया गया। हैदराबाद में 1949 का जागीरदारी उन्मूलन अधिनियम तथा हैदराबाद काश्तकारी तथा कृषि अधिनियम 1950 इसके प्रमुख उदाहरण हैं। इसी प्रकार सभी राज्यों में जमींदारी उन्मूलन से सम्बधित अधिनियम बनाये गये।

- काश्तकारों को समयावधि की सुरक्षा प्रदान करने के लिए उनके द्वारा चुकाये गये किरायों का नियमन करने के लिए विधायी उपाय अपनाये गये।

- किसानों, मजदूरों, कृषि श्रमिकों तथा खेतिहरों को सहायता प्रदान तथा कल्याण करने के लिए सरकार द्वारा समय–समय पर विभिन्न कल्याणकारी योजनाएं चलायी गयी हैं। गरीबों के उत्थान तथा श्रमिकों को रोजगार प्रदान करने के लिए कई कार्यक्रम जैसे– समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम, ट्राइसेम, राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम, ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम, प्रधानमंत्री रोजगार योजना, स्वर्ण जयन्ती ग्रामीण स्वरोजगार योजना, मनरेगा – राष्ट्रीय रोजगार गारन्टी कार्यक्रम इत्यादि आरम्भ किये गये।

- धनी किसानों तथा उत्पादकों को कृषि फसलों का उचित मूल्य प्रदान करने के लिए कृषि कीमत निर्धारण नीति का निर्माण किया गया। उत्पादकता बढ़ाने के लिए तथा किसानों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए उत्पादन की लाभकारी कीमतें अति आवश्यक हैं।

- किसानों को कृषि उत्पादों की समुचित और सामाजिक व्यवस्था तथा किसानों को मध्यस्थों के शोषण से बचाने के लिए राज्य सरकारों द्वारा कृषि विपणन संघों की स्थापना की गई है।

- समावेशी विकास को सुनिश्चित करने, गरीबी का निवारण करने तथा भूमि जोतों में एकरूपता लाने के लिए हर राज्य की भूमि सीमा निर्धारण अधिनियम पास किया गया था। लेकिन यह कानून अधिनियम उत्साह और प्रभावी तरीके से कार्यान्वित नहीं किया गया। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के दौरान, योजना आयोग को यह निर्देश दिया गया कि भूमि सीमा से सम्बन्धित ऐसी नीति बनाई बनाई जाये कि भूमिहीनों को अधिक भूमि प्राप्त हो सके। इसके फलस्वरूप बहुत कुछ राज्यों ने यह विधान 1972 में पारित किया और कुछ अन्य द्वारा 1973 में, लेकिन 1973 तक यह अधिनियम लगभग सभी में लागू कर दिया गया था।

- वर्ष 2020 में केन्द्र सरकार द्वारा लाये गये तीन कृषि कानूनों के खिलाफ हुए किसान आन्दोलन के फलस्वरूप केन्द्र सरकार ने 19 नवम्बर 2021 को तीनों कृषि कानूनों का वापस ले लिया।

3.6 सारांश

उपरोक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि सामाजिक आन्दोलन लोक नीति–निर्माण के मुख्य निर्धारक के रूप में कार्य करता है। सामाजिक आन्दोलनों और लोक नीति निर्माण में घनिष्ठ सम्बन्ध है। सामाजिक आन्दोलन की व्याख्या सामाजिक संरचना के परिप्रेक्ष्य में होती है। इस दृष्टि से सामाजिक आन्दोलन एक विधा है जिसमें संरचना का एक भाग जो लम्बे समय से शक्ति, सुविधा एवं अवसरों से वंचित होता है, बाद में सामाजिक प्रवचन एवं प्रभेदन से मुक्ति पाने के लिए अपने प्रभुत्ता सम्पन्न वर्ग के विरुद्ध सामाजिक संघर्ष के लिए संगठित होता है। अर्थात सामाजिक आन्दोलन सुविधाविहीन वर्ग द्वारा सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिए किया जाने वाला सामूहिक प्रयास है। आन्दोलन के दौरान संरचनात्मक परिवर्तन के साथ संस्थागत नियमों एवं सामाजिक व सांस्कृतिक मूल्यों में भी परिवर्तन होता है।

सामाजिक आन्दोलन के अल्पकालीन व दीर्घकालीन अनेक स्वरूप हैं जो समय–समय पर स्थानीय, क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय स्तर पर घटित होते हैं। कभी महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटनायें भी आन्दोलन करने के लिए प्रेरित करती हैं। इनके पीछे राष्ट्रीय सामूहिक भावना और वर्गीय चेतना रहती है। सामाजिक आन्दोलन विशेष परिस्थिति में पैदा होते हैं जिसमें समाहित होती है– आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक समस्यायें। एक विशेष समस्या एक समय में जनता को आन्दोलन करने के लिए प्रोत्साहित करती है। सामाजिक आन्दोलन सशक्त नेतृत्व और संगठन की मांग करता है जिससे प्रभावी ढंग से वांछित परिवर्तन लाया जा सके।

वर्तमान समय में सामाजिक आन्दोलन, देश में व्याप्त विभिन्न सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक समस्याओं के समाधान का एक माध्यम बन गया है। सामाजिक आन्दोलन के द्वारा सरकार पर दबाव डालकर विभिन्न नीतियों का निर्माण तथा नीतियों में परिवर्तन के लिए प्रयास किया जाता है। स्वतन्त्रता के बाद भारत में अनेक सामाजिक आन्दोलन हुए जैसे नक्सलवाड़ी आन्दोलन, तेलंगना आन्दोलन, तमिलनाडु में किसान आन्दोलन, महाराष्ट्र का किसान आन्दोलन, 2020 में कृषि कानूनों के लिए खिलाफ किसान आन्दोलन इत्यादि, ये सभी आन्दोलन किसी न किसी समस्या के समाधान के लिए हुए थे तथा इन आन्दोलनों के परिणाम स्वरूप सरकार ने इस सम्बन्ध में नीति का निर्माण किया तथा पहले प्रचलित नीतियों में परिवर्तन किया। इस प्रकार सामाजिक आन्दोलन लोकनीति निर्माण के मुख्य निर्धारक के रूप में कार्य करता है तथा लोक नीति निर्माण को प्रभावित करता है।

3.7 अभ्यास के प्रश्न

1. समाजिक आन्दोलन का अर्थ, तथा उत्पत्ति का वर्णन करें।
2. सामाजिक आन्दोलन के उत्पत्ति के सिद्धांतों की व्याख्या कीजिए।
3. नक्सलवाड़ी आन्दोलन की चर्चा कीजिए।
4. सामाजिक आन्दोलन लोक नीति निर्माण का एक निर्धारक तत्व है। व्याख्या करें।
5. महाराष्ट्र के कृषक आन्दोलनों की व्याख्या करें।
6. भारत में हुए विभिन्न सामाजिक आन्दोलनों का वर्णन करें।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. भारत में सामाजिक आन्दोलन– घनश्याम शाह
2. राजनीतिक सिद्धान्त – डा० पुखराज जैन व डा० बी.एल फाड़िया
3. लोकनीति बी० ए० पी० 301 उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

इकाई –04 अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियां

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 परिचय

4.2 अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसी का अर्थ

4.3 नीति–निर्माण एवं अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियां

4.4 अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियों की भूमिका

4.4.1 अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन

4.4.2 संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन (यूनेस्को)

4.4.3 विश्व स्वास्थ्य संगठन

4.4.4 संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम

4.4.5 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

4.4.6 अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक (विश्व बैंक)

4.5 सारांश

4.6 अभ्यास के प्रश्न

कुछ उपयोगी पुस्तकें

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने के उपरान्त आप निम्नलिखित तथ्यों को समझ सकेंगे–

- अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसी की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- कुछ महत्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों की संरचना एवं उद्देश्यों की व्याख्या कर सकेंगे।
- लोकनीति–निर्माण में अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों के प्रभाव को समझ सकेंगे।
- कुछ महत्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों, जैसे अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, विश्व स्वास्थ्य संगठन, यूनेस्को, संयुक्त राष्ट्र, पर्यावरण कार्यक्रम, अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व बैंक एवं अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय निगमों की नीति–निर्माण में भूमिका को समझ सकेंगे।

4.1 परिचय

वैश्वीकरण के फलस्वरूप पूरा विश्व एक वैश्विक गांव के रूप में बदल गया है तथा वैश्वीकरण के इस युग में विश्व के सभी देश अपने सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक विकास के लिए परस्पर एक दूसरे पर निर्भर हैं। सभी देशों के बीच संगठन और सहयोग को प्रोत्साहित करने लिए अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों या संगठनों का महत्वपूर्ण योगदान है। इन एजेंसियों का मुख्य उद्देश्य विश्व शांति, सुरक्षा, सहयोग, तथा साझा विकास है तथा इसके साथ ही ये एजेंसियां विश्व के अनेक देशों में उत्पन्न होने वाली विभिन्न चुनौतियों और समस्याओं के समाधान का प्रयास करती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मानवाधिकारों की रक्षा तथा सभी मानव समुदाय के बेहतर जीवन व भविष्य हेतु लोक नीतियों के निर्धारक के रूप में इनकी भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है। वैश्वीकरण और आर्थिक उदारीकरण के इस युग में अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियां भी लोकनीति निर्माण को प्रभावित कर रही हैं। संयुक्त

राष्ट्र संघ तथा इसकी अन्य एजेंसियां जैसे, अंतराष्ट्रीय श्रम संगठन, विश्व स्वास्थ्य संगठन, यूनेस्को आदि भी लोकनीति निर्माण को प्रभावित करती हैं। इसके अतिरिक्त विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व व्यापार संगठन आदि जैसी अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियां विकासशील देशों में नीति निर्माण को प्रभावित कर रही हैं। स्टॉकहोम में आयोजित प्रथम संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण सम्मेलन में विभिन्न राष्ट्रों में बनने वाली औद्योगिक नीतियों को प्रभावित किया है। इससे विश्व के सभी देशों में पर्यावरण संबंधी जागरूकता आई है।

विश्व की समसामयिक सामाजिक–आर्थिक और पर्यावरणीय समस्याओं को हल करने तथा शांतिपूर्ण, समृद्ध और लोकतांत्रिक विश्व का सृजन करने के लिए विश्वव्यापी सहयोग की आवश्यकता है। इसी संदर्भ में संयुक्त राष्ट्र संघ तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियों द्वारा अनेक प्रयास किये जा रहे हैं। सहस्राब्दी विकास लक्ष्य–2015 तथा सतत् विकास लक्ष्य (SDGs) के माध्यम से विश्व के विभिन्न देशों में मानव के कल्याण लिए कार्य किया जा रहा है। इन लक्ष्यों में घोर गरीबी और भूख का उन्मूलन, शिक्षा को बढ़ावा देना, लिंग समानता और महिला सशक्तिकरण को बढ़ावा देना, बाल मृत्युदर कम करना, स्वास्थ्य सुधार, विभिन्न रोगों जैसे टी०बी०, मलेरिया, एड्स तथा अन्य रोगों को नियंत्रित करना और पर्यावरण सुरक्षा सुनिश्चित करना शामिल है। सतत् विकास लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियां तकनीकी और वित्तीय सहायता सहायता प्रदान करती हैं। संयुक्त राष्ट्र के साथ, वे नीति बनाने मे सहायता करती हैं, मानक व दिशा निर्देश निर्धारित करती हैं तथा सहायता प्रोत्साहित करती हैं।

इस इकाई में हम नीति निर्माण के निर्धारक के रूप में अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियो का अध्ययन करेंगे तथा लोकनीति निर्माण में संयुक्त राष्ट्र संघ तथा अन्य एजेंसियों के प्रभाव पर प्रकाश डालेंगे।

4.2 अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसी का अर्थ

अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसी या संगठन स्वतन्त्र एवं सम्प्रभु राज्यों का एक औपचारिक समूह होता है, जिसकी स्थापना अंतर्राष्ट्रीय शांति, सुरक्षा और सहयोग आदि कुछ विशेष लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए की जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसी या संगठन से तात्पर्य हैं, जिन संस्थाओं की सदस्यता, कार्य प्रणाली एवं उपस्थिति अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होती है उन संस्थाओं को अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के नाम से जाना जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसी या संगठन सभी लोकतांत्रिक देशों एवं राज्यों का संगठन है जिसके माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय शांति, सुरक्षा एवं सहयोग से संबंधित सभी कार्य किये जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम स्कॉटलैण्ड के प्रमुख विधिवेत्ता **जेम्स लोटियम** ने 18 मई 1857 ई. में एक भाषण के दौरान किया था तथा इसका आविर्भाव 19वीं शताब्दी में हुआ। यह एक ऐसा संगठन होता है जिसमें दुनिया में मौजूद सभी स्वतंत्र देशों की भागीदारी को सुनिश्चित किया जाता है। कुछ विद्वानों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना कई राष्ट्रों की एकता को दर्शाता है जिससे उन सभी राष्ट्रों को कई प्रकार से लाभ प्राप्त होता है। अंतर्राष्ट्रीय संगठन किसी देश की क्षेत्रीय संगठन की समस्याओं को दूर करने का कार्य बहुत प्रभावशाली तरीके से कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सुरक्षा, सहयोग तया अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने आदि कुछ मौलिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए की जाती है।

लियोनार्ड ने अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को परिभाषित करते हुए कहा है कि "अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के संचालन की एक विधि है, जिसमें सदस्य राष्ट्रों द्वारा स्थायी अभिकरणों के अधिकार एवं दायित्व सौंपे जाते हैं तथा जिसके माध्यम से उनके राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि होती है।"

पी. बी. पॉटर का कहना है कि "अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कार्य, संचार, समझौता तथा सहयोग को प्रोत्साहन देना है जिससे राष्ट्रीय नीतियों का अन्तर्राष्ट्रीय नीति के साथ समन्वय हो सके।"

चार्ल्स पी. उलीचर के शब्दों में "अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का अस्तित्व इसलिए है कि हम एक ऐसे अन्योन्याश्रित विश्व में रहते हैं जिसमें मनुष्य की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति तब तक संभव नहीं है जब तक उसके जीवन के कुछ निश्चित पहलुओं को अंतर्राष्ट्रीय आधार पर संगठित न किया जाए। मनुष्य की प्रमुख आवश्यकताएं शांति और समृद्धि है, जिन्हें पाने के लिए वह अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की कामना करता है।"

शीवर और हैवीलैंड के शब्दों में "अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राज्यों के मध्य संस्थापित कोई भी सहयोगात्मक व्यवस्था है जिसे सामान्यतः कुछ, सभी के लिए लाभदायक ऐसे कार्यो को करने के लिए, एक मूल समझौते के द्वारा स्थापित किया जाता है, जिन्हें सर्वाधिक बैठकों एवं स्टाफ गतिविधियों द्वारा क्रियान्वित किया जाता है।"

उपरोक्त परिभाषाओं के विश्लेषण के आधार पर कह सकते हैं कि किसी निर्दिष्ट उद्देश्य या उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संगठित, संप्रभु राज्यों के उस अविरत एवं औपचारिक समूह को अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसी या संगठन

कहा जा सकता है, जो सामान्यतः राज्यों के मध्य एक आधारभूत समझौते के द्वारा सामान्य हितों की प्राप्ति के लिए स्थापित किया जा किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के उद्देश्य

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का मुख्य उद्देश्य विश्व के सभी देशों की समस्याओं का दूर करना एवं विश्व में शांति व्यवस्था को स्थापित करना है। इसके साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राष्ट्रों के मध्य सहयोग को भी प्रोत्साहन देने का कार्य करता है। वर्तमान में संयुक्त राष्ट्र संघ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शांति एवं सुरक्षा व्यवस्था की रक्षा करता है जिससे राष्ट्रों के मध्य संबंध स्थापित होता है। इसके अतिरिक्त, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के उद्देश्य निम्नलिखित हो सकते हैं–

- अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को बनाये रखना।
- सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं मानवतावादी समस्याओं के समाधान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग।
- शैक्षिक, वैज्ञानिक एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी क्रियाकलापों का विकास तथा आदान–प्रदान करना।
- राष्ट्रों के बीच मैत्री सम्बन्धों की वृद्धि करना एवं युद्धों की रोकथाम के लिए उचित कदम उठाना।
- राष्ट्रों के सहयोग से वैदेशिक सम्बन्धों में उत्पन्न विभिन्न समस्याओं का समाधान करना।
- मानवाधिकारों की रक्षा करना।
- विकासशील व अविकसित देशों का सामाजिक एवं आर्थिक विकास करना।
- विश्व महामारी से बचाव करना।
- जीवन स्तर में सुधार करना।
- विभिन्न देशों को आर्थिक मदद करना।

अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियों या संगठनों ने विभिन्न देशों को कई प्रकार से प्रभावित किया है। यह राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय विवादों एवं समस्याओं को शांतिपूर्वक तरीके से हल करने का प्रयास करती है जिसमें विश्व में शांति–व्यवस्था बनी रहे। यह संगठन अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देकर विश्व में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विकास करने का कार्य करती है।

4.3 नीति–निर्माण एवं अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियां

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना 24 अक्टूबर 1945 में की गई। संयुक्त राष्ट्र संघ विश्व का सबसे बड़ा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है। इसका निर्माण विश्व को युद्धों की विभीषिका से बचाने, अन्तर्राष्ट्रीय कानून व्यवस्था को सुविधाजनक बनाने, मानवाधिकारों की रक्षा करने, मानव की गरिमा बनाये रखने, राष्ट्रों के बीच समानता स्थापित करने, अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा करने, सामाजिक व आर्थिक विकास करने एवं विश्व में शांति बनाये रखने के लिए किया गया था। संयुक्त राष्ट्र संघ का मुख्यालय न्यूयॉर्क में स्थित है। वर्तमान समय में संयुक्त राष्ट्र संघ में शामिल सदस्य देशों की संख्या 193 है। संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य और संगठन का उल्लेख 'संयुक्त राष्ट्र घोषण पत्र' में किया गया है, जो सैन फ्रांसिस्को अधिवेशन में 25 जून 1945 में अंगीकृत किया गया था। संयुक्त राष्ट्र चार्टर का प्रारूप तैयार करने वाले सैन फ्रांसिस्को अधिवेशन में भारत ने भी भाग लिया था। संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्य, संयुक्त राष्ट्र चार्टर की धारा–1 के अनुसार मुख्यतः चार उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

- अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की स्थापना करना।
- राष्ट्रों के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का विकास करना।
- अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और मानवीय समस्याओं के समाधान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और मानव अधिकार तथा मौलिक स्वतंत्रताओं को बढ़ावा देना।
- इन सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न राष्ट्रों के कार्यों के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए केंद्र का काम करना।

जैसा कि संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुच्छेद–1 में कहा है कि संयुक्त राष्ट्र का मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा एवं शांति की स्थापना करना है। इसके अतिरिक्त पूरे विश्व में मानव अधिकारों की रक्षा करना, अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के प्रति सम्मान सुनिश्चित करना, सामाजिक–आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास को बढ़ावा देना, जीवनस्तर सुधारना, बिमारियों और अन्य मानवीय समस्याओं का समाधान करना भी इनके उद्देश्यों में प्रमुख रूप से शामिल हैं। संयुक्त राष्ट संघ ने विश्व भर में कई अहम मौकों पर मानव कल्याण के कार्य कर एक आदर्श प्रस्तुत किया है। अपने सदस्य देशों के नीति–निर्माण में निर्धारक की भूमिका निभाने के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियों द्वारा नीति–निर्माण के कुछ व्यापक क्षेत्र उपलब्ध कराते हैं जैसे– अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा, निशस्त्रीकरण, आर्थिक एवं सामाजिक मानव अधिकार आदि। जो सदस्य देशों के नीति–निर्माण पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ अपने मुख्य अंगों और विशिष्ट अभिकरणों द्वारा अपने कार्यों का सम्पादन करता है। 'संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र' के अनुसार संयुक्त राष्ट्र के छः मुख्य अंग– महासभा, सुरक्षा परिषद्, आर्थिक और सामाजिक परिषद्, न्यास परिषद्, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और सचिवालय हैं। तथा इसके अतिरिक्त विकासात्मक कार्यों में सहयोग देने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के विशिष्ट अभिकरण भी हैं जो अंतर–शासकीय समझौतों पर आधारित होते हैं, जो सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक शैक्षिक तथा लोक कल्याण के लिए कार्य करते हैं। इनमें मुख्य हैं– अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, विश्व स्वास्थ्य संगठन, यूनेस्को, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक (विश्व बैंक) आदि। संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के बाद से ही भारत इसके अधिकांश अभिकरणों के सक्रिय रहा है।

महासभा, संयुक्त राष्ट्र का एक महत्वपूर्ण अंग है। प्रत्येक सदस्य देश को इसमें प्रभुता संपन्न समानता के आधार पर प्रतिनिधित्व प्राप्त है। आकार या शक्ति के भेदभाव के बिना प्रत्येक देश को एक ही मत का अधिकार प्राप्त है। इसकी बैठक वर्ष में कम से कम एक बार अवश्य होती है। 'संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र' के अन्तर्गत यह किसी भी विषय पर विचार विमर्श कर सकती है और अपनी अनुशंसा दे सकती है।

अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाए रखने की प्राथमिक जिम्मेदारी सुरक्षा परिषद् की है। इसके पांच स्थायी और दस अस्थायी सदस्य हैं। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, रूस और चीन इसके स्थायी सदस्य हैं। दस अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन आम सभा द्वारा दो वर्षों की अवधि के लिए होता है।

सुरक्षा परिवार की कार्यप्रणाली पांच स्थायी सदस्यों की सर्वसम्मति पर निर्भर रहता है अर्थात कोई भी निर्णय लेने के लिए इन पांचों स्थायी सदस्यों की सहमति आवश्यक है। क्योंकि इनमें से प्रत्येक के पास वीटो का अधिकार है। किसी भी स्थायी सदस्य के नकारात्मक मत का अर्थ है, प्रस्ताव की अस्वीकृति। स्थायी सदस्यों द्वारा प्रस्ताव को अस्वीकृत करने के अधिकार को 'वीटो' शक्ति कहते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा न केवल राजनीतिक समस्याओं के समाधान पर निर्भर करती है, अपितु इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य सम्बन्धित मुद्दों का सफलतापूर्ण संचालन भी आवश्यक है। संयुक्त राष्ट्र चार्टर में भी इस बात को स्वीकार किया गया है कि विश्व में शांति एवं सुरक्षा को बनाए रखने के साथ–साथ संयुक्त राष्ट्र का यह भी दायित्व है कि वह मानव समाज की सामाजिक और आर्थिक कल्याण की दशाएं उत्पन्न करे। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संयुक्त राष्ट्र द्वारा महासभा के प्राधिकार में आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् की स्थापना हुई है।

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् संयुक्त राष्ट्र का तीसरा प्रधान अंग है। संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद 61 के अनुसार आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् में 54 सदस्य होते हैं, जिनका निर्वाचन महासभा द्वारा होता है। इसका मुख्य कार्य देशों की आर्थिक एवं सामाजिक प्रगति, मानव कल्याण का बेहतर स्तर तथा मानव अधिकारों और मूलभूत स्वतंत्रताओं का पालन है। यह अंग इस मान्यता पर आधारित है कि विश्व शांति का आर्थिक एवं सामाजिक स्थायित्व से घनिष्ट संबंध है तथा शांतिपूर्ण एवं मैत्रीपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के लिए सामाजिक–आर्थिक प्रगति आवश्यक है।

संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद 55 में कहा गया है कि संयुक्त राष्ट्र जीवन के उच्चतर एवं विकास की परिस्थितियों तथा मानव अधिकारों के लिए सार्वभौमिक सम्मान को प्रोत्साहन देना। इसी तरह सामाजिक आर्थिक मुद्दे, बच्चे, महिलाएं, अल्पसंख्यक, शरणार्थी तथा विस्थापित जैसे कमजोर लोगों के साथ ही गरीबी, भुखमरी जैसी दयनीय परिस्थितियां तथा एड्स, पोलियो जैसी भयंकर बीमारियों ने संयुक्त राष्ट्र को एक सामान्य तथा सार्वभौमिक रणनीति बनाने के लिए प्रेरित किया है जिससे समस्याओं का मुकाबला किया जा सके।

सामाजिक–आर्थिक मुद्दों पर संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के

अनुच्छेद–1 में यह वर्णित है कि आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं मानवीय समस्याओं को हल करने में परस्पर सहयोग की आवश्यकता है, जिसके द्वारा मानवाधिकार एवं मूलभूत स्वतंत्रता को बढ़ावा दिया जा सके। विकासशील देशों के विकास में संयुक्त राष्ट्र की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। सात दशकों से पूरे विश्व के लोगों को सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों में सीमित सफलता के साथ संयुक्त राष्ट्र क्रियाशील है। संयुक्त संघ के विकास कार्यक्रम (UNDP) के अन्तर्गत विकासशील व गरीब देशों के अनेक कार्यक्रम संचालित किए गये हैं। पर्यावरण की रक्षा के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ पर्यावरणीय कार्यक्रम (UNEP) की शुरूआत की गई है। वर्ष 2000 में सहस्राब्दि विकास के लक्ष्यों को सामाजिक आर्थिक दृष्टिकोण के महत्वपूर्ण आयाम के रूप में संयुक्त राष्ट्र के क्रियाकलापों में स्वीकृत किया गया। इसमें आठ लक्ष्य थे, जिन्हें वर्ष 2015 तक प्राप्त किये जाने थे। सहस्राब्दि विकास लक्ष्य के अन्तर्गत निनलिखित उद्देश्यों को प्राप्त करने की घोषणा की गयी थी।

- गरीबी और भुखमरी की समाप्ति।
- सभी को सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षा।
- लैंगिक समानता एवं महिला सशक्तिकरण।
- शिशु मृत्युदर की कमी तथा प्रसूति स्वास्थ्य की बेहतर सुविधाएं।
- एड्स, मलेरिया, टी.बी. जैसी बीमारियों का पूर्णतः उन्मूलन आदि।

संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा निर्धारित सहस्राब्दि विकास लक्ष्यों को प्राप्त करने में राज्यों की उपलब्धियां अलग–अलग हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा वर्ष 2015 में सहस्राब्दि विकास लक्ष्यों के स्थान पर सतत् विकास लक्ष्य स्वीकार किया गया जिसके अनुसार वर्ष 2030 तक इन लक्ष्यों को प्राप्त किया जाएगा। इन लक्ष्यों में सामाजिक, आर्थिक और पर्यायवरणीय लक्ष्य शामिल हैं। गरीबी को सभी रूपों एवं सभी स्थानों से समाप्त करना, खाद्य सुरक्षा, पोषण तथा भुखमरी की समाप्ति और कृषि का सतत् विकास के अनुसार संचालन और इसके अतिरिक्त, सभी लोगों के लिए समान सर्वसमावेशी शिक्षा स्वास्थ्य की सुविधा उपलब्ध कराई जाएगी। लिंग समानता तथा स्वच्छता एवं जल का प्रबंधन सतत् विकास के अनुसार किया जाएगा। सर्वसमावेशी आर्थिक विकास के द्वारा सभी को रोजगार एवं कार्य प्रदान किया जाएगा। देशों के बीच और देश के अंदर विद्यमान आर्थिक विषमता की समाप्ति, पारिस्थितिकी की रक्षा एवं संरक्षण तथा जंगल को बनाए रखना, मरूस्थलीकरण को प्रतिबंधित करना तथा जैव विविधता की रक्षा एवं इसके साथ उन संस्थाओं और सहभागिता का विकास किया जाएगा, जिससे उद्देश्यों को लागू किया जा सके।

4.4 अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियों की भूमिका

संयुक्त राष्ट्र की विभिन्न विशिष्ट एजेंसियां एवं संस्थाएं हैं जो विश्व के विभिन्न देशों में सामाजिक, आर्थिक विकास, लोक कल्याण एवं सामाजिक न्याय को बढ़ावा देने तथा वहां जनता के रहन–सहन एवं शिक्षा के स्तर को ऊंचा उठाने, बच्चों एवं शरणार्थियों जैसे विशेष वर्ग को सहायता पहुंचाने और प्राविधिक एवं वैज्ञानिक ज्ञान के प्रसार के लिए विभिन्न देशों की सरकारों के साथ मिलकर कार्य कर रही है। संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में मानवीय, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक और स्वास्थ्य सम्बन्धी कल्याणकारी कार्यों को बहुत अधिक महत्व दिया गया है और इनके सफल निर्वहन के लिए ही विशिष्ट एजेंसियों का निर्माण किया गया है। इन विशिष्ट एजेंसियों में प्रमुख हैं– अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, यूनेस्को, विश्व स्वास्थ्य संगठन, विश्व बैंक एवं अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष आदि।

4.4.1 अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, संयुक्त राष्ट्र संघ की सर्वाधिक पुरानी और महत्वपूर्ण विशिष्ट एजेंसी है। इसकी स्थापना संयुक्त राष्ट्र संघ से पूर्व वर्ष 1919 में वर्साय की संधि के माध्यम से की गई थी। राष्ट्र संघ से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होने पर भी इसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व बना रहा तथा वर्ष 1946 में यह संयुक्त राष्ट्र के एक विशिष्ट अधिकरण के रूप में इसे पुनर्गठित किया गया। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का मुख्य उद्देश्य सामाजिक न्याय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त श्रमिकों के अधिकारों को प्रोत्साहन देना है। संगठन द्वारा श्रमिकों के आधारभूत अधिकारों के न्यूनतम मानदण्डों का निरूपण किया जाना है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का उद्देश्य श्रमिकों के जीवन और कार्य करने की दशा को उन्नत बनाना, श्रमिकों को आर्थिक दासता व शोषण से मुक्त कराना तथा उनका कल्याग सुनिश्चित करना है। इस हेतु श्रम संगठन का प्रयास है कि श्रमिकों के जीवन निर्वाह के लिए उचित पारिश्रमिक मिले, उनकी सामाजिक सुरक्षा का विस्तार हो, पर्याप्त भोजन की व्यवस्था हो, सामूहिक रूप से सौदा

करने का अधिकार प्राप्त हो, संघ निर्माण के माध्यम से अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मिले, उनके कार्य करने की अवस्थाओं के विषय में हितकर नीतियों की व्यवस्था हो तथा प्रबन्धकों और श्रमिकों में सहयोग स्थापित हो सके।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन एक ऐसे संगठन के रूप में निर्मित किया गया है जो त्रिपक्षीय है। जिसमें श्रमिकों, मालिकों तथा सरकार का प्रतिनिधित्व समानता के आधार पर है। इस प्रकार से बनाए जाने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन अन्तर्राष्ट्रीय सरकारी संगठनों में एक अद्वितीय संगठन है क्योंकि यही एक ऐसा संगठन है जिसमें गैर सरकारी नागरिकों यानि कि मालिकों एवं श्रमिकों के प्रतिनिधियों को सरकारों के समान ही मत एवं अन्य अधिकार प्राप्त है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि एक व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक नियमावली का निर्माण है जो विभिन्न मानदंड स्थापित करने वाले प्रस्तावों, समझौतों तथा सिफारिशों के आधार पर तैयार की गयी है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ऐसा कोई नियम पास नहीं कर सकता जो कि किसी देश पर बाध्यकारी हो। मगर राष्ट्रों को, संगठन के सुझावों एवं अभिसमयों की उपयुक्त विधायी संस्थाओं तथा अधिकारियों तक पहुंचाए जाने के लिए अपनाये गये। उपायों को संगठन तक पहुंचाना होता है तथा यह भी जवाब देना होता है कि उन अधिकारियों द्वारा उन्हें पूरा करने के लिए क्या आवश्यक कदम उठाये जा रहे हैं।

एक बार अगर किसी अभिसमय समझौता को स्वीकृति प्रदान कर दी गई है तथा वह लागू कर दिया गया तो उसे स्वीकृत करने वाला प्रत्येक देश उसके प्रावधानों को प्रभावी बनाने के लिए आवश्यक कदम उठाने के लिए बाध्य है। प्रथम तो श्रमिक अथवा मालिकों के संगठन अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय में अपना प्रतिनिधित्व भेज सकते हैं, अगर उन्हें लगे कि सरकार स्वीकृति समझौते अथवा अभिसमय को पूरा करने में असफल है। यदि वह सरकार उस आरोप का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दे पाती है तो अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की प्रबन्ध परिषद उस आरोप तथा सरकार द्वारा दिये गये जवाब को प्रकाशित करने का निर्णय भी ले सकती है। द्वितीय कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के सदस्य किसी अन्य सदस्य के खिलाफ स्वीकृत समझौते को पूरा न करने की शिकायत भी कर सकता है। ऐसे मामलों में संगठन के संविधान में यह प्रावधान है कि वह अपनी कार्यवाही का प्रतिवेदन प्रस्तुत कर सकता है अथवा जैसे वह ठीक समझे, सुझाव भी प्रस्तुत कर सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का मुख्य कार्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक तथा सामाजिक मानदण्डों के निर्धारण के लिए समझौते एवं सिफारिशें प्रस्तुत करे। इन समझौते एवं सिफारिशों को मिलाकर अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संहिता का निर्माण होता है तथा विभिन्न सदस्य देशों को मानव शक्ति की क्षमता बढ़ाने तथा बेरोजगारी के विरूद्ध संघर्ष में सहायता करे। बहुत से सदस्य देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय श्रम मानकों एवं इस संगठन के क्षेत्रीय निकायों के सहयोग से बेरोजगारों की सहायता करने के कई उपयोगी कदम उठाये हैंः रोजगार कार्यालय खोले हैं तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण सुविधाओं को विकसित किया गया है।

अतः अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, श्रम संबंधी अन्तर्राष्ट्रीय मानदण्डों का निर्धारण करने तथा सामाजिक न्याय स्थापित करने में सफल हुआ है। इसकी विभिन्न सिफारिशों, अभिसमयों एवं सुझावों ने श्रमिक समस्याओं के सम्बन्ध में सरकारों के दृष्टिकोण को ही बदल दिया है तथा श्रमिक प्रबंध सम्बन्धों को सुधारने, श्रमिकों के आधारभूत अधिकारों की सुरक्षा करने, सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने में तथा श्रम विवादों को कम करने में सहायता मिली है।

4.4.2 संयुक्त राष्ट्र शक्षिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन (यूनेस्को)

संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, विज्ञान एवं सांस्कृतिक संगठन(यूनेस्को) संयुक्त राष्ट्र की एक विशेष एजेंसी है जो वैश्विक स्तर पर शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के माध्यम से विश्व में शांति स्थापित करने का कार्य करती है। इसका सामान्य उद्देश्य राष्ट्रों के मध्य शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति द्वारा सहयोग की अभिवृद्धि करते हुए जाति, लिंग भाषा या धर्म के भेदभाव के बिना संयुक्त राष्ट्र चार्टर में वर्णित विश्व की सभी वर्गों व जातियों के लोगों के लिए न्याय, विधि के शासन तथा मानव अधिकारों तथा मौलिक स्वतंत्रताओं के लिए विश्वव्यापी सम्मान बढ़ाकर शांति और सुरक्षा में योगदान देना है।

संयुक्त राष्ट्र शैक्षणिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृति संगठन की स्थापना 4 नवंबर 1945 को हुई थी। इस संगठन की स्थापना के लिए नवंबर 1945 में लन्दन में एक सम्मेलन आयोजित किया गया, जिसमें 44 राज्यों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया और 4 नवंबर 1946 को इसकी विधिवत स्थापना की गई। तत्पश्चात् इसे एक करार द्वारा संयुक्त राष्ट्र से सम्बद्ध कर दिया गया। महासभा ने इस करार का अनुमोदन 14 दिसम्बर 1946 को कर दिया। यूनेस्को का मुख्यालय पेरिस में स्थित है। इसके 193 सदस्य देश है। यूनेस्को का मुख्य उद्देश्य वैश्विक स्तर पर सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक क्षेत्र में व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करना है तथा शिक्षा, विज्ञान तथा सांस्कृतिक के अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के द्वारा विश्व में शांति एवं सुरक्षा की स्थापना करना है। यूनेस्को के मुख्य

उद्देश्य निम्नलिखित है–

- वैश्विक स्तर पर निरपेक्षता समाप्त करना।
- वैश्विक स्तर पर शिक्षा का स्तर को बढ़ाना।
- मूलभूत शिक्षा को बढ़ावा देना।
- सभी के लिए गुणवत्तायुक्त शिक्षा और जीवन पर्यन्त सीखने हेतु प्रेरित करना।
- सांस्कृतिक विविधता, परस्पर संवाद एवं शांति की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करना।
- विज्ञान एवं वैज्ञानिक शोध को उत्साहित करना।
- वैज्ञानिक ज्ञान के प्रचार को प्रोत्साहन देना।
- सूचना और संचार के माध्यम से समावेशी ज्ञान से युक्त समाज का निर्माण करना।

यूनेस्को एक तरफ तो शिक्षा, विज्ञान और कला के लोकतंत्रीकरण को प्रोत्साहित करता है और साथ ही दूसरी तरफ सभी विज्ञानों एवं बौद्धिक गतिविधियों की समस्त क्षेत्रों जो भौतिक और आत्मिक विकास से सम्बन्धित है, उनकी प्रगति में सहायता करता है।

यूनेस्को संगठन के तीन प्रमुख अंग है– सामान्य सभा, कार्यकारी परिषद् और सचिवालय। सामान्य सभा, यूनेस्को का प्रतिनिधिक अंग है। इसमें सभी सदस्य राज्यों के प्रतिनिधि होते हैं। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र पांच प्रतिनिधि भेज सकता है, किन्तु प्रत्येक राज्य को केवल एक मत देने का अधिकार प्राप्त है। इसका अधिवेशन प्रत्येक दूसरे वर्ष होता है। सामान्य सभा का कार्य संगठन की नीतियों और कार्यक्रमों का निर्धारण करना, बजट की स्वीकृति प्रदान करना, प्रशासन परिषद् का निर्वाचन करना, शिक्षा, विज्ञान तथा ज्ञान प्रसार के लिए सम्मेलनों का आयोजन करना, सदस्य राज्यों से वार्षिक प्रतिवेदन प्राप्त करना, बहुमत द्वारा अनुशंसा करना तथा दो तिहाई बहुमत द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय समझौते पारित करना है।

कार्यकारी परिषद् को यूनेस्को का हृदय कहा जाता है। इसमें 58 सदस्य हैं जिनका निर्वाचन सामान्य सभा द्वारा तीन वर्षों के लिए किया जाता है। सदस्यों का चयन कला, विज्ञान, मानव विज्ञान अथवा शिक्षा के क्षेत्र में किया जाता है। यह परिषद् सामान्य सम्मेलन एवं डायरेक्टर जनरल के मार्गदर्शन में कार्य करता है। सामान्य सम्मेलन के प्राधिकार के अधीन कार्यकारी परिषद् सम्मेलन द्वारा निर्मित कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के लिए उत्तरदायी है।

सचिवालय संगठन के प्रशासनिक एवं सेवा संबंधी कार्यों को करता है। इसमें एक महानिदेशक एवं अन्य अधिकारी होते हैं। महानिदेशक की नियुक्ति कार्यकारी परिषद की सिफारिश पर सामान्य सम्मेलन द्वारा की जाती है। महानिदेशक की सहायता के लिए अधीनस्थ कर्मचारियों की भी व्यवस्था की गई है।

यूनेस्को ने शिक्षा, विज्ञान तथा सांस्कृतिक व अन्य क्षेत्रों में सराहनीय कार्य किया है। यह एक बहुआयामी संस्था है। यूनेस्को तथा राष्ट्रीय सरकारों ने सम्मेलन, विचार, गोष्ठियों, बैठक, प्रकाशनों, संचारण, प्रदर्शनी एवं प्रतियोगिताओं के माध्यम से इसके विशिष्ट कार्यक्रमों के प्रति जनता की अभिरूचि जागृत की है तथा शिक्षा, प्राकृतिक विज्ञान, सामाजिक एवं मानवीय विज्ञानों, संस्कृति का अध्ययन एवं प्रोत्साहन तथा संचार के विकास से विश्व भर में महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त की है। भारत की विभिन्न लोक नीतियों में भी यह स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। जैसे– समावेशी विकास नीति, शिक्षा नीति, गरीबी उन्मूलन नीति आदि।

4.4.3 विश्व स्वास्थ्य संगठन

विश्व स्वास्थ्य संगठन संयुक्त राष्ट्र के विशिष्ट अभिकरण है। विश्व स्वास्थ्य संगठन की स्थापना 7 अप्रैल 1948 में हुई थी। इस संगठन की स्थापना के लिए आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् ने 19 जून 1946 को न्यूयार्क में एक सम्मेलन आयोजित किया तथा 22 जुलाई 1946 को विश्व स्वास्थ्य संगठन के संविधान को अपनाया गया तथा जुलाई 1948 में संयुक्त राष्ट्र से एक करार द्वारा सम्बद्ध किया गया। विश्व स्वास्थ्य संगठन का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वास्थ्य के क्षेत्र में कार्य करना है। वर्तमान समय में विश्व स्वास्थ्य संगठन के 194 सदस्य देश हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन का मुख्यालय स्विट्जरलैण्ड के जिनेवा नामक शहर में स्थित है। यह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वास्थ्य संबंधी निर्देशों को जारी करके स्वास्थ्य सेवाओं को मजबूती प्रदान करने का कार्य करता है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन का प्रमुख उद्देश्य विश्व के सभी लोगों के स्वास्थ्य के स्तर को बेहतर करना व ऊंचा उठाना है और रोगों की रोकथाम, नियंत्रण और उन्मूलन तथा स्वास्थ्य और कल्याण को बढ़ावा देना है। विश्व स्वास्थ्य संगठन विश्व भर में पोलियो, टी.बी., मलेरिया, रक्ताल्पता, नेत्रहीनता, कुष्ठ और एड्स जैसी गम्भीर बीमारियों का इलाज एक रोकथाम के लिए विभिन्न देशों के साथ मिलकर कार्य कर रहा है। सरकारों के अनुरोध पर स्वास्थ्य सेवाओं को मजबूत करने लिए सहायता भी करता है और विभिन्न प्रकार के तकनीकी एवं चिकित्सकीय सहायता भी उपलब्ध कराता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के तीन प्रमुख अंग है– विश्व स्वास्थ्य सभा, कार्यकारी परिषद् तथा सचिवालय। विश्व स्वास्थ्य संगठन का संचालन इन्हीं तीनों अंगों के माध्यम से होता है। विश्व स्वास्थ्य सभा, संगठन का प्रधान नीति निर्धारक अंग है। यह सभी सदस्य राज्यों की प्रतिनिधि सभा है। इसके अधिवेशन प्रतिवर्ष होते हैं एवं प्रत्येक सदस्य को एक मत देने का अधिकार प्राप्त है। इसका मुख्य कार्य संगठन की नीतियों का निर्धारण एवं संस्था के बजट को पारित करना है।

कार्यकारी परिषद् में 32 सदस्य होते हैं। यह एक तकनीकी अंग है। इनके सदस्यों का निर्वाचन स्वास्थ्य एवं चिकित्सा के क्षेत्र में उच्च तकनीकी योग्यता रखने वाले व्यक्तियों में से किया जाता है। इनका निर्वाचन स्वास्थ्य सभा द्वारा तीन वर्षों के लिए किया जाता है। इसकी बैठक वर्ष में दो बार होती है।

सचिवालय विश्व स्वास्थ्य संगठन का तीसरा अंग तथा मुख्य कार्यालय है जिसमें एक महानिदेशक तथा कर्मचारियों एवं पदाधिकारियों का स्टाफ होता है। महानिदेशक संस्था का प्रमुख तकनीकी एवं प्रशासकीय अधिकारी होता है। यह अपने कार्यों का सम्पादन विशेषज्ञ समितियों के माध्यम से करता है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन की उद्देशिका में कहा गया है कि प्रत्येक मानव का यह मौलिक अधिकार है कि उसे उच्चतम स्तर की स्वास्थ्य सुविधाएं दी जायें। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए यह संगठन वैश्विक स्तर पर अनेक कार्यों को सम्पादित करता है।

- वैश्विक स्तर पर स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों का संचालन एवं समन्वय करना।
- राष्ट्रीय सरकारों को स्वास्थ्य सुविधा को मजबूत करने में सहायता प्रदान करना।
- परामर्शदात्री और सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाएं, तकनीकी सेवाएं, अन्य विशिष्ट एजेंसियों के साथ सहयोग, राष्ट्रीय सरकारों की मांग पर सहायता, स्थानिक, संक्रामक तथा अन्य रोगों का उन्मूलन करना।
- विश्व के लोगों के पर्यावरणीय स्वास्थ्य की परिस्थितियों तथा आहार पोषण, सफाई तथा काम करने की दशाओं को उन्नत करना।
- स्वास्थ्य के क्षेत्र में अनुसंधान कार्य करना तथा स्वास्थ्य, शिक्षा एवं प्रशिक्षण के स्तर को ऊंचा करना।
- विभिन्न दवाओं, खाद्य पदार्थों तथा अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय मानक निश्चित करना।
- अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय करारों एवं अभिसमयों को प्रस्तावित करना।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि विश्व स्वास्थ्य संगठन का लक्ष्य मात्र बीमारियों का उन्मूलन ही नहीं है, अपितु सम्पूर्ण शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक विकास को प्रोत्साहन देना भी है तथा विश्व स्वास्थ्य संगठन अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वास्थ्य सम्बन्धी परामर्शदात्री तथा तकनीकी सेवाएं भी प्रदान करता है। यह विश्व के देशों के स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं पर आपसी सहयोग एवं मानक विकसित करने वाली संस्था है तथा राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति–निर्माण में भी यह संगठन महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

विभिन्न कठिनाइयों, समस्याओं एवं वित्तीय अभावों के बावजूद विश्व स्वास्थ्य संगठन ने स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्र में महत्वपूर्ण एवं सराहनीय कार्य किया है। यह सलाहकारी तथा तकनीकी दोनों कार्य सम्पादित करता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन कई देशों में मलेरिया, टी.बी., पोलियो, इन्फ्लूएंजा, चेचक आदि रोगों को समाप्त करने की कार्यवाही में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। भारत में संक्रमण रोगों के नियंत्रण, स्वास्थ्य सेवा कर्ताओं को प्रशिक्षण एवं समुचित शिक्षा प्रदान करने, विशेष कर ग्रामीण क्षेत्रों में अस्पताल खोलने तथा नशीली दवाओं के व्यसन से छुटकारा पाने के लिए केन्द्र खोलने इत्यादि से सम्बन्धित लोक नीतियां स्पष्ट कर देती हैं कि भारतीय नीत–निर्माण पर विश्व स्वास्थ्य संगठन के दिशा–निर्देशों का कितना गहरा प्रभाव पड़ा है।

4.4.4 संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम

बीसवीं शताब्दी में पृथ्वी पर जनसंख्या में तीव्र वृद्धि, तीव्र नगरीकरण, औद्योगीकरण, प्रौद्योगिकी का विकास,

प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध दोहन तथा अनियोजित विकास प्रक्रिया के परिणामस्वरूप पर्यावरण पर दबाव और नकारात्मक प्रभाव पड़ा है जिसके परिणामस्वरूप विश्व में पर्यावरण सम्बन्धित अनेक समस्याएं उत्पन्न हो गयी है, जैसे– प्रदूषण, भूमि अपरदन, वैश्विक भूतापन, निर्जलीकरण, सूखा, बाढ़ आदि। ये समस्याएं बहुत ही गम्भीर हैं जो पृथ्वी के साथ ही मानव के अस्तित्व के लिए भी एक गम्भीर चुनौती है। इससे विश्व के सभी क्षेत्रों में सरकारें तथा जनता जागरूक हुई है तथा इस स्थिति की गम्भीरता को सभी देशों ने महसूस किया है। इन पर्यावरणीय समस्याओं से निपटने के लिए संयुक्त राष्ट्र की साधारण सभा ने 1968 में मानवीय पर्यावरण पर एक विश्व सम्मेलन बुलाने का निर्णय लिया। इसी के परिणाम स्वरूप पर्यावरण प्रदूषण तथा अन्य समस्याओं पर सन् 1972 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने स्वीडन के स्टॉकहोम शहर में विश्व के देशों का पहला मानव पर्यावरण सम्मेलन आयोजित किया। यह सम्मेलन पर्यावरणीय समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित करने में सफल रहा। इस सम्मेलन में प्रतिभाग करने वाले सभी देशों के प्रतिनिधियों ने मानवीय पर्यावरण पर एक 109 सूत्रीय कार्ययोजना अपनाने की घोषणा की जिसे स्टॉकहोम घोषणापत्र 1972 के नाम से प्रसिद्ध है।

संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (U.N.E.P.) संयुक्त राष्ट्र की एक एजेंसी है। इसकी स्थापना जून 1972 में मानव पर्यावरण पर स्टॉकहोम में आयोजित संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन के फलस्वरूप की गई थी। यह कार्यक्रम संयुक्त राष्ट्र की सभी एजेंसियों की पर्यावरणीय गतिविधियों का समन्वय करता है एवं सरकार, वैज्ञानिक व व्यावसायिक समुदाय और गैर–सरकारी संगठनों के साथ मिलकर कार्य करता है। इसका मुख्यालय नैरोबी (केन्या) है। इसका मुख्य उद्देश्य पर्यावरण सम्बन्धी मामलों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का संवर्धन करना, पर्यावरण संबंधी गतिविधियों को नियंत्रण करना तथा पर्यावरण संबंधी जानकारी का संग्रहण, मूल्यांकन एवं पारस्परिक सहयोग सुनिश्चित करना है। यह संगठन संयुक्त राष्ट्र की प्रथम ऐसी एजेंसी है जिसकी शुरूआत और मुख्यालय की स्थापना एक विकासशील देश में की गई है।

संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम एक शासी परिषद द्वारा संचालित होता है। इस परिषद के प्रतिनिधियों का निर्वाचन संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा किया जाता है। इसमें 58 सदस्य हैं। इसका अधिवेशन प्रत्येक दूसरे वर्ष होता है। यह संगठन के कार्यों में समन्वय करने के साथ–साथ उनकी नीतियों एवं दिशा–निर्देशों का निर्धारण करता है। शासी परिषद की सहायता के लिए स्थायी प्रतिनिधियों की एक समिति होती है। यह संबंधित विषयों पर परिषद को अनुशंसाएं देती है एवं उसे तकनीकी और विशेष सलाह प्रदान करती है।

संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम का मुख्य कार्य है, पहला पर्यावरण की रक्षा के लिए किये जा रहे प्रयासों को नेतृत्व प्रदान करना और देशों के बीच पर्यावरण की रक्षा के लिए आपसी सहयोग एवं भागीदारी को बढ़ावा देना है। दूसरा यह संयुक्त राष्ट्र के सभी अभिकरणों की पर्यावरणीय गतिविधियों का समन्वय करता है तथा सरकार, वैज्ञानिक व व्यावसायिक समुदाय और एन.जी.ओ. के साथ मिलकर कार्य करता है। तीसरा, प्राकृतिक संसाधनों भूमि, जल, समुद्री एवं तटीय आदि के सतत् उपयोग के लिए कार्यक्रमों को प्रोत्साहित करता है। चौथा, विश्व के पर्यावरणीय परिवर्तनों पर निगरानी रखता है एवं मानव जनसंख्या पर उसके दुष्प्रभाव को कम करने का प्रयास और पांचवां, यह मरूस्थलीकरण पर नियंत्रण, जल संरक्षण, पर्यावरणीय शिक्षा एवं विकासशील देशों को उनके पर्यावरण सम्बन्धी कार्यों में सहायता करता है। और पर्यावरण से संबंधित राष्ट्रीय नीतियों का समन्वय करता है। संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम का प्रयास है कि मनुष्य पर्यावरण को हानि पहुंचाये बिना, अपने आने वाली पीढ़ियों का जीवन खतरे में डाले बगैर अपने जीवन स्तर में सुधार करे तथा खुशहाली के साथ रहे। इसके कार्यों के अन्तर्गत पर्यावरण से जुड़ी लगभग सभी समस्याएं आ जाती हैं, जैसे–प्रदूषण, जलवायु परिवर्तन, ओजोन परत में कमी, पानी का संकट, महासागर व तटवर्ती क्षेत्र, जंगलों का काटना, समुद्री प्रदूषण, भूमि अपरदन एवं रेगिस्तानीकरण, जैव–विविधता आदि। संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम पर्यावरण तंत्र के ह्रास को रोकने के लिए प्राकृतिक संसाधनों के सतत उपयोग से संबंधित कार्यक्रमों और नीतियों को प्रोत्साहित करता है। यह मनुष्य पर नकारात्मक प्रभाव डालने वाले पर्यावरणीय परिवर्तनों, रासायनिक तथा जहरीले अपशिष्टों के प्रभाव को कम करने का प्रयास कर रहा है। वर्ष 1992 में पृथ्वी सम्मेलन में यू.एन.ई.पी. के सहयोग से 'एजेंडा–21' नामक कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया तथा इसके द्वारा अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन तथा कार्यक्रम प्रारंभ किए गये हैं।

स्टॉकहोम में हुए मानव पर्यावरण पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन के बाद भारत ने पर्यावरण संरक्षण के लिए आवश्यक कदम उठाये एवं पर्यावरण संरक्षण से संबंधित अनेक जागरूकता, विधान, समस्याएं, एजेंसियों एवं नीति का निर्माण किया है।

4.4.5 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष वह संगठन है जो वैश्विक स्तर पर वित्तीय स्थिरता को सुनिश्चित करने का कार्य करता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना 22 जुलाई, 1944 को 'संयुक्त राष्ट्र मुद्रा एवं वित्त सम्मेलन' (बेटन

वुड्स सम्मेलन) में एक समझौते तहत की गयी। यह समझौता 27 दिसम्बर, 1945 से प्रभावी हुआ तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने मार्च, 1947 से अपना विधिवत कार्य प्रारम्भ किया। इसी वर्ष विशेष समझौते द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को संयुक्त राष्ट्र संघ से सम्बद्ध कर दिया गया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष उद्देश्य, अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की उन्नति करना, आर्थिक वृद्धि करना, रोजगार का ऊँचा स्तर तथा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान असन्तुलन को दूर करने लिए सदस्य राज्यों को अस्थायी वित्तीय सहायता प्रदान करना है। लराममेरनाम

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैंः–

- अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग को उन्नति करना।
- अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सन्तुलित विकास को बढ़ावा देने में मदद करना और उत्पादक क्षमता के विकास में योगदान करना।
- मुद्रा विनिमय दरों को स्थिर बनाना।
- सदस्य देशों के बीच व्यवस्थित विनिमय का प्रबन्ध करना।
- विदेशी विनिमय को नियंत्रित करने में उत्पन्न बाधाओं को दूर करना।
- विनिमय मूल्य ह्रास की रक्षा करना।
- कम अवधि के विनिमय की सुविधा देना।
- सदस्य राज्यों के मध्य भुगतान की बहुपार्श्व प्रणाली प्रणालियों की स्थापना करना।
- अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान अन्तरों की विषमता कम करना।
- अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान असन्तुलन कम करना।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है जो अपने सदस्य देशों की वैश्विक आर्थिक स्थिति पर नजर रखने का कार्य करती है। यह अपने सदस्य देशों को आर्थिक और तकनीकी सहायता प्रदान करती है। यह संस्था अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय दरों को स्थिर रखने के साथ–साथ विकास को सुगम करने में सहायता करती है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष सहकारी तथा स्थायी वैश्विक मौद्रिक ढांचे को संवर्धित करने लिए स्थापित एक प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है। इसकी विशेष मुद्रा एस.डी.आर. (स्पेशल ड्राइंग राइट्स) है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और वित्त के लिए कुछ देशों की मुद्रा का प्रयोग किया जाता है, इसे एस.डी.आर. कहते हैं। एस.डी.आर में डॉलर, पाउंड, येन और यूरो सम्मिलित हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के 190 राष्ट्र सदस्य हैं। जब से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को संस्थापित किया गया है, तब से इसके उद्देश्य में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, परन्तु इसके संचालन, जिनमें निगरानी, वित्तीय तथा तकनीकी सहायता शामिल है, विकासोन्मुखी विश्व अर्थव्यवस्था में इसके सदस्य देशों की बदलती आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विकसित हो गए हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के चार प्रमुख अंग हैं, जिसमें हैं– संचालक मण्डल या प्रबन्धक मण्डल (Board of Governors), कार्यकारी निदेशक मण्डल या कार्यकारी संचालक मण्डल, प्रबन्ध निर्देशक एवं अन्य अधिकारी एवं कर्मचारी शामिल होते हैं। संचालक मण्डल या बोर्ड ऑफ गवर्नर्स, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सर्वोच्च संस्था है। कोष की समस्त शक्तियां इसी मे निहित हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के बोर्ड ऑफ गवर्नर्स में एक गवर्नर तथा प्रत्येक सदस्य देश से एक वैकल्पिक गवर्नर शामिल होता है। इसकी बैठक सामान्यतः वर्ष में एक बार होती है। भारत की ओर से वित्त मन्त्री अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के बोर्ड ऑफ गवर्नर्स के पहले गवर्नर हैं तथा भारतीय रिजर्व बैंक के गवर्नर भारत की ओर से वैकल्पिक गवर्नर होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का दूसरा प्रमुख अंग निदेशक मण्डल होता है। इसमें कम से कम 24 निदेशकों की नियुक्ति की जाती है, जिनमें से 5 स्थाई और शेष अस्थाई होते हैं। नये देशों की सदस्यता सदस्यों का कोटा निर्धारण आदि इसके महत्वपूर्ण कार्य हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के दिन–प्रतिदिन के कार्य का संचालन प्रबंध निदेशक द्वारा किया जाता है। इस संस्था में लगभग 3000 कर्मचारी और अधिकारी कार्यरत हैं, जो एक प्रबंध निदेशक के अन्तर्गत कार्य करते हैं। प्रबन्ध निदेशक संगठन का सर्वोच्च पदाधिकारी होता है और कार्यकारिणी निदेशकों द्वारा चुना जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का प्रधान कार्यालय वाशिंगटन डी.सी., अमेरिका में स्थित है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष पर भेदभावपूर्ण नीति अपनाने का आरोप लगता रहा है। इसके बावजूद इस संगठन ने विनिमय संबंधी कृत्रिम अवरोधों को दूर करने, विदेशी विनिमय की समस्याओं पर परामर्श देने तथा मुद्रा सुधार के क्षेत्र में सफलतापूर्वक कार्य किया है।

4.4.6 अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक (विश्व बैंक)

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक अर्थात विश्व बैंक, संयुक्त राष्ट्र की एक विशेष एजेंसी है। इसकी स्थापना द्वितीय विश्वयुद्ध काल में ब्रेटन वुड्स सम्मेलन (1944) में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के साथ की गयी थी। जून 1946 से इस बैंक ने अपना कार्य प्रारम्भ किया, तथा नवम्बर 1947, में यह संस्था संयुक्त राष्ट्र का विशिष्ट अभिकरण बन गया। विश्व बैंक का प्रधान कार्यालय वाशिंगटन में स्थित है। विश्व बैंक ऋण, गारंटी, जोखिम प्रबन्धन उत्पादों और विश्लेषणात्मक और सलाहकार सेवा के माध्यम से सतत् विकास को बढ़ावा देकर गरीबी से लड़ने और विकासशील देशों के लोगों के जीवन स्तर में सुधार करने के लिए एक मिशन के साथ दुनिया की अग्रणी विकास संस्थाओं में आता है। विश्व बैंक गरीबी में संपोषीय कमी लाने के उद्देश्य से सतत विकास लक्ष्यों तक पहुंचने के अपने प्रयासों पर ध्यान केन्द्रित किए हुए है। यह विकसित एवं विकासशील देशों को दीर्घकालीन ऋण प्रदान करके उनकी आर्थिक स्थिति को मजबूत करता है।

विश्व बैंक का मुख्य उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों के पुनर्निर्माण और विकास के कार्यो में आर्थिक सहायता देना है। विश्व बैंक समूह पांच संस्थाओं का समूह है जो देशों को वित्त और वित्तीय सलाह देता है। विश्व बैंक के निम्नलिखित उद्देश्य हैं –

1. सदस्य देशों के पुनर्निर्माण एवं विकास में सहायता प्रदान करना तथा उन्हें दीर्घकालीन पूंजी उपलब्ध कराना।
2. भुगतान सन्तुलन की साम्यता एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सन्तुलित विकास हेतु दीुर्घकालीन पूंजी विनियोग को प्रोत्साहित करना जिससे कि सदस्य राष्ट्रों की उत्पादकता में वृद्धि हो, फलतः मानव शक्ति की स्थिति एवं जीवन–स्तर और अधिक उन्नत हो सके।
3. अल्प–विकसित देशों को दीर्घकालीन ऋण प्रदान कर, उनको आर्थिक विकास में सहायता प्रदान करना। निजी पूंजी निवेश की गारंटी प्रदान करना।
4. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहित करना।
5. युद्धजर्जित अर्थव्यवस्थाओं को शान्तिकालीन अर्थव्यवस्था के रूप में परिवर्तित करने हेतु उपयुक्त कार्यक्रमों एवं परियोजनाओं को लागू करना।
6. युद्ध द्वारा विनष्ट एवं विच्छन्न देशों को दीर्घकालीन ऋण प्रदान कर उनका पुनर्निर्माण एवं विकास करना।

विश्व बैंक का सदस्य बनने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य होना आवश्यक है। विश्व बैंक का प्रमुख कार्य है, पूंजी निवेश नियोजन की सुविधा देकर सदस्य देशों के पुनर्निर्माण तथा विकास में सहायता देना, तथा अल्पविकसित राज्यों में उत्पादक सुविधाओं और संसाधनों के विकास को प्रोत्साहन देना। पर्याप्त मात्रा में मौद्रिक एवं औद्योगिक सहायता प्रदान करके उनके आर्थिक विकास को बढ़ाना। विश्व बैंक का प्रबन्ध त्रिस्तरीय होता है, जिसमें एक अध्यक्ष, बोर्ड ऑफ गवर्नर्स तथा बोर्ड ऑफ एक्जीक्यूटिव डाइरेक्टर्स की व्यवस्था है। बोर्ड ऑफ गवर्नर्स में प्रत्येक सदस्य देश से एक गवर्नर होता है। अध्यक्ष का चुनाव बोर्ड ऑफ एक्जीक्यूटिव डाइरेक्टर्स द्वारा होता है जिसकी संख्या 24 है, जिनमें 5 की नियुक्ति उन देशों द्वारा की जाती हैं जिनके बैंक मे अधिकतम अंश है और 19 बोर्ड ऑफ गवर्नर्स द्वारा चुने जाते हैं। एक अनौपचारिक परम्परात्मक समझौते के अनुसार विश्व बैंक का अध्यक्ष एक अमेरिकी नागरिक ही हो सकता है। बोर्ड ऑफ एक्जीक्यूटिव की बैठक अध्यक्ष के निर्देशन में होती है। बोर्ड ऑफ एक्जीक्यूटिव डाइरेक्टर्स, बैंक की सबसे शक्तिशाली संस्था है जो बैंक की समस्त नीतियां निर्धारित करती है।

भारत विश्व बैंक का संस्थापक सदस्य है। भारत बैंक संचालन मण्डल का भी स्थायी सदस्य है। भारत ने कृषि–भूमि सुधार, कृषि तकनीकी विकास, रेल विकास सड़क निर्माण, नदी घाटी योजना विकास, औद्योगिक विकास एवं पंचवर्षीय योजनाओं के लिए विश्व बैंक से ऋण प्राप्त किया है।

विश्व बैंक अपने प्रधान उद्देश्यों– पुनर्निर्माण एवं विकास, को प्रोत्साहन देने में काफी सफल रहा है तथा विश्व बैंक ने युद्ध में क्षतिग्रस्त तथा विकासशील देशों को ऋण प्रदान करके उनका तकनीकी एवं आर्थिक विकास

किया है। विश्व बैक एक अग्रिम ऋणदाता है, जो सदस्य देशों की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखकर उन्हें ऋण प्रदान करता है एवं आर्थिक असंतुलन की स्थिति को समाप्त करने में उनकी सहायता करता है।

4.5 सारांश

इस इकाई में हमने लोक नीति–निर्माण के निर्धारक के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियों की भूमिका का अध्ययन किया। वैश्वीकरण के इस युग में संयुक्त राष्ट्र तथा अनेक अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियां भी सदस्य देशों में लोक–नीति निर्माण को प्रभावित करते हैं। विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, यूनेस्को, विश्व स्वास्थ्य संगठन आदि जैसी अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियां लोक नीति–निर्माण को प्रभावित करती रहती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसी देशों के बीच सहयोग बढ़ाने, मार्गदर्शन, तकनीकी एवं वित्तीय सहायता देने के लिए अन्तररर्राष्ट्रीय मंच प्रदान करती हैं। वे विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय मंचों में गरीब व विकासशील देशों के पक्ष की वकालत भी करते हैं, इससे नीति–निर्माण के उपलब्ध विकल्पों का विस्तार कर सकते हैं।

वर्तमान समय में संयुक्त राष्ट्र संघ और उसकी सहयोगी एजेंसियों ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मानव जीवन के प्रत्येक पहलू को प्रभावित किया है। जैसे– अन्तर्राष्ट्रीय शांति, सुरक्षा, विकास इत्यादि। संयुक्त राष्ट्र अपने विभिन्न विशिष्ट एजेंसियों के साथ मिल कर विश्व में शांति और सुरक्षा के साथ विश्व के विभिन्न देशों में सामाजिक, आर्थिक विकास, लोक कल्याण एवं सामाजिक न्याय को बढ़ावा देने, वहां के लोगों के रहन–सहन एवं शिक्षा के स्तर को ऊंचा उठाने, बच्चों और शरणार्थियों जैसे विशेष वर्ग को सहायता पहुंचाने और प्राविधिक एवं वैज्ञानिक ज्ञान के प्रसार करने में सरकारों के साथ मिलकर सराहनीय कार्य किया है। सामाजिक आर्थिक विकास और सतत विकास लक्ष्यों को प्राप्त करने में राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों की भूमिका महत्वपूर्ण है तथा इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए राष्ट्रीय नीति प्रभावित होती है। स्टॉकहोम में आयोजित प्रथम संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण सम्मेलन ने विभिन्न देशों में बनने वाली औद्योगिक नीतियों को प्रभावित किया है। इससे विश्व के सभी देशों में पर्यावरण संबंधी जागरूकता आई है। इस प्रकार राष्ट्रीय नीतियां अन्तर्राष्ट्रीय समझौते व अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियों के कार्यों से प्रभावित होती है।

4.6 अभ्यास के प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय संगठन से आप क्या समझते हैं?
2. अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा स्थापित करने में संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका का वर्णन करें।
3. लोक नीति–निर्माण में अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियों की भूमिका वर्णन करें।
4. अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के उद्देश्य एवं कार्यो का वर्णन करें।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अन्तर्राष्ट्रीय संबंध – डा.षशि शुक्ला
2. अन्तर्राष्ट्रीय संगठन– एस.एस. जायसवाल
3. भारतीय विदेश नीति– राजेश मिश्रा
4. अन्तर्राष्ट्रीय संगठन– कुलदीप फाड़िया
5. प्रशासन एवं लोक नीति– मनोज सिन्हा
6. ईपीए० 06– लोक नीति निर्माण मुख्य निर्धारक– बुकलेट–4, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
7. बी०ए०पी०ए०– 301 अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियां इकाई–1.5 उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,

इकाई –5 नीति निष्पादन में सरकारी एजेंसियों की भूमिका

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 परिचय

5.2 नीति–निष्पादन का अर्थ और प्रकृति

5.3 नीति–निष्पादन सम्बन्धी आवश्यक तत्व

5.4 प्रभावकारी नीति–निष्पादन की आवश्यक शर्तें

5.5 नीति–निष्पादन के प्रतिमान

5.6 नीति–निष्पादन में सरकारी एजेंसियों की भूमिका

5.6.1 नीति–निष्पादन में विधायिका की भूमिका

5.6.2 नीति–निष्पादन में कार्यपालिका की भूमिका

5.6.3 नीति–निष्पादन में न्यायपालिका की भूमिका

5.7 सारांश

5.8 अभ्यास के प्रश्न

5.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

5.0. उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप निम्नलिखित तथ्य को समझ सकेंगेः

- नीति–निष्पादन का अर्थ व प्रकृति
- नीति–निष्पादन एक प्रक्रिया के रूप में
- नीति निष्पादन सम्बन्धी आवश्यक तत्व
- नीति–निष्पादन में कार्यपालिका, विधायिका एवं न्यायपालिका की भूमिका

5.1 परिचय

नीति–निष्पादन नीति चक्र का एक महत्वपूर्ण भाग है। नीतियों का कार्यान्वयन उतना महत्वपूर्ण है जितना कि नीति निर्माण। क्रियान्वयन के अभाव में नीति निर्माण की कोई प्रासंगिकता नहीं है। अगर नीति बहुत अच्छी हो लेकिन उसका क्रियान्वयन ढंग से नहीं हो पाए तो वह अंततः असफल नीति ही कही जाएगी। किसी भी नीति की सफलता उसके क्रियान्वयन पर ही निर्भर करती है। लोक नीतियों एवं कार्यक्रमों को सफलतापूर्वक क्रियान्वयन करने का उत्तरदायित्व विभिन्न सरकारी एजेंसियों पर होता है। सरकार की नीतियां एवं योजनाएं कितनी भी अच्छी क्यों न हों, उनके परिणाम तभी सफल हो सकते हैं, जब उन्हें कुशलतापूर्वक एवं सत्यनिष्ठा पूर्वक क्रियान्वयन किया जाये। **डोनहैम** ने लिखा है कि "यदि आधुनिक मानव सभ्यता का पतन हुआ तो ऐसा मुख्यतयः प्रशासन की असफलता के कारण होगा।" इस कथन का अर्थ है कि अगर सार्वजनिक नीति व कानून कुशलतापूर्वक क्रियान्वयन नहीं किया जाये तो किसी देश व समाज का पतन हो सकता है।

नीति–निर्माण को लोक प्रशासन का सार समझा जाता है। लोकनीति वह सभी कुछ है जो सरकार करना अथवा नहीं करना चाहती है। इसका संबंध सुरक्षा, समाज–सेवा, संचार, स्वास्थ्य, शिक्षा, ऊर्जा पर्यावरण, कल्याण, शहरी एवं ग्रामीण विकास, मूल्य नियंत्रण इत्यादि जैसे कई क्षेत्रों में से चयन करने से है। लोक नीति विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त की जा सकती है, जैसे कानून, अध्यादेश, न्यायिक निर्णय, कार्यपालिका के आदेश, प्रशासकों के निर्णय।

लोक नीतियां वे नीतियां हैं जिनकी प्रकृति सार्वजनिक होती है तथा ये एक राजनीतिक व्यवस्था में सरकार द्वारा बनाई और क्रियान्वित की जाती है। यह नीतियां समाज को बेहतर बनाने वाले निर्दिष्ट लक्ष्यों को पूरा करने की ओर लक्षित होती हैं। दूसरे शब्दों में, यह समूचे समाज के कल्याण अथवा समाज में रहने वाले एक खास वर्ग के कल्याण का लक्ष्य लेकर चलती हैं। अर्थात लोक नीतियां समाज के लिए कुछ विशेष लक्ष्यों की प्राप्ति से संबंधित निर्णय होती हैं। ये नीतियां बड़ी संख्या में अधिकारियों द्वारा विचार–विमर्श की लम्बी प्रक्रिया द्वारा बनाई जाती हैं।

लोक प्रशासन की सफलता का मूल्यांकन नीतियों के कार्यान्वयन के सन्दर्भ में ही किया जाता है। नीति कार्यान्वयन सरकार की सफलता के लिए निर्णायक रूप से महत्वपूर्ण है। नीति–निष्पादन, नीति चक्र का एक महत्वपूर्ण पहलू है। नीतियां सफल तभी हो सकती हैं जब उसका क्रियान्वयन प्रभावी रूप से हो तथा वे उन उद्देश्यों को पूरा करें जिनके लिए उन्हें बनाया गया था।

नीति निष्पादन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक नीति के लक्ष्य एवं प्रतिज्ञाएं पूरी की जाती हैं। नीति निष्पादन एक प्रक्रिया है जिसमें कई चरण शामिल हैं। सबसे पहला चरण नीति वक्तव्य/दस्तावेज का अध्ययन करना एवं समझना है। निष्पादन एवं कार्यान्वयन एजेंसियां नीति दस्तावेज का गहन अध्ययन करते हैं तथा अस्पष्टता के बिन्दुओं और दिए गए बिन्दुओं पर स्पष्टीकरण की मांग करते हैं। इसके बाद नीति को विभिन्न खंडों में बांटने का दूसरा चरण आता है। ऐसा करने के लिए लक्षित क्षेत्र समूह, आवश्यक साधनों, उपलब्ध साधनों, इत्यादि का सही विश्लेषण एवं निर्धारण आवश्यक है। साधनों का फैलाव नीति के विभिन्न विभाजित खण्डों के आधार पर किया जाता है। तीसरा चरण नीति के कार्यान्वयन से प्रभावित होने वाले व्यक्तियों के समूह तथा क्षेत्र से आवश्यक सूचनाएं एवं आंकड़े इकट्ठा करने का है। अन्त में, नीति के कार्यान्वयन के लिए सम्बन्धित एजेंसियां मानकों तथा मानदण्डों का निर्धारण करती हैं।

नीति निर्माण के लिए विधायिका आधिकारिक एजेंसी है तो नीतियों के निष्पादन के लिए कार्यपालिका आधिकारिक अंग है। नीतियों के कार्यान्वयन का कार्य, व्यवहार में प्रशासन तन्त्र करता है। प्रशासन विधायिका द्वारा निर्मित नीतियों को कार्यान्वित करने के लिए अपने अनुभव एवं विशेषज्ञता का इस्तेमाल करता है। तथापि विधायिका का नीति निष्पादन में भी प्रशासन तन्त्र के साथ अप्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है। जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि नीतियों के कार्यान्वयन के प्रति काफी सचेत होते हैं। विधायिका के पास ऐसे कई साधन होते हैं जिनके द्वारा वह प्रशासन तन्त्र को नीतियों को प्रभावी ढंग से एवं तीव्रता के साथ कार्यान्वित करने के लिए बाध्य कर सकती है।

नीति निष्पादन में न्यायपालिका भी अपनी भूमिका निभाती है। ऐसा सामान्यतः तब होता है जब नीति के उद्देश्य सुस्पष्ट नहीं होते तथा उस नीति की कई व्याख्याएं की जा सकती हैं। ऐसे मामलों में न्यायालय अपना निर्णय देते हैं तथा उनका निर्णय अन्तिम मान लिया जाता है।

नीति निष्पादन सरकार का प्रमुख दायित्व है, फिर भी गैर–सरकारी एजेंसियां जैसे स्वैच्छिक संगठन, दबाव समूह एवं नागरिक भी नीति निष्पादन प्रक्रिया में योगदान देते हैं। हाल के वर्षों में स्वैच्छिक संगठन समकालीन सामाजिक मुद्दों जैसे पर्यावरण सुरक्षा, गरीबों को कानूनी मदद, उपभोक्ता संरक्षण, मानव अधिकारों के संरक्षण, बाल कल्याण, इत्यादि में सक्रिय रूप से भाग लेते रहे हैं।

इस ईकाई में नीति–निष्पादन के अर्थ, प्रकृति और आवश्यक तत्व के अलावा नीति के क्रियान्वयन में सरकारी एजेंसियों जैसे विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की भूमिका का अध्ययन किया गया है।

5.2 नीति–निष्पादन का अर्थ व प्रकृति

नीति निष्पादन का अर्थ है लोक नीति को कार्यान्वित करना और नीतियों के प्रभाव सुनिश्चित करना। लोक नीति का क्रियान्वयन लोक नीति प्रक्रिया का महत्वपूर्ण व अभिन्न अंग है। लोक नीति की सफलता, इसके क्रियान्वयन पर निर्भर करती है। यदि लोक नीति का उपयुक्त ढंग से कार्यान्वयन किया जाए तो इसके वांछित उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है। अतः लोक नीति को सुव्यवस्थित व प्रभावी परिपालन या लागू करना ही नीति क्रियान्वयन या निष्पादन कहलाता है।

विभिन्न समस्याओं एवं मुद्दों को सुलझाने के लिए सरकारी एजेंसियों द्वारा नीतियों का निर्माण किया जाता है। नीति–निर्माण के पश्चात् उसका वास्तविक रूप में क्रियान्वयन किया जाता है। निर्मित नीतियां तब तक बेकार हैं जब तक उनका प्रभावी एवं सक्षम रूप से क्रियान्वयन नहीं किया जाता है। नीतियों का क्रियान्वयन उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि उसका निर्माण। **जेफरी प्रेसमैन तथा विल्दावस्की** ने अपनी पुस्तक Implementation **(1973)** में लिखा है, "लक्ष्यों के निर्धारण तथा उनकी प्राप्ति हेतु उठाए जाने वाले कदमों के मध्य अन्तरक्रिया की

प्रक्रिया को क्रियान्वयन कहते है।" इस प्रकार नीति–निष्पादन का अर्थ नीतियों के क्रियान्वयन से लिया जाता है। विधायिका नीतियों का निर्माण करती है तथा कार्यपालिका नीतियों का क्रियान्वयन अपने विभागों एवं कार्यपालिका के माध्यम से सम्पन्न करवाती है।

आधुनिक प्रशासकीय राज्यों में राज्य के समस्त दायित्वों की पूर्ति लोक सेवाओं के माध्यम से ही होती है अतः सर्वोच्च सत्ता अर्थात विधायिका द्वारा निर्मित एवं स्वीकृत लोकनीति का क्रियान्वयन प्रशासनिक कार्यपालिका का वैधानिक दायित्व है। विधायिका द्वारा निर्मित लोकनीति या नीतिगत प्रस्ताव में मूलभूत लक्ष्यों का वर्णन रहता है अतः व्यावहारिक धरातल पर नीति का क्रियान्वयन करने के लिए कतिपय नियम, उपनियम, कार्यक्रम तथा रणनीति निर्मित करनी पड़ती है। प्रदत्त विधान व्यवस्था के कारण नौकरशाही आवश्यकतानुसार, नीति से सम्बन्धित विस्तृत प्रावधान निर्मित करती है। चूंकि अधिकांश लोक नीतियां किसी न किसी विभाग या विषय से सम्बन्धित होती हैं, अतः लोकनीति के क्रियान्वयन की जिम्मेदारी सम्बन्धित मंत्रालय की होती है। सम्बन्धित विभाग का मंत्री लोकनीति से सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर देने, स्पष्टीकरण देने तथा नीति के क्रियान्वयन को सुनिश्चित करने के लिए उत्तरदायी होता है। विभाग का सचिव नीति से सम्बन्धित विशेष परामर्श मंत्री को प्रदान करता है। नीति सम्बन्धित दस्तावेज में वर्णित प्रावधानों के अनुरूप नीति का मूल्यांकन भी किया जाता है। परिवर्तित परिस्थितियों तथा जनता के आवश्यकता अनुरुप लोक नीति संशोधित की जा सकती है। वस्तुतः लोकनीति का वास्तविक क्रियान्वयन कार्यकारी संस्थाओं में कार्यरत लोकसेवकों तथा अनेक गैर–सरकारी संस्थाओं एवं व्यक्तियों द्वारा भी किया जाता है।

नीति–निष्पादन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा नीति के लक्ष्यों एवं उद्देश्यों का पूरा किया जाता है। इस प्रक्रिया में कई चरण शामिल होते है।

1. प्रथम चरणः नीति वक्तव्य/दस्तावेज को समझना –

लोक नीति क्रियान्वयन के प्रथम चरण में सम्बन्धित क्रियान्वयनकारी अभिकरण द्वारा नीति के वक्तव्य या दस्तावेज का बारीकी से अध्ययन किया जाता है। यदि किसी बिन्दू पर उलझन प्रतीत हो तो उच्च स्तर से स्पष्टीकरण या दिशा–निर्देश भी मांगे जाते हैं। इस चरण में प्रत्येक तरह के अस्पष्ट बिन्दुओं पर विचार–विमर्श किया जाता है और एक निश्चित समझ बनाई जाती है ताकि आगे किसी प्रकार के संदेह न रहे।

2. द्वितीय चरणः नीति का विभाजन या बंटवारा–

द्वितीय चरण में लोक नीति को उसके कार्यक्षेत्र, लक्ष्य, उद्देश्यों, आवश्यक साधनों, उपलब्ध साधनों तथा समय के अनुसार विभिन्न खण्डों या भागों में विभाजित किया जाता है। नीति के विभिन्न विभाजित खण्डों के अनुसार ही साधनों का विस्तार किया जाता है। अर्थात इस चरण में नीति को क्षेत्रवार या समूहवार बांटने का काम होता है। इसके तहत लक्षित क्षेत्र या समूह पर ध्यान दिया जाता है। उपलब्ध संसाधनों के संदर्भ में यह तय किया जाता है कि नीति को प्रथमतः किन क्षेत्रों और किन समूहों पर लागू किया जाएगा। इसके अंतर्गत यह भी देखा जाता है कि किस क्षेत्र में नीति की सर्वाधिक जरूरत है और किस क्षेत्र में अपेक्षाकृत कम। इसी आधार पर संसाधनों का आवंटन किया जाता है।

3. तृतीय चरणः सूचना एकत्रण–

इस चरण में नीति के क्रियान्वयन से प्रभावित होने वाले व्यक्तियों, समूहों तथा क्षेत्रों से आवश्यक सूचनाएं एवं आंकड़े एकत्र किए जाते हैं। ये सूचनाएं और आंकड़े नीति के प्रभाव और उसके मूल्यांकन में काफी सहायक होते हैं। इसके अतिरिक्त ये सूचनाएं उस नीति के लक्षित व्यक्तियों तथा अन्य सम्बन्धित (अलक्षित) व्यक्तियों या समूहों के बारे में इसलिए एकत्र की जाती हैं ताकि क्रियान्यवन में आने वाली समस्याओं या विरोध स्वरों का पता चल सके। ऐसे में सुरक्षात्मक या बचावात्मक कदम उठाए जा सकते हैं।

4. चतुर्थ चरणः क्रियान्वयन मानदण्ड का निर्धारण–

चौथे चरण में इन उपरोक्त तीनों चरणों के आलोक में अर्थात् तमाम तरह की सूचनाओं, आंकड़ों और जमीनी हकीकत के संदर्भ में नीति–क्रियान्वयन के लिए एक मानदंड या मानक बनाया जाता है जो आगे के लिए राह आसान कर देता है अर्थात् नीति–निष्पादन के इस चरण में क्रियान्वयनकारी अभिकरण द्वारा नीति के क्रियान्वयन के लिए आवश्यक मानकों एवं मानदण्डों का निर्धारण किया जाता है। ये मानक परिणामात्मक एवं गुणात्मक दोनों प्रकार के हो सकते हैं।

इन चरणों की कोई निश्चित अवधि नहीं होती है। कभी–कभी ये चरण शनैः शनैः तो कभी एक साथ भी

क्रियान्वित होते देखे गए हैं। सामान्यतः लोकनीति पूर्णतयाः इसी रूप में क्रियान्वित नहीं हो पाती है जिस रूप में वह निर्मित होती है और कोई भी नीति अपने आप में स्वनिष्पादित भी नहीं होती है। लोक नीतियां किसी न किसी कार्य नीति या कार्य योजना के अनुसार क्रियान्वित होती है।

लोकनीति के क्षेत्र में नीति–निष्पादन को **एचीलस की एड़ी (Achilless's Heel)** कहा जाता है अर्थात् लोक नीति प्रक्रिया का यह कमजोर पक्ष है। भारत सहित अनेक राष्ट्रों के लिए कहा जाता है कि यहां जितनी कुशलता लोक नीति के निर्माण में दिखाई देती है उतनी नीतियों के क्रियान्वयन में दिखाई नहीं देती है। **लुई डब्ल्यू. कोयनिंग** का कहना है– "चारों और एक ही विलाप सुनाई देता है कि सरकारें स्वयं द्वारा निर्मित नीतियों एवं कार्यक्रमों को सफलतापूर्वक क्रियान्वित नहीं कर पा रही है।" बहुत से विश्लेषकों का निष्कर्ष है कि सामान्यतः लोक नीतियों का निर्माण तो कुशलता पूर्वक होता है किन्तु दोषपूर्ण क्रियान्वयन से वे सफल नहीं हो पाती हैं। इसी क्रम में **कोयनिंग** कहते हैं– "आलोचनाओं के इस जंगल में हमें नीति–निष्पादन द्वारा प्राप्त ठोस उपलब्धियों को नजरअंदाज नहीं करना चाहिए। आज मनुष्य चांद पर पहुंच गया है, युद्ध लड़े एवं जीते जाते हैं, प्रतिदिन डाक का वितरण होता है, पुलिस एवं अग्नि सुरक्षा प्रदान की जाती है, करों का संग्रहण होता है, सामाजिक सुरक्षा लाभों का वितरण होता है, प्रदूषण कम किया जाता है, राष्ट्र के स्वास्थ्य में सुधार किया जाता है। समाज के योग्यतम व्यक्तियों में से कतिपय सरकार के लिए कार्य करते हैं तथा क्रियान्वयनकर्ताओं के रूप में कई उपलब्धियां एवं रिकॉर्ड बनाते हैं, जिन नौकरशाहियों में न तो सम्पूर्णतया दक्ष एवं कुशल होते हैं और न ही पूर्णतया अकुशल। इसी तरह अधिकारी भी योग्य व अयोग्य होते हैं।"

5.3 नीति–निष्पादन सम्बन्धी आवश्यक तत्व

नीति द्वारा निर्धारित की गयी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नीति का प्रभावशाली निष्पादन आवश्यक है, किसी समस्या के समाधान या किसी वांछित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए नीति का निर्माण किया जाता है। नीति की सफलता नीति के निष्पादन पर निर्भर करती है। नीति का जितने प्रभावशाली ढंग से निष्पादन या क्रियान्वयन किया जायेगा, उसका परिणाम भी उतना ही सफल तथा प्रभावी प्राप्त होगा। सफल या प्रभावी नीति–निष्पादन के लिए निम्नलिखित तत्वों की आवश्यकता होती है, जिनका निर्धारण नीति निर्माण के दौरान की जाने वाली पूर्व योजना में ही करना अपेक्षित है।

1. वित्त–

नीति–निष्पादन के लिए वित्त एक आवश्यक तत्व है। वित्त के अभाव में कोई भी कार्य सम्भव नहीं है। नीति का क्रियान्वयन तभी किया जा सकता है जब पर्याप्त संसाधन हो। क्रियान्वयन का सम्बन्ध चाहे उत्पादन से हो या फिर निर्माण से या फिर वितरण से, प्रत्येक कार्य के लिए वित्त एक मूलभूत आवश्यकता है। अतः यह आवश्यक है कि निष्पादन में अपेक्षित गतिविधियों के लिए वित्त का आंकलन किया जाए एवं वित्त के स्रोतों को भी साथ में दर्शाया जाय।

2. निष्पादन हेतु आधारभूत संरचना–

अनेक विद्वानों जैसे **होगवुड, और गुन्न, डनशायर नाकामुरा और स्मालवुड कैडेन** ने अन्य तत्वों के साथ–साथ संरचना को आवश्यक तत्व के रूप मे स्वीकार लिया है। नीति में निहित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उद्देश्यों के अनुरूप संरचना की आवश्यकता होती है। अतः नीति कार्यान्वयन हेतु उपयुक्त आधारभूत संरचना का विकास किया जाता है। उदाहरणस्वरूप नए कार्यालयों की स्थापना, नए विभागों की स्थापना, नए अधिकारियों की नियुक्ति, पर्यवेक्षणकारी संरचना आदि

3. कुशल मानव संसाधन–

प्रभावी नीति–निष्पादन के लिए कुशल व प्रशिक्षित मानव संसाधन की आवश्यकता होती है। कुशल मानव संसाधन के अभाव में नीति का प्रभावी निष्पादन सम्भव नहीं है। कई बार नीति के असफल होने का प्रमुख कारण होता है कुशल मानव संसाधन का अभाव। नीति–निष्पादन एक जटिल प्रक्रिया है इस कार्य के लिए तकनीकी दृष्टि में कुशल प्रशिक्षित कार्मिक को ही लगाना चाहिए। यदि अनुकूल मानव संसाधन उपलब्ध न हो तो संस्था में उनके आवश्यक प्रशिक्षण का प्रबन्ध करना चाहिए ताकि क्रियान्वयन संबंधी आवश्यक कौशल को प्राप्त किया जा सके। मानव शक्ति नीति के निष्पादन के लिए आवश्यक, कुशल और प्रतिबद्ध मानव नीति में निहित लक्ष्यों को साकार करने में कार्यकारी होते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि उपलब्ध मानव शक्ति को नीति के अनुरूप प्रशिक्षण दिया जाए और उनमें निहित जनहित की ओर उन्मुख किया जाय।

4. तकनीकी एवं उपकरण–

नीति–निष्पादन के लिए तकनीकी एवं उपकरण भी आवश्यक तत्व है। वर्तमान समय सूचना प्रौद्योगिकी का युग है। नीति के निष्पादन में भी सूचना एवं प्रौद्योगिकी का उपयोग आवश्यक है, जिससे हमें अपेक्षित व विश्वसनीय परिणाम प्राप्त हो सकते हैं। विशिष्टता के युग में प्रत्येक नीति किसी न किसी परियोजना से संबंधित होती है, जिसके लिए आधुनिक प्रबन्धकीय यंत्रों और उत्पादकीय उपकरणों की आवश्यकता होती है।

5. आंकड़े और सूचनाः–

नीति सम्बन्धी आंकड़े और विश्वसनीय सूचना नीति–निष्पादन के लिए आवश्यक तत्व है। उदाहरणस्वरुप यदि पिछड़े वर्ग के कल्याण के लिए कोई रोजगारपरक योजना आरम्भ करनी है तो यह आवश्यक है कि पिछड़े वर्ग की कुल जनसंख्या, उनकी शिक्षा दर, बेरोजगारों की आयु एवं शिक्षा स्तर इत्यादि के आंकडे होने आवश्यक हैं, ताकि लक्षित वर्ग का निर्धारण किया जा सके।

5.4 प्रभावकारी नीति–निष्पादन की आवश्यक शर्तें–

नीति–निष्पादन को प्रभावकारी बनाने के कुछ आवश्यक शर्तें या दशाएं होती हैं जिसके पालन करने से नीति का क्रियान्वयन सफलापूर्वक किया जा सकता है। ये शर्तें या दशाएं निम्नलिखित हैं–

1. नीति की स्पष्टता एवं नीति की सही व्याख्याः

प्रभावकारी नीति–निष्पादन की पहली शर्त यह है कि नीति की स्पष्टता एवं नीति की सही व्याख्या। नीति की अस्पष्टता और नीति की गलत व्याख्या, नीति सम्बन्धी मूल उद्देश्य से भ्रमित कर सकती है। अतः आवश्यक है कि नीति का निरुपण स्पष्ट शब्दों में व्यापक रूप से किया जाए तथा नीति की व्याख्याओं में सरल व सहज शब्दों का प्रयोग किया जाए ताकि उसे सभी को समझना आसान हो। नीति सम्बन्धी उद्देश्य, प्राथमिकताएं स्पष्ट रूप से निर्धारित और रणनीति स्पष्ट रूप से परिभाषित होनी चाहिए तथा इस स्तर पर नीति– क्रियान्वयन की विवेचना चरणबद्ध रूप से की जानी चाहिए।

2. प्रतिबद्धताः

किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रतिबद्धता आवश्यक है। केवल औपचारिकता के लिए, नीति का निष्पादन निर्धारित लक्ष्य को दूरगामी बना सकता है। अगर नीति को पूर्ण प्रतिबद्धता के साथ क्रियान्वित किया जाए तो निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। प्रतिबद्धता के अभाव में क्रियान्वयन को सामाजिक उद्देश्य के स्थान पर स्वार्थ पूर्ति के लिए प्रयोग किया जाता है, तो अनेक समस्याएं पनपने लगती हैं।

3. समयबद्धताः

नीति क्रियान्वयन के कार्य यदि समयबद्ध हों तो नीति का उद्देश्य पूर्ण होता है तथा नीति की प्रशासनिक, आर्थिक एवं सामाजिक उपयोगिता बढ़ जाती है। अगर क्रियान्वयन अपने निर्धारित समय सीमा पर नहीं होता होता है तो सार्वजनिक कोष पर आर्थिक भार को बढ़ा देता है और नीति सामाजिक रूप से निरर्थक हो जाती है।

4. मितव्ययिताः

मितव्ययता का अर्थ है कि उपलब्ध संसाधनों का आवश्यकता के अनुरूप केवल इतनी ही मात्रा में उपयोग करना जितनी की आवश्यकता है, चाहे उनकी उपलब्धता में कोई कमी न हो। संसाधनों को एक अनुशासित तरीके से उपयोग करना ताकि उसका अकारण अपव्यय या क्षय न हो। नीति के क्रियान्वयन में मितव्ययिता का पालन करना चाहिए। उपलब्ध संसाधनों का अधिकतम उपयोग क्रियान्वयन को मितव्ययी बना सकता है। संस्थापन पर व्यय को कम से कम करना और सेवाओं के लिए इन समस्त स्रोतों का प्रयोग करना सफल क्रियान्वयन के लिए आवश्यक शर्तें हैं।

5. जन सहभागिताः

प्रभाकारी नीति निष्पादन के लिए जन सहभागिता आवश्यक है। नीति निष्पादन एक व्यक्ति या एक संस्था का दायित्व नहीं है, यह सामूहिक दायित्व का विषय है। अतः अच्छे नीति के क्रियान्वयन के लिए आवश्यक है कि जनता का समर्थन और सहयोग प्राप्त हो। नीति क्रियान्वयन के लिए यह भी जरूरी है कि उच्च अधिकारी निम्न अधिकारियों को पर्याप्त सत्ता का हस्तांतरण करें तथा सहभागिता प्रशासनिक अधिकारियों एवं राजनीतिक कार्यपालिका के मध्य भी होनी चाहिए। एक सफल क्रियान्वयन के लिए गैर–सरकारी स्वयंसेवकों या स्वयंसेवी वर्ग

को भी सगठनों का सहभागी बनाना उपयोगी माना जाता है। यह सहभागिता केन्द्र राज्य एवं स्थानीय स्तरों पर प्राप्त की जा सकती है अर्थात नीति के सफल निष्पादन के लिए विभिन्न राजनीतिक दलों, हित समूहों एवं गैर–सरकारी संगठनों के सहयोग एवं समर्थन को भी प्राप्त किया जाना आवश्यक है।

6. समन्वय–

समन्वय प्रशासन का एक प्रमुख सिद्धान्त है। किसी निर्धारित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संगठन में समन्वय आवश्यक है। नीति के क्रियान्वयन में समन्वय आवश्यक है। नीति क्रियान्वयन से सम्बधित विभिन्न विभागों एवं अधिकरणों में समन्वय आवश्यक है। इसका कार्य क्रियान्वयन सम्बन्धी उन अवरोधों को दूर करता है जो कि आपसी सहयोग के अभाव से उत्पन्न होते हैं।

7. संसाधनों की पर्याप्तता–

प्रभावी निष्पादन के लिए संसाधनों की पर्याप्तता आवश्यक है। क्रियान्वयन का कार्य अक्सर संसाधनों की अपर्याप्तता के कारण अवरूद्ध हो जाता है। संसाधनों की अपर्याप्तता क्रियान्वयन को बाधित कर देती है जिससे क्रियान्वयन में अनावश्यक विलम्ब होता है। इसके परिणामस्वरूप जहां एक ओर उससे संबंधित व्यय अप्रत्याशित रूप से बढ़ जाता है, वहीं दूसरी ओर निर्धारित समय पर नीति का क्रियान्वयन न होने पर यह सामाजिक हित की दृष्टि से भी अप्रासंगिक हो जाता है और सम्भावित लाभ से वंचित होना पड़ता है।

8. लचीलापन एवं स्वायत्तता–

नीति के क्रियान्वयन में कार्यान्वयनकर्त्ता को पर्याप्त स्वायत्तता तथा क्रियान्वयन में लचीलापन होना जरूरी होता है क्योंकि परिवर्तित परिस्थिति एवं समय के अनुसार नीति क्रियान्वयन सम्बन्धित परिवर्तन किया जा सके।

9. नियंत्रण तथा फीडबैक–

नीतियों के क्रियान्वयन को सफल बनाने के लिए प्रभावकारी नियंत्रण बनाये रखना आवश्यक है। अतः क्रियान्वयन की प्रक्रिया के प्रत्येक स्तर पर क्रियान्वयन सम्बन्धी प्रतिवेदन समय व लागत सम्बन्धी लक्ष्य को आश्वस्त करता है। इसी फीडबैक से ही उन कारणों, स्थितियों या अवरोधों का पता लगाया जा सकता है जिसके आधार पर नीति संबंधी पुनर्विचार किया जा सके और उसमें आवश्यक संशोधन किया जा सके। खुलापन एवं पारदर्शिता नीति– निष्पादन के लिए बहुत ही आवश्यक है।

5.5 नीति–निष्पादन के प्रतिमान

1950 के बाद नीति कार्यान्वयन के सन्दर्भ में कई प्रतिमान उभरे हैं। इस दिशा में अग्रलिखित महत्वपूर्ण हैं–

अधोगामी प्रतिमान

यह प्रतिमान मानता है कि लोकनीति कार्यान्वयन हेतु लोकनीति को उच्च स्तरों से निम्न स्तरों की ओर छोटे भागों में बांटा जाना चाहिए। इस प्रतिमान के अनुसार लोकनीति के कार्यान्वयन हेतु संगठन के सभी स्तरों पर उद्देश्यों को परिभाषित करना चाहिए ताकि कार्यकर्ताओं का अपेक्षित सहयोग प्राप्त हो सके। कार्यकर्ताओं को केवल निर्देशों का पालन करते हुए अपनी पूरी क्षमता से नीति का कार्यान्वयन करना चाहिए। संगठन की विभिन्न इकाईयों के मध्य, संचार को सुस्पष्ट करते हुए कार्यान्वयन में अनावश्यक जल्दबाजी से बचना चाहिए।

इस प्रकार यह प्रतिमान नीति का कार्यान्वयन करने हेतु एक केन्द्रीकृत संगठन की स्थापना करने पर बल देता है। जिसमें प्राधिकार व दायित्व की रेखाएं सुपरिभाषित हों। लेकिन यह प्रतिमान नीति कार्यान्वयन को अत्यधिक दृढ़ बना देता है। जिसके कारण स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप नीति में समायोजन संभव नहीं हो पाता है।

उर्ध्वगामी प्रतिमान

इस प्रतिमान के अनुसार नीति कार्यान्वयन में निम्नस्तरीय व वास्तविक कार्यान्वयन कर्ताओं को महत्व देना चाहिए। जो मूलतः विशेषज्ञ प्रकृति के होते हैं। यह प्रतिमान निम्नस्तरीय कार्यकर्ताओं की सक्षमताएं बढ़ाकर और उन्हें आवश्यक स्वायत्तता प्रदान करके नीति कार्यान्वयन में सफलता का सुझाव देता है। उदाहरण स्वरूप स्वास्थ्य नीति लागू करने में डॉक्टर, प्राथमिक स्वास्थ्य कर्मी आदि विशेषज्ञों की क्षमताएं बढ़ानी चाहिए। इस प्रतिमान की कमी यह है कि यह कार्यान्वयन में संलग्न प्रशासकों के व्यावहारिक पहलुओं को महत्व नहीं देता।

नीति क्रिया प्रतिमान

इस प्रतिमान का मूल उद्देश्य नीति कार्यान्वयन में संलग्न कार्यकर्ताओं के व्यवहार व अभिवृत्तियों को समझना तथा इसके अनुरूप आवश्यक परिवर्तन लाना है। इस दृष्टिकोण से यह प्रतिमान व्यवहारवादी विचारधारा से मिलता है। लेकिन यह प्रतिमान प्रबंधकीय समस्याओं पर ध्यान नहीं देता।

प्रबंधकीय दृष्टिकोण

इस दृष्टिकोण के प्रणेता नीति कार्यान्वयन में प्रबंधकीय प्रविधियों पर विशेष ध्यान देने की बात करते हैं। इसके लिए विभिन्न प्रबंधकीय तकनीकों जैसे सी.पी.एम. (Critical Path Method) व पर्ट आदि का उपयोग किया जाता है।

अन्तर–सांगठनिक नीति का कार्यान्वयन

यह नीति कार्यान्वयन का उभरता हुआ प्रतिमान है इसका मुख्य बल नीति कार्यान्वयन में संलग्न विभिन्न संगठनों के मध्य आवश्यक समन्वय स्थापित करने पर है। वर्तमान में नीति कार्यान्वयन में सरकारी संस्थाओं के साथ–साथ कई गैर–सरकारी संस्थाओं की भूमिका भी महत्वपूर्ण हो गई है। अतः इनके प्रयासों को समन्वित करने के सम्बंध में यह प्रतिमान विशेष रूप से उपयोगी है। इस प्रकार नीति कार्यान्वयन में कई प्रतिमान जुड़ गए हैं जो नीति कार्यान्वयन की सफलता सुनिश्चित करते हैं।

5.6 नीति–निष्पादन में सरकारी एजेंसियों की भूमिका

लोक प्रशासन की सफलता का मूल्यांकन नीतियों के निष्पादन कार्यान्वयन के सन्दर्भ में ही किया जा सकता है। नीति कार्यान्वयन सरकार की सफलता के लिए निर्णायक रूप से महत्वपूर्ण है। राजनीति व्यवस्था भले ही उत्तम हो, लक्ष्य भले ही उत्तम हो, संगठनात्मक व्यवस्था भले ही अच्छी हो, यदि कार्यान्वयन का नीति परित करने वाले लोगों के उद्देश्यों से संबंध नहीं हो तो कोई भी नीतियां सफल नहीं हो सकतीं। कार्यान्वयन संबंधी पहलू अब विकास कार्यनीति में सरोकार का विषय और एक मूलभूत तत्व बनता जा रहा है। नीति निर्माण की पूरी प्रक्रिया में नीति–निष्पादन एक महत्वपूर्ण चरण है क्योंकि लोकनीतियां समाज के लिए कुछ विशेष लक्ष्यों की प्राप्ति से संबंधित निर्णय होती हैं। नीतियां लम्बे विचार विमर्श के पश्चात बनाई जाती हैं। निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सरकार नीति को प्रभावकारी रूप से लागू करने का प्रयास करती है। नीति के निष्पादन में सरकारी एजेंसियों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। सरकार की विभिन्न एजेंसिया जैसे विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका की नीति के निष्पादन में प्रमुख भूमिका होती है।

5.6.1 नीति–निष्पादन में विधायिका की भूमिकाः

संवैधानिक स्थिति के अनुसार विधायिका नीति–निर्माण करती है और कार्यपालिका नीति को लागू करती है। लेकिन संसदीय व्यवस्था के सन्दर्भ में यह अलगाव व्यावहारिक नहीं है क्योंकि संविधान में ही कार्यपालिका को विधायिका के प्रति उत्तरदायी ठहराया गया है। इतना ही नहीं, इस व्यवस्था में विधायिका के सदस्य ही कार्यपालिका के सदस्य होते हैं। इसलिए नीति क्रियान्वयन में विधायिका की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष भूमिका होती है। जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधि नीति निर्माण करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते बल्कि नीति के क्रियान्वयन के प्रति भी काफी सचेत होते हैं क्योंकि संसदीय सरकार में राजनीतिक कार्यपालिका अथवा मंत्री, संसद (विधायिका) के सदस्य होते हैं। ये मंत्री सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर कार्य करते हैं। दूसरे शब्दों में अगर नीतियों के क्रियान्वयन में कोई भूल या गलती हो जाती है तो मंत्री सामूहिक रूप से संसद में जवाबदेह होते हैं। ऐसे देशों में सरकार विभिन्न मंत्रालयों, अथवा विभागों में संगठित होती है। प्रत्येक विभाग एक मंत्री के नियंत्रण में होता है। अपने संगठन के संचालन में उच्च वर्ग एवं अधीनस्थ दोनों ही नागरिक सेवा के अधिकारी इसकी सहायता करते हैं। मंत्रालय का अभिन्न अंग होने के कारण राजनीति कार्यपालिका स्वतः ही सरकार के कार्यपालिका अंग का एक भाग बन जाती है।

संसदीय व्यवस्था में विधायिका के पास ऐसे कई साधन होते हैं जैसे संसदीय प्रश्न, स्थगन प्रस्ताव, अविश्वास प्रस्ताव इत्यादि जिसके माध्यम से कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है या कार्यपालिका की नीतियों को प्रभावी ढंग से और तीव्रता से क्रियान्वित करने के लिए बाध्य कर सकती है।

5.6.2 नीति–निष्पादन में कार्यपालिका की भूमिका

कार्यपालिका सरकार का दूसरा महत्वपूर्ण अंग है। प्रत्येक देश में प्रशासन के शीर्ष पर एक अभिकरण होता है, जिसे मुख्य कार्यपालिका कहा जाता है। मुख्य कार्यपालिका से तात्पर्य उस व्यक्ति या व्यक्ति समूह से होता है, जो किसी देश की प्रशासनिक व्यवस्था का प्रमुख होता है। राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति कार्यपालिका

द्वारा होती है। प्रत्येक देश का प्रशासनिक संगठन पिरामिड प्रकार का होता है। कार्यपालिका इसी पिरामिडनुमा संगठन का शिखर है अर्थात् कार्यपालिका सरकार का वह अंग है जिसका कार्य विधायिका द्वारा निर्मित नीतियों व कानूनों को कार्यरूप में परिणित करना और उनके आधार पर प्रशासन का संचालन करना होता है। राष्ट्रपति से लेकर पुलिसमैन तक प्रशासन से सम्बन्धित प्रत्येक कर्मचारी कार्यपालिका का ही अंग होता है।

डा० गार्नर कहते हैं कि "विस्तृत एवं सामूहिक अर्थ में कार्यपालिका अंग में उन सब कार्यकर्ताओं तथा संस्थाओं के समूह सम्मिलित हैं, जो राज्य की उस इच्छा को कार्यान्वित करते हैं जो कानून के रूप में निर्मित कर व्यक्त की गयी है।" कार्यपालिका के मुख्यतया दो भाग होते हैं– राजनीतिक कार्यपालिका व स्थायी कार्यपालिका या स्थायी लोक सेवाएं।

राजनीतिक कार्यपालिका विधियों के आधार पर प्रशासन से सम्बन्धित विभिन्न विभागों के सम्बन्ध में नीति निर्माण करती है और स्थायी सेवा वर्ग नीति–निर्माण में सहायता देता है तथा प्रमुख रूप से नीति को क्रियान्वित करता है। **वुडरो विल्सन** 1887 में अपने लेख में लिखा था कि "नीति निर्माण राजनीतिक कार्यपालिका कार्य है तथा नीति–निष्पादन स्थायी कार्यपालिका का कार्य है।"

नीति निर्माण के लिए यदि विधायिका आधिकारिक अभिकरण है तो कार्यपालिका नीतियों के निष्पादन के लिए आधिकारिक अभिकरण है। नीतियों के कार्यान्वयन का कार्य व्यवहार में स्थायी कार्यपालिका अथवा प्रशासन तंत्र करता है। कार्यपालिका विधायिका द्वारा निर्मित नीतियों को कार्यान्वित करने के लिए अपने अनुभव एवं विशेषज्ञता का इस्तेमाल करती है। आधुनिक युग "कार्यपालिका केंद्रित युग" है। इसमें आधुनिक सरकारें नीति के निष्पादन के लिए आधिकारिक रूप से कार्यकारी नेतृत्व पर निर्भर करती हैं। विकसित देशों की अपेक्षा विकासशील देश में संभवतः कार्यपालिका की नीति–निष्पादन में अधिक भूमिका होती है। सामान्यतः कार्यपालिका का मुख्य दायित्व यह निश्चित करना है कि नीति का निष्पादन न्यायपूर्ण हो। प्रशासनिक अभिकरणों द्वारा नीति निष्पादन के लिए सकारात्मक तरीके का प्रयोग हो, स्थायी कार्यपालिका प्रभावी ढंग से कार्य करे, नीति–निष्पादन से जुड़ी संस्थाओं को पर्याप्त संसाधन उपलब्ध हों, नीति निष्पादन से जुड़ी हुई बातों एवं आंकड़ों का समुचित एकत्रीकरण हो एवं इससे जुड़ी हुई संस्थाओं में एकसूत्रता या नीति–निष्पादन के क्षेत्र में जन सहयोग को उपलब्ध कराए जाएं आदि।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नीति–निष्पादन के कार्य में कार्यपालिका की महत्वपूर्ण भूमिका होती है तथा प्रशासनिक एजेंसियां इसमें उनकी प्रमुख सहयोगी होती हैं, क्योंकि नीति–निष्पादन से जुड़े हुए समग्र कार्य स्थायी कार्यपालिका एवं प्रशासनिक तंत्र ही करते हैं। विशेषकर जटिल औद्योगिक समाजों में तो प्रशासनिक एजेंसियां और भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। चूंकि आधुनिक राज्यों का स्वरूप सामान्यतः लोक कल्याणकारी हो चुका है, फलतः उनके कार्यभार काफी बढ़ गए हैं। समग्र कार्यकारी कार्यों का निष्पादन करना राजनीतिक कार्यपालिका के लिए सम्भव नहीं है। नीति–निष्पादन की प्रक्रिया इतनी जटिल है कि बिना प्रशासनिक अभिकरणों के सक्रिय सहयोग से इसे संपादित नहीं किया जा सकता। वस्तुतः प्रशासनिक एजेंसियां ही वे साधन हैं, जिनके माध्यम से आधुनिक सरकार अपने नीति–निष्पादन के कार्य को सफलतापूर्वक पूरा करती हैं।

5.6.3. नीति–निष्पादन में न्यायपालिका की भूमिकाः

नीति क्रियान्वयन में न्यायपालिका भी अपनी भूमिका निभाती है। संवैधानिक नीतियों की व्याख्या का अधिकार न्यायपालिका को है और उसे अंतिम माना जाता है। न्यायालय किसी नीति का उचित क्रियान्वयन नहीं होने पर क्रियान्वयन के लिए आवश्यक आदेश दे सकता है। वर्तमान युग न्यायिक सक्रियता का युग है। इस न्यायिक सक्रियता के युग में नीति क्रियान्वयन के क्षेत्र में न्यायपालिका की भूमिका लगातार बढ़ती जा रही है। ऐसे मामलों और नीतियों की संख्या लगातार बढ़ रही है, जिसका क्रियान्वयन या तो न्यायालय के आदेश से शुरू हो रहा है या उसमे अपेक्षित तेजी लाई जा रही है।

लोकतांत्रिक प्रणाली में न्यायपालिका सामाजिक और आर्थिक नीतियों के प्रतिपादन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। जिन देशों में न्यायपालिका को न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति प्राप्त होती है वहां वह नीति–निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। जैसे अमेरिकी और भारतीय न्यायपालिका में देखा जा सकता है।

नीति–निष्पादन में न्यायपालिका की भूमिका तब और बढ़ जाती है जब नीति के उद्देश्य स्पष्ट नहीं हो तथा उस नीति की कई व्याख्याएं की जा सकती हैं। ऐसे मामलों में न्यायालय जब कोई अपना निर्णय देता है, तो उस निर्णय को अंतिम निर्णय मान लिया जाता है। भारत में कई क्षेत्रों में किसी भी अधिनियम एवं नीति के निष्पादन से संबंधित विवादों के निपटारे के लिए प्रशासनिक न्यायालयों की स्थापना की गई है। वैसे न्यायपालिका का मुख्य कार्य विधायिका द्वारा निर्मित और कार्यपालिका द्वारा कार्यान्वित की गई नीतियों एवं विधियों की. व्याख्या करना है

तथापि यह नीति निर्माण एवं निष्पादन के सन्दर्भ में भी अप्रत्यक्ष रूप से अपनी भूमिका निभाता है। संविधान की अंतिम व्याख्याकार, मूल अधिकारों की संरक्षण तथा राजनीतिक व्यवस्था के संतुलन चक्र के रूप में न्यायपालिका की शक्ति में आधुनिक युग में अपूर्व वृद्धि हुई है। न्यायिक समीक्षा की शक्ति, विधियों एवं नीतियों की अस्पष्टता तथा आदेश जारी करने की शक्ति ने न्यायिक सक्रियता को निरंतर बनाए रखा है। उदाहरणस्वरूप भारत को देखें तो भारतीय न्यायपालिका की रिट अधिकारिता (बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, उत्प्रेक्षण तथा अधिकारपृच्छा) की वजह से न्यायपालिका ने न केवल नीतियों के निर्धारण में, बल्कि, नीति–निष्पादन से जुड़े मुद्दों के सन्दर्भ में भी महत्वपूर्ण निर्णयों का प्रतिपादन किया है। अतः स्पष्ट है कि लोकतांत्रिक देशों में जहां भी न्यायपालिका को न्यायिक समीक्षा की शक्ति प्राप्त है, चाहे वो सीमित ही हो, वहां न केवल नीतियों के निर्धारण में बल्कि नीति–निष्पादन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

5.7 सारांश

नीति–निष्पादन का तत्व लोक प्रशासन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू है। नीति–निर्माण जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक उसका क्रियान्वयन है। प्रभावी क्रियान्वयन के अभाव में नीति निर्माण की कोई प्रासंगिकता नही है। अगर कोई नीति बहुत अच्छी हो लेकिन उसका क्रियान्वयन प्रभावकारी ढंग से न किया जाय तो वह अंततः असफल नीति कही जाएगी। कोई भी नीति सफल है या नहीं, यह उसके क्रियान्वयन पर निर्भर करता है

नीति–निष्पादन वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से सार्वजनिक नीतियों एवं कार्यक्रमों को लागू कर लोक नीति के लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है। नीति–निष्पादन का कार्य एक जटिल एवं लम्बी प्रक्रिया है। यदि नीति–निष्पादन की प्रक्रिया को व्यवस्थित रूप से लागू न किया जाए तो नीति–निर्माण के उद्देश्य एवं लक्ष्य खंडित हो जाते हैं। लोक नीतियों की सफलता एवं असफलता बहुत हद तक नीति–निष्पादन की प्रक्रिया पर आधारित होती है। अक्सर ऐसा देखा गया है कि सही नीति होने के बावजूद विफल रहीं, क्योंकि निष्पादन प्रक्रिया त्रुटिपूर्ण थी।

यह इकाई नीति निष्पादन में सरकार के एजेंसियों जैसे विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका की भूमिका की व्याख्या करती है। आधुनिक शासन व्यवस्था में विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका नीति–निष्पादन प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

नीति–निष्पादन में प्रशासनिक विधायिका की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष भूमिका होती है। विधायिका का नीति निष्पादन में प्रशासनिक तंत्र के साथ अप्रत्यक्ष संबंध होता है। जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि नीतियों के कार्यावन्यन के प्रति सजग एवं सचेत रहते हैं। विधायिका के पास कई ऐसे साधन होते हैं, जैसे–प्रश्न पूछना, पूरक प्रश्न, स्थगन प्रस्ताव, अविश्वास प्रस्ताव आदि, जिसके द्वारा वह प्रशासनिक तंत्र को नीतियों को प्रभावी ढंग से एवं तीव्रता के साथ कार्यान्वित करने के लिए बाध्य कर सकती है।

नीति–निष्पादन के लिए अधिकारिक अभिकरण कार्यपालिका है। नीति–निष्पादन के कार्य में कार्यपालिका की महत्वपूर्ण भूमिका होती है तथा प्रशासनिक एजेंसियां इसमें उनकी प्रमुख सहयोगी होती हैं, क्योंकि नीति–निष्पादन से जुड़े हुए समग्र कार्य स्थायी कार्यपालिका एवं प्रशासनिक तंत्र ही करते हैं।

नीति–निष्पादन में न्यायपालिका भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। सामान्यतः ऐसा तब होता है जब नीति के उद्देश्य सुस्पष्ट नहीं होते तथा उस नीति की कई व्याख्याएं की जा सकती हैं। ऐसे मामलों में न्यायालय अपना निर्णय देते हैं तथा उसका निर्णय अंतिम होता है। नीति निष्पादन उपरोक्त वर्णित सभी सरकारी एजेंसियों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है, जिसके फलस्वरूप नीति का सफल व प्रभावी क्रियान्वयन किया जा सकता है।

5.8 अभ्यास के प्रश्न

1. नीति–निष्पादन से आप क्या समझते हैं?
2. नीति–निष्पादन के विभिन्न चरणों की व्याख्या करो।
3. प्रभावकारी नीति–निष्पादन की आवश्यक शर्तों का वर्णन करें।
4. नीति–निष्पादन में विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका की भूमिका का वर्णन करें।

5.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. सप्रू. आर. के., लोकनीति, जवाहर पब्लिसर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा0 लि0, गुरूग्राम।

2. फाड़िया. बी. एल., लोक प्रशासन साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा 2015
3. अवस्थी एवं माहेश्वरी, लोक प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा 2011
4. कटारिया. सुरेन्द्र, प्रशासनिक सिद्धांत एवं प्रबंध, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 2013
5. झा. सुशांत, लोक नीतिः संकल्पनात्मक बोध।
6. सिन्हा मनोज, प्रशासन एवं लोक नीति, ओरियंट ब्लैक स्वॉन, नई दिल्ली 2010
7. बी. ए. पी. ए. –301 नीति–निष्पादन में सरकारी एजेंसियों की भूमिका, ईकाई–16 उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय।
8. ई. पी. ए. 06, नीति–निष्पादन में सरकारी एजेंसियों की भूमिका–1 खंड 19, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

इकाई–06 नीति–निष्पादन में गैर–सरकारी एजेंसियों की भूमिका

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 परिचय

6.2 नीति–निष्पादन में गैर–सरकारी एजेंसियों की उपादेयता

6.3 नीति–निष्पादन में गैर–सरकारी एजेंसियों की भूमिका की आवश्यकता

- 6.3.1 नीति–निष्पादन का विस्तृत क्षेत्र
- 6.3.2 प्रशासनिक तंत्र की सीमित पहुंच
- 6.3.3 प्रशासनिक कार्मिकों की कमी
- 6.3.4 लालफीताशाही
- 6.3.5 प्रशासनिक अधिकारियों को क्षेत्र विशेष की समस्याओं का सीमित ज्ञान
- 6.3.6 जन सहभागिता

6.4 नीति–निष्पादन में गैर–सरकारी एजेंसियों की भूमिका

- 6.4.1 दबाव समूहों की भूमिका
- 6.4.2 राजनीतिक दलों की भूमिका
- 6.4.3 नागरिकों की भूमिका
- 6.4.4 स्वैच्छिक संगठनों एवं गैर–सरकारी संगठनों की भूमिका

6.5 गैर–सरकारी एजेंसियों के काम–सम्बधी मुद्दे व चुनौतियां

6.6 सारांश

6.7 अभ्यास के प्रश्न

6.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित तथ्य को समझ सकेंगे।

- नीति–निष्पादन में गैर–सरकारी एजेंसियों की भूमिका
- नीति–निष्पादन में गैर–सरकारी एजेंसियों का महत्व
- नीति–निष्पादन में गैर–सरकारी एजेंसियों की आवश्यकता
- गैर–सरकारी एजेंसियों के काम से सम्बन्धी मुद्दे व चुनौतियां

6.1 परिचय

लोकनीति समाज को बेहतर बनाने वाले निर्दिष्ट लक्ष्यों को पूरा करने की ओर लक्षित होती है। लोकनीति की प्रकृति सार्वजनिक होती है तथा विधायिका द्वारा बनायी जाती है तथा कार्यपालिका, और एजेंसियों द्वारा

कार्यान्वित की जाती है। नीति–निष्पादन का तत्व लोक प्रशासन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू है। नीति–निष्पादन वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से सार्वजनिक नीतियों एवं कार्यक्रमों को लागू कर लोक नीति के लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है। वर्तमान समय में नीति–निष्पादन में गैर–सरकारी एजेंसियां भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। नीति–निष्पादन सरकार का प्रमुख दायित्व है, फिर भी गैर–सरकारी एजेंसिया जैसे, एन.जी.ओ. स्वैच्छिक संगठन, दबाव समूह एवं नागरिक भी नीति–निष्पादन की प्रक्रिया में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। इसका प्रमुख कारण सरकारी प्रशासन तंत्र पर कार्य का अत्यधिक बोझ, समयाभाव तथा प्रशासन की समाज के अन्तिम व्यक्ति तक पहुंच न होना माना जाता है। इसके साथ कम समय एवं कम व्यय में नीतियों का प्रभावकारी क्रियान्वयन गैर–सरकारी एजेंसियों के द्वारा किया जा रहा है। गैर–सरकारी एजेंसियां न केवल सरकार की नीतियों के निष्पादन में मदद कर रही हैं बल्कि प्रभावी प्रशासन के लिए सहायक माहौल का निर्माण भी कर रही है।

वर्तमान समय में गैर–सरकारी संगठन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं तथा सरकार द्वारा भी इसका सहयोग लिया जा रहा है। गैर–सरकारी संगठन शिक्षा के क्षेत्र में, स्वास्थ्य के क्षेत्र में तथा ग्रामीण विकास व अन्य क्षेत्रों में बहुत ही सफलतापूर्वक कार्य कर रहे हैं। जैसे पल्स पोलियो अभियान, ग्रामीण शिक्षा, मिडडे मील, महिला उत्थान आदि। गैर–सरकारी संगठनों की भूमिका को विकासशील तथा विकसित दोनों प्रकार के देशों में सराहा जा रहा है।

भारत में स्वैच्छिक संगठन का लम्बा इतिहास एवं परम्परा रही है जो समाज के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते आ रहे हैं। ब्रिटिश काल में निर्धनों की सेवा तथा शिक्षा का प्रचार व प्रसार इत्यादि मे संलग्न रहे।

वर्तमान समय में भी नीति–निष्पादन में गैर–सरकारी संगठनों की भूमिका बहुत बढ़ गई है तथा ये संगठन बहुत ही प्रभावकारी रूप से अपना योगदान दे रहे हैं और सरकार के प्रत्येक नीति, योजना एवं कार्यक्रमों को समाज के अंतिम व्यक्ति तक पहुंचाने का कार्य कर रहे हैं। दबाव समूह तथा नागरिक समूह अन्य प्रकार की गैर–सरकारी एजेंसियां हैं जो नीति–निष्पादन में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं।

6.2 नीति–निष्पादन में गैर–सरकारी एजेंसियों की उपादेयता/महत्व

लोकनीति किसी भी देश के सामाजिक, आर्थिक और औद्योगिक विकास का साधन या यंत्र है। भारतीय समाज जो अधिकांशतः एक पिछड़ा समाज है जो गरीबी, भुखमरी, कुपोषण, बेरोजगारी, अशिक्षा, बीमारी, सामाजिक आर्थिक असमानता, सांप्रदायिकता आदि समस्याओं से जूझ रहा है। इन तमाम समस्याओं का सामना तथा समाधान लोकनीति के माध्यम से ही किया जा सकता है।

उपरोक्त वर्णित समस्याओं का समाधान केवल नीति–निर्माण करके नहीं किया जा सकता है बल्कि नीति को प्रभावकारी ढंग से क्रियान्वयन या निष्पादन करके ही किया जा सकता है। कोई भी नीति कितनी भी अच्छी क्यों न हो, वह तभी अपने निर्दिष्ट लक्ष्यों को पूरा कर पायेगी, जब उसका प्रभावकारी तरीके से क्रियान्वयन किया जायेगा। अर्थात नीति निर्माण जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक उसका क्रियान्वयन है। प्रभावी क्रियान्वयन के अभाव में नीति–निर्माण की कोई प्रासंगिकता नहीं है। अगर कोई नीति बहुत अच्छी हो लेकिन उसका क्रियान्वयन प्रभावी ढंग से नहीं हो पाए तो वह अंततः असफल नीति ही कही जाएगी। कोई भी नीति सफल है या नहीं, यह उसके क्रियान्वयन पर ही पूरी तरह निर्भर करता है।

प्रभावी नीति निष्पादन में सरकारी एजेंसियों के साथ–साथ गैर–सरकारी एजेंसियों की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। वर्तमान समय में गैर–सरकारी एजेंसियां जैसे स्वयंसेवी संस्थाएं, एन.जी.ओ., दबाव समूह और नागरिक समूह सरकार के कार्यों मे अपना बहुमूल्य योगदान दे रहे हैं। भारत में भी गैर–सरकारी संगठनों में नीतियों को कम समय में अन्तिम व वास्तविक व्यक्ति तक पहुंचाने का कार्य किया है, जिससे इसका महत्व बढ़ गया है। विश्व के अनेक देशों में स्वयंसेवी संस्थाएं बढ़–चढ़कर सरकारी नीतियों के निर्माण से लेकर नीतियों के क्रियान्वयन तक अहम भूमिका निभा रही हैं।

वर्तमान के सन्दर्भ मे गैर–सरकारी संगठनों से अपेक्षित भूमिका इस प्रकार वर्णित की जा सकती है जो नीति–निष्पादन एवं प्रशासन के लिए महत्वपूर्ण है।

1. वे समाज में राजनीति, सामाजिक, प्रशासनिक तथा आर्थिक चेतना उत्पन्न करते हैं।
2. वे सामाजिक आर्थिक विकास के लिए लोगों को संगठित और गतिशील करते हैं।
3. वे सूचना का प्रसार करते हैं और लोगों को उनकी बेहतरी के लिए सरकार द्वारा शुरू की गई विभिन्न योजनाओं क्रार्यक्रमों, और परियोजनाओं के बारे में जानकारी देते हैं।

4. वे प्रशासनिक प्रक्रिया में लोगों की भागीदारी का रास्ता खोलते हैं।
5. वे नीति क्रियान्वयन तथा नीति–निर्माण में सरकार की सहायता करते हैं।
6. वे प्रशासनिक तंत्र को जवाबदेह, संवेदनशील तथा पारदर्शी बनाने का कार्य करते हैं।
7. वे सार्वजनिक हित के पहरेदार का काम करते हैं।
8. वे लक्ष्य समूहों की पहचान करने में प्रशासन तंत्र की सहायता करते हैं।

6.3 नीति–निष्पादन में गैर–सरकारी एजेंसियों की भूमिका की आवश्यकता

इस इकाई में हम नीति–निष्पादन में गैर–सरकारी एजेंसियों जैसे, स्वयंसेवी संस्थाएं, दबाव समूह, एन.जी.ओ. तथा नागरिक संगठनों के प्रभाव की व्यापकता तथा इन समूहों की भूमिका की आवश्यकता का अध्ययन करेंगे तथा साथ ही साथ वे अपने कार्यों में कहां तक सफल है।

6.3.1 नीति–निष्पादन का विस्तृत क्षेत्र

नीति–निष्पादन लोक नीति प्रक्रिया का पहलू है। नीति निष्पादन का क्षेत्र बहुत व्यापक है। नीति–निष्पादन का दायित्व सरकारी एजेंसियों पर है। लेकिन व्यापक क्षेत्र होने के कारण इन एजेंसियों की अपनी अनेक सीमाएं हैं जिनके कारण निष्पादन का कार्य प्रभावी रूप से नहीं हो पाता है। इस प्रकार सफल नीति क्रियान्वयन के लिए गैर–सरकारी एजेंसियों का सहयोग जरूरी है। वर्तमान समय में अनेक गैर–सरकारी संगठन, नीति क्रियान्वयन में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं।

नीति–निष्पादन का विस्तृत क्षेत्र होने के कारण सरकारी एजेंसियां बिना स्वयंसेवी संगठनों के सहयोग के प्रभावी नीति का क्रियान्वयन करना सम्भव नहीं है। चूंकि व्यापक क्षेत्र होने के कारण सरकारी कार्मिक उतनी मात्रा में नहीं है, जिससे कम समय में नीतियों का अच्छे से क्रियान्वयन किया जा सके। वर्तमान समय में बहुत सी ऐसी लोकनीतियां है जिनका स्वयंसेवी संगठनों, एन.जी.ओ. के सहयोग के बिना उनका सफल क्रियान्वयन नहीं किया जा सकता है। वर्तमान में राज्य का कल्याणकारी स्वरूप होने के कारण राज्य का कार्य बहुत विस्तृत हो गया है तथा सरकार अनेक क्षेत्रों में गैर–सरकारी संगठनों के सहयोग से कार्य कर रही है। नीति–निष्पादन के क्षेत्र में भी सरकार द्वारा गैर–सरकारी एजेंसियों के सहयोग से नीतियों का लाभ समाज के अंतिम व वास्तविक व्यक्ति तक पहुंचाया जा रहा है। भारत में भी गैर–सरकारी संगठनों के कार्य बहुत सराहनीय है तथा ये संगठन सरकार के साथ कदम–कदम मिलाकर चल रहे हैं और नीति–निष्पादन तथा अन्य विकासत्मक कार्यों में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। भारत में बहुत से ऐसे नीति और कार्यक्रम हैं जिनका गैर–सरकारी संगठनों के माध्यम से क्रियान्वयन किया जा रहा है, जैसे–पोलियो उन्मूलन कार्यक्रम, राष्ट्रीय एड्स नियंत्रण कार्यक्रम, टी.बी. नियंत्रण कार्यक्रम, मिड–डे मील योजना, स्वच्छ, भारत कार्यक्रम, महिला सशक्तिकरण कार्यक्रम आदि। स्वयं सेवी स्वैच्छिक संगठन और गैर–सरकारी संगठन ग्रामीण क्षेत्र के लोगों के लिए आंख एवं कान के रूप में कार्य करते है। इनकी लोगों पर पहुंच होती है, समस्याओं की विस्तृत जानकारी होती है, जिससे ये बेहतर कार्य करने में समर्थ होते हैं।

लोक नीति–निष्पादन का क्षेत्र विस्तृत होने के कारण गैर–सरकारी संगठनों की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। भारत जैसे देश में इनकी भूमिका और भी प्रासंगिक हो जाती है क्योंकि भारत एक लोकतांत्रिक व कल्याणकारी राज्य है। कल्याणकारी राज्य की संकल्पना को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए केन्द्र व राज्य की सरकारों ने अनेक जन विकास एवं लोक कल्याणकारी कार्यक्रमों का निर्माण किया है तथा इन कल्याणकारी कार्यक्रमों का क्रियान्वयन गैर–सरकारी एजेंसियों के सहयोग से किया जा रहा है।

6.3.2 प्रशासनिक तंत्र की सीमित पहुंच

वैश्वीकरण के कारण लोक प्रशासन का क्षेत्र और व्यापक हो गया है। वर्तमान समय में सरकार के कार्यों में अत्यधिक वृद्धि हुई है तथा कार्यों के वृद्धि के सापेक्ष सरकारी तंत्र में साधनों, संसाधनों एवं कुशल कार्मिकों की वृद्धि नहीं हुई है जिसके कारण प्रशासनिक तंत्र की लोगों तक पहुंच सीमित है तथा प्रशासन तंत्र की पहुंच बहुत से क्षेत्रों में अभी तक उतनी नहीं हो सकी है, जितनी होनी चाहिए। जिसके कारण गैर–सरकारी संगठनों की भूमिका बढ़ जाती है। नीति–निष्पादन के क्षेत्र में भी प्रशासनिक मशीनरी की अपनी सीमाएं एवं लोगों तक सीमित पहुंच के कारण लोकनीति के सफल क्रियान्वयन में अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। जिसके कारण नीतियों के सफल क्रियान्वयन में गैर–सरकारी संगठनों की भूमिका बढ़ जाती है और इन गैर–सरकारी संगठनों के माध्यम से नीतियों का सफल क्रियान्वयन किया जा रहा है।

किसी भी योजना का लाभ हकदार व्यक्ति तक पहुंचाने के लिए सरकारी विभाग गैर–सरकारी एजेंसियों

का सहयोग लेते हैं। प्रशासन में इतना ज्यादा भाई–भतीजावाद, लालफीताशाही, भ्रष्टाचार व्याप्त है कि ज्यादातर योजनाएं लक्षित व्यक्ति तक नहीं पहुंच पाती हैं। चूंकि सरकारी एजेंसियों की जन सहभागिता कम होती है तथा लोगों तक इनकी पहुंच सीमित होती हैं। जबकि गैर–सरकारी संगठन, जनता के साथ व जनता के बीच में कार्य करते हैं, स्वयं को जनता का हिस्सा मानते हैं व जन–मनोविज्ञान को समझने की कोशिश करते हैं। चूंकि ये संगठन जनता के बीच में कार्य करते हैं जिससे जन समस्याओं से अच्छी तरह से अवगत रहते हैं तथा जन–समस्याओं के समाधान के लिए कार्य करते हैं। प्राकृतिक आपदा आने पर सरकारी तंत्र के पहुंचने से पहले स्वयंसेवी एवं गैर–सरकारी संगठन पहुंच जाते हैं और व्यक्तियों को उस आपदा से निकालने का प्रयास करते हैं। जैसे बाढ़, भूकम्प, भूस्खलन, चक्रवाती तूफान, सुनामी आदि क्षेत्र में उनके सराहनीय कार्य हैं। वर्तमान समय में गैर–सरकारी संगठनों की पहुंच प्रत्येक क्षेत्र में जन–जन तक हो चुकी है। इसलिए गैर–सरकारी संगठनों की भूमिका और उनके द्वारा किये जा रहे कार्यों को अनदेखा नहीं किया जा सकता। इस प्रकार गैर–सरकारी एजेंसियां जन सहभागिता तथा जनता तक सभी पहुंच होने के कारण लोक नीति–निष्पादन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निर्वहन करती हैं।

6.3.3 प्रशासनिक कार्मिकों की कमी

प्रशासनिक कार्यो को सम्पादित करने तथा नीति–निष्पादन के प्रशासनिक अधिकारियों एवं कर्मचारियों की संख्या पर्याप्त होनी चाहिए। लेकिन वर्तमान समय में प्रशासनिक अधिकारियों एवं कर्मचारियों की संख्या कार्यों की तुलना में बहुत कम या सीमित है जिसके कारण नीतियों का सही ढंग से क्रियान्वयन नहीं हो पाता है। इसलिए अन्य प्रशासनिक कार्यों का सम्पादन करने तथा नीति–निष्पादन के लिए गैर–सरकारी एजेंसियों की आवश्यकता पड़ती है।

नीति–निर्माण विधायिका द्वारा किया जाता है तथा नीतियों के क्रियान्वयन का दायित्व कार्यपालिका पर है। परन्तु नीतियों का निर्माण विधायिका द्वारा कर दिये जाने के उपरान्त भी नीतियों का क्रियान्वयन प्रभावी तरीके से नहीं हो पाता है। इसका प्रमुख कारण प्रशासनिक अधिकारियों व कर्मचारियों की सीमित संख्या होना है। इसलिए नीति–निष्पादन में गैर–सरकारी संगठनों की सहायता ली जाती है। चूंकि भारत में गैर–सरकारी संगठनों का बहुत बड़ा नेटवर्क है और ये संगठन हर क्षेत्रों मे कार्य कर रहे हैं। इस प्रकार ये गैर–सरकारी संगठन, सरकार के साथ मिलकर नीति का निष्पादन करते हैं।

वर्तमान समय में सरकार द्वारा कल्याणकारी राज्य के लक्ष्य को प्राप्त करने लिए अनेक कल्याणकारी कार्यक्रमों, योजनाओं और नीतियों का निर्माण किया जा रहा है, इसलिए यह नितान्त आवश्यक हो जाता है कि इन कल्याणकारी कार्यक्रमों, योजनाओं और नीतियों का प्रभावी एवं त्वरित क्रियान्वयन हो, जिसमें जनता का अधिकतम कल्याण हो सके। यह गैर–सरकारी संगठनों की सहायता के बिना सम्भव नहीं है कि कम समय में उन नीतियों का क्रियान्वयन किया जा सके। इसलिए कल्याणकारी लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए नीतियों और कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के लिए गैर–सरकारी एजेंसियों की भूमिका की अति आवश्यकता है।

6.3.4 लालफीताशाही

भारतीय प्रशासन की एक प्रमुख समस्या है लालफीताशाही। जिसके कारण, प्रशासनिक कार्यों की गति बहुत धीमी होती है। प्रशासनिक कार्यों में नौकरशाहों द्वारा नियमों और प्रक्रियाओं का पालन किए जाने की उम्मीद की जाती है जो वास्तव में सुशासन के लिए महत्वपूर्ण है। लेकिन सरकारी अधिकारियों और कर्मचारियों द्वारा प्रत्येक फाइल पर इतना ज्यादा समय लिया जाता है, जिससे किसी कार्यक्रम, योजना या नीति को अच्छी गति नहीं मिल पाती है। कभी–कभी तो लालफीताशाही के चक्कर में उस योजना का दम निकल जाता है। लेकिन गैर–सरकारी एजेंसियों में कार्य की ऐसी प्रवृत्ति नहीं होती है, वहां कार्य काफी तेजी से होता है। लोक प्रशासन में प्रशासनिक कार्य की गति धीमी रहती है तथा प्रशासनिक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप लालफीताशाही में भ्रष्टाचार, अक्षमता जैसी प्रशासनिक बुराइयों को जन्म देती है। नीति–निष्पादन में भी लालफीताशाही का प्रभाव रहता है। नीति–निष्पादन में प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा पत्रों के उत्तर विलम्ब से दिये जाते हैं तथा प्रशासकीय मशीनरी में शिथिलता पड़ जाती है। इसके विपरीत गैर–सरकारी संगठन के क्षेत्र में प्रशासनिक कार्य तेज गति से सम्पन्न किये जाते हैं और निर्णय लेने की प्रक्रिया में विलम्ब नहीं होता है।

6.3.5 प्रशासनिक अधिकारियों को क्षेत्र विशेष की समस्याओं का सीमित ज्ञान

प्रत्येक देश में अनेक प्रकार की समस्याएं होती हैं। ये समस्याएं क्षेत्र विशेष के अनुरूप अगल–अलग होती हैं तथा इनका समाधान भी अलग–अलग तरीके से किया जाना चाहिए। समस्याओं के समाधान के लिए सरकार द्वारा नीतियां बनायी जाती हैं तथा क्रियान्वयन किया जाता है। अक्सर ऐसा होता है कि अच्छी नीति होने के

बावजूद नीति सफल नहीं होती है अर्थात नीति समस्याओं हल करने में असफल हो जाती है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि नीति क्रियान्वयन में लगे प्रशासनिक अधिकारी व कर्मचारी उस समयस्या विशेष व क्षेत्र विशेष के बारे में सीमित जानकारी रखते हैं, जिसके कारण नीति को सही ढंग से क्रियान्वित करने में असमर्थ होते हैं।

गैर–सरकारी संगठनों के संदर्भ में परियोजना का ज्ञान, क्रियान्वयन की क्षमता और सम्पादित करने की पद्धतियों से परिपक्व परिचय एवं क्षेत्र विशेष से संबंधित आर्थिक, सामाजिक एवं उस क्षेत्र में रहने वाले नागरिकों की वास्तविक स्थिति की जानकारी, सरकारी अधिकारियों और कर्मचारियों की अपेक्षा गैर–सरकारी एजेंसियों को ज्यादा रहती है। इसी कारण वे किसी भी कार्यक्रम एवं नीति को सरकारी एजेंसियों की अपेक्षा अधिक प्रभावकारी ढंग से क्रियान्वयन करने में सफल होते हैं। गैर–सरकारी संगठन अपने विशेष क्षेत्र में लगातार काम करते हैं जिससे वे अनुभव व ज्ञान प्राप्त करते हैं तथा उस क्षेत्र में निपुण हो जाते हैं। इसी अनुभव के आधार वे सरकार के साथ मिलकर अनेक प्रकार की नीति के क्रियान्वयन में सरकार की मदद करते हैं।

6.3.6 जन सहभागिता

नीति की सफलता के लिए आवश्यक है नीति–निर्माण तथा नीति क्रियान्वयन में व्यापक जन सहभागिता सुनिश्चित हो। जिस समुदाय या समूह विशेष के लिए नीति का निर्माण करते हैं अगर उस समुदाय व समूह विशेष की नीति प्रक्रिया में सहभागिता हो तो नीति निश्चित ही सफल होगी क्योंकि समूह विशेष के लोगों की नीति के निर्माण एवं क्रियान्वयन में भूमिका रहती है।

ये गैर–सरकारी संगठन जनता को नीति–निर्माण प्रक्रिया में तथा नीति क्रियान्वयन की प्रक्रिया में जनता की सहभागिता को सुनिश्चित करने की कोशिश करते हैं। उस समय गैर–सरकारी एजेंसियों की भूमिका और बढ़ जाती है, जब उनकी जन सहभागिता एवं अन्तिम व्यक्ति तक पहुंच सरकारी मशीनरी से अधिक हो जाती है। वर्तमान समय में गैर–सरकारी एजेंसियों का जाल प्रदेश के प्रत्येक कोने में फैला हुआ है। किसी भी योजना का निर्माण तभी सार्थक होता है जब वह लक्ष्य तक पहुंच जाता है या उसका लाभ समाज के प्रत्येक नागरिक को प्राप्त होता है। इस कार्य को पूरा करने में गैर–सरकारी एजेंसियां महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं।

6.4 नीति–निष्पादन में गैर–सरकारी एजेंसियों की भूमिका

नीति–निष्पादन मूलतः सरकार का दायित्व है लेकिन इसमें गैर–सरकारी एजेंसियों की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। गैर–सरकारी एजेंसियों के रूप में दबाव समूह, राजनीतिक दल, नागरिक समूह एवं गैर–सरकारी संगठन भी नीति–निष्पादन के क्षेत्र में प्रभावी भूमिका निभाते हैं। गैर–सरकारी एजेंसियां न सिर्फ नीति–निर्धारण एवं नीति–क्रियान्वयन को प्रभावित करते हैं, बल्कि उन्हें कार्यरूप देने हेतु तत्पर भी रहते हैं।

6.4.1 दबाव समूहों की भूमिका :

दबाव समूह, आधुनिक शासन प्रणालियों में नीति–निष्पादन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। दबाव समूह एक संगठित हित समूह होता है जिसके सदस्यों के समान दृष्टिकोण एवं हित होते हैं। ये सरकारी अधिकारियों एवं नीतियों को प्रभावित करने के लिए सक्रिय कार्यक्रम चलाते हैं। जहां राजनीतिक दल का मुख्य उद्देश्य सरकार के नियंत्रण एवं संचालन को प्रभावित करके उसे अपने हाथों में लेना होता है, वहां दबाव समूह मुख्यतः उन लोक नीतियों के निर्धारण एवं कार्यान्वयन में रुचि लेते हैं जो प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से इनके सदस्यों को प्रभावित करती हैं। दबाव समूहों की मूल चिंता किन्हीं विशिष्ट मामलों में नीतियों को प्रभावित करने की होती है। किसी विशेष नीतिगत प्रश्न पर अक्सर बहुत से परस्पर विरोधी समूह कार्य करते हैं जिससे नीति निर्माताओं को विरोधी मांगों के बीच चयन की समस्या का सामना करना पड़ता है। यहां उल्लेखनीय है कि एक संगठित एवं सक्रिय समूह ही अपनी संख्यात्मक शक्ति, आर्थिक संसाधन, सामाजिक स्थिति और नेतृत्व कुशलता इत्यादि के आधार पर नीति निर्धारण एवं नीति निष्पादन की प्रक्रिया को गंभीर रूप से प्रभावित कर पाते हैं।

6.4.2 राजनीतिक दलों की भूमिका :

आधुनिक समाजों में राजनीतिक दल, हित समूहीकरण एवं हित स्वरूपीकरण के मुख्य साधन होते हैं। वे विभिन्न हितों की विशिष्ट मांगों को सामान्य नीति विकल्पों के रूप में रूपांतरित करने का प्रयत्न करते हैं। मोटे तौर पर राजनीतिक दल अपनी–अपनी नीतियों एवं कार्यक्रमों के अनुरूप नीति–निर्धारण एवं नीति–निष्पादन को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। यह प्रवृत्ति द्वि–दलीय पद्धति वाले देशों में भी देखी जाती है और बहुदलीय पद्धति वाले देशों में भी। फिर भी, सामान्यतया स्वत्व समूहों की अपेक्षा राजनीतिक दलों की नीतिगत चिंता का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है, इसलिए वे नीति–निर्धारण के क्षेत्र में स्वत्व के अधिवक्ता के बजाय, अभिकर्ताओं के रूप में कार्य करते हैं। लोकतांत्रिक राजनीतिक प्रणालियों में राजनीतिक दल यदि सत्तारूढ़ होता है तो अपने

चुनावी घोषणा–पत्र के अनुरूप नीतियों का निर्धारण करता है और उन्हें निष्पादित करने की भी कोशिश करता है ताकि उनका जनादेश बना रहे।

6.4.3 नागरिकों की भूमिका :

आधुनिक लोकतांत्रिक सरकारों को सामान्यतया लोकप्रिय शासन एवं प्रतिनिधि शासन के रूप में जाना जाता है। इसके अंतर्गत जनता अपने चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन में भाग लेती है। अतः ऐसा माना जाता है कि लोकतांत्रिक शासन प्रणाली में नागरिक समस्त नीति–निर्माण व कार्यान्वयन की प्रक्रिया में अप्रत्यक्ष रूप से शामिल होते हैं। हालांकि यह सच है कि लोकतांत्रिक प्रणालियों में नीति निर्धारण एवं कार्यान्वयन में नागरिक सहभागिता कम होती है। बहुत से नागरिक न तो मतदान प्रक्रिया में भाग लेते हैं, न ही राजनीति में और न ही जन कार्यों में ही कोई रुचि लेते हैं, किंतु ऐसे सजग नागरिक भी होते हैं जिनकी राजनीतिक कार्यप्रणाली पर पैनी दृष्टि होती है और वे राजनीतिक कार्यप्रणाली में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं और उन्हें प्रभावित करने की कोशिश करते हैं, चाहे वह नीति निर्माण की प्रक्रिया हो या नीति निर्धारण। कुछ देशों में तो नागरिक प्रत्यक्ष रूप से नीति निर्धारण में भाग लेते हैं जैसे, अमेरिका के कैलीफोर्निया राज्य एवं स्विट्जरलैंड में नागरिक विधि निर्माण एवं संवैधानिक संशोधन की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष रूप से सक्रिय भागीदारी करते हैं।

उल्लेखनीय है कि आधुनिक लोक कल्याणकारी राज्य बड़े पैमाने पर अपनी लोक कल्याणकारी नीतियों का निष्पादन करते हैं जो बिना जन सहयोग के संभव नहीं हैं। अतः नागरिकों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे नीति–निष्पादन की प्रक्रिया में सरकारी अभिकरणों के साथ सहयोग करें। नीतियां चाहें समाज कल्याण से संबंधित हों या कृषि उत्पादन, राजस्व, शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, कानून व व्यवस्था आदि से, नागरिकों की भागीदारी और उनके सहयोग के बिना इनका निष्पादन संभव नहीं है। आज नागरिक इतने जागरूक होते जा रहे हैं कि प्रायः सरकार की हर नीति एवं उसके निष्पादन के प्रति अपनी प्रभावी अनुक्रियाएं व्यक्त करते हैं।

6.4.4 स्वैच्छिक संगठनों एवं गैर–सरकारी संगठनों की भूमिका :

आधुनिक युग वस्तुतः स्वैच्छिक संगठनों का युग है। ये नीति–निष्पादन के क्षेत्र में महत्वपूर्णकार्यों का संपादन करते हैं। स्वैच्छिक संगठनों की बढ़ती हुई भूमिका के कारण लोक कल्याणकारी सरकारों के कार्य–बोझ में कमी हुई है। वैसे नीति–निष्पादन के क्षेत्र में गैर–सरकारी संगठन एवं संस्थाओं से यह अपेक्षा की जाती है कि इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाएंगे। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत लोक कार्यक्रमों में स्वयंसेवी संगठनों की भूमिका पर बल दिया गया था, किंतु सातवीं पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत ग्रामीण विकास में स्वयंसेवी अभिकरणों की भूमिका का विस्तृत विवेचन किया गया। इसमें विकास कार्यक्रमों के निष्पादन में लोगों की भागीदारी पर बल दिया गया है। इस योजना–दस्तावेज में यह स्वीकार किया गया है कि नौकरशाही व प्रशासनिक तंत्र पर अत्यधिक निर्भरता द्वारा विकास लक्ष्यों को पूर्णतः प्राप्त नहीं किया जा सकता। हाल के वर्षों में स्वयंसेवी संगठन समकालीन सामाजिक मुद्दों जैसे पर्यावरण संरक्षण, गरीबों को कानूनी मदद, उपभोक्ता संरक्षण, मानवाधिकार संरक्षण, बाल कल्याण, महिला विकास इत्यादि क्षेत्रों में सक्रिय रूप से भाग लेते रहे हैं।

आधुनिक वैश्वीकरण के युग में जहां विकास एवं लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण के तत्त्व महत्वपूर्ण मुद्दों के रूप में उभरे हैं, गैर–सरकारी संगठनों की भूमिका में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। आज इन संगठनों ने सरकार के कई कल्याणकारी कार्यों को अपने हाथों में ले लिया है तथा सरकार एवं जनता का विश्वास प्राप्त करते जा रहे हैं। सरकार की निर्भरता भी नीति–निष्पादन के क्षेत्र में इन संस्थाओं पर काफी बढ़ गई है। संक्षेप में, यह स्पष्ट है कि नीति–निष्पादन की प्रक्रिया उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी नीति निर्धारण की। नीति–निष्पादन की प्रक्रिया में सरकारी अभिकरणों की भूमिका जितनी महत्वपूर्ण होती है, उतनी सहभागियों की भूमिका भी अहम होती है। लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण एवं वैश्वीकरण के युग में नीति–निष्पादन की प्रक्रिया में गैर–सरकारी एजेंसियों का भूमिका में काफी वृद्धि की है।

6.6 सारांश

इस इकाई में, आपको नीति–निष्पादन में गैर–सरकारी एजेंसियों की भूमिका की पूरी जानकारी दी गई है। इस संदर्भ में विभिन्न गैर–सरकारी एजेंसियों जैसे, स्वैच्छिक संगठनो, नागरिक समूहों, दबाव समूहों, राजनीतिक दलों तथा गैर सरकरी संगठनों की भूमिका का वर्णन किया गया है। वर्तमान समय में लोक प्रशासन कार्यक्षेत्र व्यापक हो गया है तथा सरकार के कार्यों में वृद्धि हो गई है। लोकतांत्रिक सरकार कल्याणकारी राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए गैर–सरकारी एजेंसियों से सहयोग ले रही है तथा ये गैर–सरकारी संगठन सरकार के कार्यों में अपनी भूमिका निभा रहे हैं। आधुनिक वैश्वीकरण के युग में जहां विकास एवं लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के तत्व महत्वपूर्ण मुद्दों के रूप में उभरे हैं, गैर–सरकारी संगठनों की भूमिका में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। आज इन

संगठनों ने सरकार के कई कल्याणकारी कार्यों को अपने हाथों में ले लिया है तथा सरकार एवं जनता का विश्वास प्राप्त करते जा रहे हैं। सरकार की निर्भरता भी नीति–निष्पादन के क्षेत्र में इन संस्थाओं पर काफी बढ गयी है। नीति–निष्पादन की प्रक्रिया उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी नीति निर्धारण की। नीति–निष्पादन की प्रक्रिया में सरकारी अभिकरणों की भूमिका जितनी महत्वपूर्ण होती है, उतनी ही गैर–सरकारी संगठनों की भूमिका भी अहम होती है। वर्तमान समय में नीति–निष्पादन की प्रक्रिया में गैर–सरकारी एजेंसियों की भूमिका में काफी वृद्धि हुई है।

नीति निष्पादन मूलतः सरकार का दायित्व है लेकिन इसमें गैर–सरकारी एजेंसियों के रूप में दबाव समूह, राजनीतिक दल, नागरिक समूह एवं गैर सरकारी संगठन भी नीति–निष्पादन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण एवं प्रभावी भूमिका निभा रहे हैं। गैर–सरकारी एजेंसियों का कार्य केवल लोकनीतियों के क्रियान्वयन तक सीमित नहीं है, बल्कि उनके माध्यम से नीति व योजनाओं को समाज के अन्तिम व्यक्ति तक पहुंचाया जा रहा है, इसलिए इनकी भूमिका और महत्वपूर्ण होती जा रही है। भारत सहित दुनिया के बहुत से देशों में गैर–सरकारी एजेंसियों की संख्या मे काफी वृद्धि हुई है और इनके कार्य करने की शैली भी बेहतर है, इसलिए इन गैर–सरकारी एजेंसियों की भूमिका को दरकिनार नहीं किया जा सकता है। हाल के वर्षों में गैर–सरकारी संगठनों की भूमिका को व्यापक मान्यता और प्रोत्साहन मिला है, इसलिए राज्य कुछ कल्याणकारी सेवाओं की व्यवस्था में अपनी भूमिका धीरे–धीरे सीमित कर रहा है और गैर–सरकारी संगठनों ने लोक नीतियों के कार्यान्वयन में विशेषकर स्वास्थ्य, शिक्षा एवं महिला कल्याण में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इसलिए व्यापक रूप से यह स्वीकार किया गया है कि लोकनीति के क्रियान्वयन के लिए व्यक्तिगत कार्यवाही की अपेक्षा सामूहिक कार्यवाही अधिक प्रभावशील तरीका है। नीति निर्माण तथा नीति–निष्पादन दोनों ही महत्वपूर्ण प्रक्रिया है नीति के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए। नीति का प्रभावी क्रियान्वयन बहुत आवश्यक है। वर्तमान समय में प्रशासन मानव संसाधन की कमी के साथ–साथ अनेक समस्याएं जैसे भ्रष्टाचार, समय पर काम न होने, जवाबदेही का अभाव, लालफीताशाही, कामचोरी से ग्रस्त है, जिसके कारण उचित समय पर नीति–निष्पादन का कार्य सरकार के समक्ष एक बड़ी चुनौती है। उस चुनौती से निपटने के लिए प्रत्येक देश की सरकारें, गैर–सरकारी संगठन, स्वैच्छिक संगठन, स्वयं संगठन, नागरिक समूह आदि संगठनों से नीति–क्रियान्वयन में सहयोग की अपेक्षा करती है। गैर–सरकारी संगठन वर्तमान समय में दुनिया के लगभग सभी देशों में नीतियों के क्रियान्वयन व अन्य योजनाओं को सफल बनाने के लिए प्रयासरत है।

भारत में केन्द्र व राज्य सरकार द्वारा अनेक योजनाओं व नीतियों को गैर–सरकारी एजेंसियों के माध्यम से क्रियान्वित किया जा रहा है तथा ये गैर–सरकारी संगठन सरकारी नीतियों के क्रियान्वयन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। इसके साथ ही साथ गैर–सरकारी एजेंसियां आम जनता के बीच जाकर उन नीतियों एवं योजनाओं के विषय में उन्हें जागरुक करती है।

अतः वर्तमान समय में नीति क्रियान्वयन में गैर–सरकारी एजेंसियां महत्वपूर्ण एवं प्रभावी भूमिका निभा रही हैं। इसमें विभिन्न तरह के एन.जी.ओ, दबाव समूह, नागरिक संगठन को रखा जा सकता है। आर्थिक उदारीकरण व वैश्वीकरण के इस युग में, जैसे–जैसे राज्य भी भूमिका सीमित होती जा रही है, वैसे–वैसे नीति क्रियान्वयन के क्षेत्र में इन गैर–सरकारी एजेंसियों की भूमिका बढ़ती जा रही है। ये गैर–सरकारी एजेंसियां लोक नीतियों को लेकर जनता को जागरूक भी कर रही हैं तथा लोकनीति को प्रभावी ढंग से क्रियान्वयन के लिए प्रभावी भूमिका भी निभा रही हैं और विभिन्न प्रकार के सामाजिक, आर्थिक कार्यक्रमों में इनकी सक्रिय भागीदारी हो रही है।

6.7 अभ्यास के प्रश्न

1. नीति क्रियान्वयन में गैर–सरकारी एजेंसियों की भूमिका का वर्णन करें।
2. नीति निष्पादन में गैर–सरकारी एजेंसियों की भूमिका क्यों आवश्यक है? वर्णन करें।
3. नीति निष्पादन में गैर–सरकारी संगठन व दबाव समूह की भूमिका की विवेचना कीजिए।

6.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. सप्रू. आर. के., लोकनीति, जवाहर पब्लिसर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा0 लि0, गुरूग्राम
2. फाड़िया. बी. एल., लोक प्रशासन साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा 2015
3. अवस्थी एवं माहेश्वरी, लोक प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा 2011
4. कटारिया. सुरेन्द्र, प्रशासनिक सिद्धांत एवं प्रबंध, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 2013

5. झा. सुशांत, लोक नीतिः संकल्पनात्मक बोध।
6. सिन्हा मनोज, प्रशासन एवं लोक नीति, ओरियंट ब्लैक स्वॉन, नई दिल्ली 2010
7. बी. ए. पी. ए. –301 नीति–निष्पादन में सरकारी एजेंसियों की भूमिका, ईकाई–16 उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय।
8. ई. पी. ए. 06, नीति–निष्पादन में सरकारी एजेंसियों की भूमिका–1 खंड 19, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

इकाई–07 नीति निष्पादन की समस्याएं

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 परिचय

7.2 नीति–निष्पादन की समस्याएं

7.2.1 अवधारणात्मक समस्याएं

- त्रुटिपूर्ण नीति
- नीति वक्तव्य का स्पष्ट न होना
- दूरदृष्टिता का अभाव
- जटिल कानूनी शब्दावली का प्रयोग
- वृहद लक्ष्य व अल्पावधि

7.2.2 प्रशासनिक समस्याएं

- कार्मिक एवं वित्तीय संसाधन का अभाव
- प्रशासनिक इच्छा और अभिप्रेरणा की कमी
- समन्वय एवं सहयोग का अभाव
- मूलभूत संरचना का अभाव
- जवाबदेही का अभाव
- टीम भावना की कमी

7.2.3 राजनीतिक समस्याएं

- राजनीतिक रखाव
- केन्द्र–राज्यों के बीच खराब सम्बन्ध

7.2.4 जन जागरुकता का अभाव

7.2.5 भ्रष्टाचार

7.2.6 निष्पादन अधिकारियों का जमीनी वास्तविकता से अपरिचित होना

7.2.7 विशिष्ट वर्गों की अवरोधक भूमिका

7.2.8 आंतरिक सुरक्षा भी समस्या

7.3 सफल नीति–निष्पादन के लिए सुझाव

7.4 सारांश

7.5 अभ्यास के प्रश्न

7.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

7.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप निम्नलिखित तथ्य को समझ सकेंगे–

- नीति–निष्पादन में आने वाली प्रमुख समस्याएं कौन–कौन सी हैं?
- नीति–निष्पादन की प्रक्रिया में प्रमुख अवरोध क्या है।
- नीति–निष्पादन में आने वाली समस्याओं को कैसे दूर किया जा सकता है?

7.1 परिचय

नीति निर्माण सरकार की सर्वाधिक महत्वपूर्ण क्रियाओं में से एक है। इसे लोक प्रशासन का केन्द्रीय तत्व माना जाता है क्योंकि नीति निर्माण प्रक्रिया में सरकार के तीनों अंग–कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका तथा गैर–सरकारी एजेंसिया किसी न किसी रूप से संबद्ध होते हैं। लोक नीति वह माध्यम या साधन है जिसके सहारे सार्वजनिक लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है। किसी भी देश के सामने आंतरिक और बाह्य कई प्रकार की समस्याएं होती हैं। इन समस्याओं से निपटने के लिए उन समस्याग्रस्त क्षेत्रों से संबद्ध नीतियां बनायी जाती हैं। प्रभावी नीतियों के अभाव में न तो वर्तमान समस्याओं से निपटा जा सकता है और न ही भावी संकट को चिह्नित कर उसका समाधान किया जा सकता है।

नीति निर्माण जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक है उसका प्रभावी क्रियान्वयन। प्रभावी क्रियान्वयन के अभाव में नीति निर्माण का कोई औचित्य नहीं है। यदि नीति बहुत अच्छी हो लेकिन उसका क्रियान्वयन उचित ढंग से नहीं हो पाए तो वह अंततः असफल नीति ही कही जाएगी। कोई नीति कारगर है या नहीं, यह उसके क्रियान्वयन पर ही पूरी तरह से निर्भर करता है। अर्थात लोक नीतियां समाज को बेहतर व सार्वजनिक लक्ष्यों को पूर्ण करने लिए बनायी जाती हैं। ये नीतियां तब अर्थहीन या व्यर्थ हो जाती हैं जब ये सार्वजनिक लक्ष्यों को प्राप्त करने में विफल हो जाती हैं या अति विलम्ब के साथ उन लक्ष्यों को पूरा करती हैं। एक निश्चित समयावधि में लक्ष्यों को पूरा न कर पाने पर लोकनीति का सार्वजनिक उत्थान का लक्ष्य पूर्ण नहीं हो पाता। प्रभावी नीति–निष्पादन हेतु गैर–सरकारी एजेंसियों की भी मदद ली जाती है। इस कार्य में गैर–सरकारी संगठन, स्वैच्छिक संगठन, दबाव समूह और नागरिक समूह सरकार के साथ मिलकर नीति–निष्पादन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। कई बार ऐसा माना जाता है कि नीति–निष्पादन की पद्धति प्रभावी व पर्याप्त नहीं है। इसका प्रमुख कारण यह भी है कि नीति–निष्पादकों के समक्ष विभिन्न स्तरों पर बहुत सी बाधाएं एवं समस्याएं हैं।

7.2 नीति–निष्पादन की समस्याएं

नीति का कोई महत्व नहीं है जब तक कि उन्हें उचित तथा प्रभावी ढंग से निष्पादित न किया जाए। भारत में नीति–निष्पादन का कार्य स्थायी कार्यपालिका करती है। लोक सेवकों के पास इन कार्यो को करने के लिए पर्याप्त ज्ञान, बुद्धि तथा अनुभव होता है। प्रायः माना जाता है कि भारत में नीति निष्पादन दोषपूर्ण है जिसके परिणामस्वरूप नीतियों के निष्पादन में देर होती है। अब प्रश्न यह उठता है कि यद्यपि लोक सेवक प्रशासन में अहम भूमिका निभाते हैं तथा जिनके पास पर्याप्त दक्षता होती है फिर भी निष्पादन में समस्याओं का सामना क्यों करना पड़ता है? इसके लिए केवल स्थायी कार्यपालिका को दोषी ठहराने से अच्छा है कि उन समस्याओं या दोषों को पहचानें जो नीति का ठीक ढंग से क्रियान्वयन नहीं करने देते। यह आम धारणा है कि नीतियां तो बहुत अच्छी होती हैं लेकिन उनका ठीक ढंग से क्रियान्वयन नहीं हो पाता। ठीक ढंग से क्रियान्वयन नहीं होने के कारण ही आजादी के बाद से अपनाई गयी तमाम नीतियों ने बार–बार अपने घोषित उद्देश्यों के विपरीत ही परिणाम दिए हैं। अथाह धन खर्च करने के बावजूद अधिकांश योजनाएं अपने लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर पायी हैं। नीति क्रियान्वयन में कई समस्याएं सामने आती हैं जो नीति–निष्पादन को प्रभावित करती हैं। कुछ निम्नलिखित हैं–

7.2.1 अवधारणात्मक समस्याएं:

नीति–निष्पादन की अवधारणात्मक समस्याएं निम्नलिखित हैं।

1. त्रुटिपूर्ण नीति

किसी भी नीति के क्रियान्वयन की पहली शर्त है उसका त्रुटिरहित होना। यदि नीति के बुनियादी स्वरूप ही दोषपूर्ण हों तो उसे क्रियान्वित करने में असंख्य समस्याएं आएंगी। कई बार नीतियां बिना गहन अध्ययन और

शोध के ही तैयार कर ली जाती हैं। इस संबंध में दूसरी बात यह है कि किसी भी नीति के पीछे एक सोच काम करती है। अगर उस सोच में ही बुनियादी कमी हो तो उसका असर नीति पर भी पड़ता है। नीति भी उस कमी का शिकार हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में उसको लागू करना काफी कठिन हो जाता है और नीति भी अपने घोषित लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाती है। सरकारें प्रायः समस्याओं के ऊपरी कारणों पर ध्यान देती हैं, उसके बुनियादी कारणों पर नहीं। इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है, नक्सलवाद देश में एक गंभीर समस्या का रूप ले चुका है। इसे आंतरिक सुरक्षा के लिए सबसे बड़ा खतरा माना जा रहा है। इस समस्या से निपटने के लिए अब तक अथाह संसाधन झोंके जा चुके हैं। बावजूद इसके नक्सल आंदोलन कमजोर पड़ने की जगह और फैल रहा है। इसका मूल कारण यह है कि सरकारी नीति इसे कानून–व्यवस्था की समस्या मानने की है। जबकि वास्तव में इस समस्या के तार बेरोजगारी, गरीबी, भुखमरी, शोषण आदि से जुड़े हुए हैं। अर्थात् यह एक राजनीतिक–आर्थिक समस्या अधिक है और इससे दोनों मोर्चों पर निपटा जाना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि नक्सल समस्या से निपटने वाली नीति के पीछे जो सोच काम कर रही है उसमें बदलाव लाए बिना वांछित लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

2. नीति वक्तव्य का स्पष्ट न होना

नीति–निष्पादन में दूसरी बड़ी समस्या है नीति वक्तव्य का स्पष्ट न होना। कई बार ऐसा भी देखने में आया है कि सरकारी नीति जो सार्वजनिक हित के लिए बनायी गयी है, उसका वक्तव्य स्पष्ट नहीं होता है, जिस कारण सहायक कार्मिक भी उस नीति को समझने में असमर्थ हो जाते हैं।

नीति वक्तव्य में विशेष नीति के उद्देश्यों तथा लक्ष्यों को सम्मिलित किया जाता है तथा यह लक्ष्य समूहों, और लक्ष्य क्षेत्रों को दर्शाता है जिसके लिए दिशा–निर्देशित की जाती है। नीति के निष्पादन में नीति–निष्पादकों को जो मुख्य समस्या का सामना करना पड़ता है वो नीति वक्तव्य का स्पष्ट न होना।

नीति वक्तव्य स्पष्ट शब्दों में नहीं लिखा है। नीति वक्तव्य सरकारी प्रशासन के उच्चाधिकारियों द्वारा जारी कर इसे संबद्ध एजेंसियों को सौंप दिया जाता है, जो अधिकतर अपने निष्पादन के लिए प्रशासन पर निर्भर रहती है। इसे मुख्यालय द्वारा किया जाता है। राजधानी में स्थित कार्यालय जो नीचे स्तर के प्रशासन को नियंत्रित करते हैं, कभी–कभी नीति से सम्बन्धित विस्तृत व्याख्या जारी करते हैं। नीति वक्तव्य पास करने के पश्चात निष्पादन की कार्यवाही के लिए भेज दिये जाते हैं।

निष्पादक को निचले स्तर पर असंख्य समस्याओं का सामना करना पड़ता है, क्योंकि नीति वक्तव्य की शब्दावली स्पष्ट नहीं होती है। स्पष्टता के अभाव के कारण उन्हें निष्पादन में या तो अपने विवेक का प्रयोग करता पड़ता है या स्पष्टता के लिए मुख्य कार्यालय को वापस भेजना पड़ता है। दोनों मामले में निष्पादन बुरी तरह प्रभावित होता है। नीति वक्तव्य में सम्मिलित विवादपूर्ण अनेकार्थक शब्दावली तथा प्रसंगों मे निष्पादन में समस्या का सामना करना पड़ता है।

3. दूरदृष्टिता का अभाव

दूरदृष्टि का अभाव भी नीति–निष्पादन का एक प्रमुख कारण है। नीति निर्धारक की नीतियों के निर्माण के समय स्पष्ट दूरदृष्टिता तथा दीर्घकालीन नियोजन अवश्य होना चाहिए। लक्ष्य प्राप्ति के लिए बनायी गयी नीतियां ऐसी नहीं होनी चाहिए कि कुछ समय बाद उसकी उपयोगिता ही खत्म हो जाए। लघुकालीन नियोजन उन्हीं मामलों में ठीक होता है जहां नीतियों का निर्माण किसी विशिष्ट उद्देश्यों के लिए किया जाता है। दूसरे मामलों में, जो संख्या में अधिक हैं, निर्माणकर्ता को नीतियों के निर्माण में अपनी दूरदृष्टि का प्रदर्शन अवश्य करना चाहिए। इन चीजों के अभाव का अर्थ है अत्यधिक नीतियां तथा उतना ही विरोध जो नीति–निष्पादक के लिए बाधक सिद्ध हो सकती है।

4. जटिल कानूनी शब्दावली का प्रयोग

नीति विवरण में जटिल कानूनी शब्दावली का प्रयोग भी नीति–निष्पादन के मार्ग में बाधा उत्पन्न करता है। सरकारी कामकाज की भाषा इतनी जटिल होती है कि उसे आम व्यक्ति नहीं समझ सकता है। नीति–निष्पादन की प्रक्रिया में जटिल कानूनी भाषा भी अवरोध का कारण बन जाती है। नीति–विवरण में अत्यधिक वैधानिक या कानूनी शब्दावली का प्रयोग किया जाता है तथा इन वैधानिक शब्दावली में व्याख्या का अभाव पाया जाता है। इस तरह की स्थिति निष्पादक को शब्दों तथा प्रसंगों की व्याख्या अपने विवेक के आधार पर करने पर मजबूर करती है। यह व्याख्या नीति के मूलभूत ढांचे के पूर्णतया विपरीत भी हो सकती है। यदि निष्पादन एजेंसी स्पष्टीकरण के लिए इसे उच्चस्तरीय प्रशासन या उच्चाधिकारी को भेजता है तो इसमें अत्यधिक समय नष्ट होता है। फिर भी

आवश्यक नहीं है कि मुख्य कार्यालय में अधिकारियों को वैधानिक शब्दावली की सही व्याख्या पता हो। यह भी पाया गया है कि अक्सर नीति वितरण में बहुत सी विरोधात्मक चीजें पायी जाती हैं। यह विरोध उसी नीति के विभिन्न उपभागों के बीच हो सकता है या पहले से निर्धारित दूसरी नीतियों के साथ हो सकता है। ऐसी स्थिति निष्पादक को दुविधा की स्थिति में डाल देती है कि कौन सी नीति को निष्पादित किया जाए। यह नीति–निष्पादक के समक्ष प्रमुख गम्भीर समस्या है।

5. वृहद लक्ष्य व अल्पावधि

लोक नीति निष्पादन में वृहद लक्ष्य एवं अल्पावधि एक प्रमुख समस्या है, जो विभिन्न सरकारी योजनाओं, नीतियों और कार्यक्रमों के निर्माण एवं परिपालन में उत्पन्न होती है। नीति–निर्माण सरकार करती है और उसका क्रियान्वयन स्थायी कार्यपालिका अर्थात प्रशासन तंत्र करता है। कई बार सरकार राजनीतिक लाभ प्राप्त करने लिए वृहद लक्ष्यों को लेकर योजना या नीति का निर्माण करती है तथा निष्पादकों को दिये गए कार्यों को पूरा करने के लिए समयावधि कम रखी जाती है तथा अन्य संसाधन श्रमशक्ति, वित्त तथा बुनियादी ढांचे की कमी होती है जिससे वह कार्य या तो पूर्ण नहीं हो पाता या अपने लक्ष्य को प्राप्त करने से वंचित रह जाता है, जिससे आम जनता को लाभ नहीं मिल पाता है। दूसरी तरफ यह भी देखा गया है कि वृहद लक्ष्य वाली योजनाएं एवं नीतियां निश्चित समयावधि में पूर्ण नहीं हो पातीं और सरकारें बदल जाती हैं जिससे लाभान्वित योजनाऐं लक्ष्य विहीन होकर धीरे–धीरे समाप्त हो जाती हैं।

7.2.2 प्रशासनिक समस्याएं

नीति निष्पादन में किसी निम्नलिखित प्रशासनिक समस्याएं हैं–

1. कार्मिक एवं वित्तीय संसाधन का अभाव

कार्मिकों की कमी और वित्तीय संसाधनों का अभाव नीति–निष्पादन की एक प्रमुख समस्या है। जिसका सामना विभिन्न सरकारी विभागों और नीति–निष्पादक एजेंसियों को करना पड़ता है। बहुत से विकासशील देशों में सामाजिक–आर्थिक नीतियां प्रशिक्षित कार्मिक व धन के अभाव के कारण पूरी तरह कार्यान्वित नहीं की जा सकीं। सुनियोजित नीतियां सक्षम, कुशल व प्रशिक्षित कार्मिकों के बिना उचित लक्ष्य प्राप्त करने में विफल रही हैं। नीति–निष्पादन एक चरणवाद प्रक्रिया है इसमें अनेक प्रकार की तकनीक एवं पद्धति का प्रयोग किया जाता है। अगर नीति–निष्पादन प्रक्रिया के कुशल, प्रशिक्षित व विशेष तकनीकी ज्ञानयुक्त कार्मिकों द्वारा सम्पादित किया जाता है तो नीति का क्रियान्वयन प्रभावी होता है और नीति के अपने वांछित लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल रहता है। नीतियों के निष्पादन की प्रक्रिया कार्मिक की कमी के कारण सकुशल सम्पन्न नहीं हो पाती है। इसके अलावा धन की कमी के कारण कई योजनाएं या तो प्रारम्भ नहीं हो पाती हैं या स्वीकृत राशियां आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए साधारणतया पर्याप्त नहीं होती हैं। राज्य स्तर पर घाटे के बजट के कारण गंभीर वित्तीय समस्याएं होती हैं। घाटे के कुछ भाग को केन्द्रीय सहायता से पूरा किया जाता है। फिर भी स्वास्थ्य, व शिक्षा क्षेत्रों में वित्तीय समस्या बनी रहती है।

2. प्रशासनिक इच्छा और अभिप्रेरणा की कमी

किसी भी संगठन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए संगठन में कार्यरत कार्मिकों में लक्ष्य के प्रति इच्छा और अभिप्रेरणा आवश्यक है। इसके अभाव में लक्ष्य प्राप्त करना सम्भव नहीं होगा। नीति निष्पादन में प्रशासनिक इच्छा और अभिप्रेरणा की आवश्यकता होती है। कई बार यह पाया गया है कि प्रशासनिक इच्छा और अभिप्रेरणा के अभाव में सामाजिक–आर्थिक नीतियां कार्यान्वित नहीं हो पाती हैं। वर्तमान समय में सरकारी अधिकारी नीति के क्रियान्वयन विशेषकर पर्यावरण से सम्बन्धी कानूनों को लागू करने के लिए उत्सुक नहीं होते हैं। यहां तक कि उन मामलों में जहां सरकारी अधिकारी पर्यावरण सम्बन्धी कानूनों को लागू करने के इच्छुक तो हैं परन्तु प्रभावशाली उद्योगपतियों के दांवपेंच से उनके प्राधिकार बहुधा अपेक्षित रहते हैं। उनमें से अधिकांश आर्थिक हितों के प्रभुत्व और धन के प्रलोभन में पड़ जाते हैं और विनिमयों की प्रवर्तन औपचारिकता में समाप्त हो जाती है। अतः सफल नीति–निष्पादन के लिए प्रशासनिक अधिकारियों में इच्छा और अभिप्रेरणा अति आवश्यक है।

3. समन्वय और सहयोग का अभाव

नीति–निष्पादन में एक प्रमुख समस्या है प्रशासनिक अभिकरणों में समन्वय व सहयोग का अभाव। प्रशासनिक अभिकरणों के मध्य खराब सहयोग के कारण बहुत सी नीतियों का क्रियान्वयन नहीं हो पाता है। भारत में एक नीति को क्रियान्वयन के लिए प्रशासनिक स्तर पर एक से अधिक विभाग एवं एजेंसियां शामिल रहती हैं। इन विभागों के मध्य कई कारणों से इनमें आपसी सहयोग व समन्वय नहीं हो पाता है जिसके कारण नीति–निष्पादन

में बाधा उत्पन्न होती है। उदाहरण स्वरूप प्रशासनिक स्तर पर विभिन्न विभाग टीबी उन्मूलन से सम्बन्धित नीतियों के कार्यान्वयन से संबद्ध हैं जैसे, ग्रामीण विकास विभाग, शहरी विकास विभाग, जनजाति कार्य मंत्रालय, समाजिक न्याय एवं सशक्तीकरण मंत्रालय आदि। प्रशासनिक अभिकरणों की अधिकता होने से उनमें उचित समन्वय और सहयोग का अभाव होता है, जिसके कारण नीतियों के सफल निष्पादन में समस्या का सामना करना पड़ता है।

4. मूलभूत संरचना का अभाव

नीतियों के उचित क्रियान्वयन में एक और बड़ी बाधा नीतियों के अनुकूल मूलभूत संरचना का न होना भी है। यह अक्सर होता है कि नीतियों को बनाते समय और उन्हें लागू करते समय उस नीति के लिए आवश्यक मूलभूत संरचना की चिंता नहीं की जाती। इस कारण नीतियों का क्रियान्वयन प्रभावी नहीं हो पाता या उसमें काफी देर लग जाती है। सुदूर गांवों में बिजली. सड़क, यातायात आदि जैसे बुनियादी ढांचें की जबरदस्त कमी होती है। इस बात की अनदेखी करके कई बार नीतियां घोषित कर दी जाती हैं। उदाहरण के लिए, जिस गांव में सड़क बिजली नहीं है उसे वहां टेलीफोन एक्सचेंज बैठाकर टेलीफोन से जोड़ दिया जाता है। बिजली के अभाव में इनका सुचारू रूप से काम करना लगभग असंभव है। इसी तरह कई और मामले होते हैं। जमीनी हकीकत को परखे बिना नीतियों को क्रियान्वित नहीं किया जा सकता।

5. जवाबदेही का अभाव

जवाबदेही का अभाव भी नीति–निष्पादन के मार्ग में एक समस्या है। जवाबदेही सुशासन का एक अनिवार्य तत्व है। जवाबदेही के अभाव में प्रशासन का सुचारू संचालन सम्भव नहीं है। नियमानुसार अधीनस्थ अधिकारी अपने वरिष्ठ अधिकारी के प्रति जवाबदेह होते हैं जो उन्हें नीति–निष्पादन का कार्य सौंपता है। व्यवहार की अपेक्षा सिद्धान्त में यह अधिक लागू होता है। विरोधात्मक नीतियां, अपर्याप्त बुनियादी ढांचागत संसाधन, वरिष्ठ अधिकारियों से उचित सहयोग तथा मार्ग–प्रदर्शन मिलने का अभाव, बहुत जल्दी–जल्दी स्थानांतरण आदि महत्वपूर्ण पहलू हैं जो नीचे स्तर के निष्पादकों को उच्चाधिकारियों के प्रति पूर्ण रूप से उत्तरदायी न होने के लिए हौसला प्रदान करते हैं। उचित पर्यवेक्षण तथा निगरानी का अभाव जवाबदेही के मार्ग में बाधक है। इस तरह से जवाबदेही के अभाव में निष्पादन की सम्पूर्ण प्रक्रिया में अवरोध उत्पन्न करता है।

6. टीम भावना का अभाव

नीति निषादन प्रक्रिया में टीम भावना अति आवश्यक होती है। इसके अभाव में प्रभावी नीति निष्पादन सम्भव नहीं है। जिन विभागों एवं एजेंसियों को नीति–निष्पादन का कार्य दिया जाता है, उनमें यह किसी एक व्यक्ति का कार्य नहीं होता है। इसमें अनेक विभागों के अनेक व्यक्ति शामिल होते हैं। सामान्यतः सरकारी कार्यालयों में दल निर्माण तथा कार्य एवं संगठन में प्रतिबद्धता के भाव के समावेश पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। टीम भावना के अभाव में संगठन में कार्य कार्मिक लक्ष्य के प्रति प्रतिबद्ध नहीं रहते हैं। इसके परिणामस्वरूप प्रभावी नीति–निष्पादन में बाधा उत्पन्न होती है तथा नीति असफल हो जाती है।

7.2.3 राजनीतिक समस्याएं

लोक नीतियों के निष्पादन में राजनीतिक समस्याएं गंभीर एवं जटिल होती हैं। ये लोक नीति के प्रभावकारी निष्पादन में व्यवधान उत्पन्न करती हैं। निम्नलिखित राजनीतिक समस्याएं जिसकी चर्चा की गई है–

1. राजनीतिक दबाव

राजनीतिक दबाव नीति निष्पादन के मार्ग में एक प्रमुख बाधा है। भारत में प्रशासन की मुख्य चुनौती राजनीतिक हस्तक्षेप है। राजनीतिक दल सरकार में आते ही प्रशासन को अपने अनुसार चलाना चाहते हैं। राजनीतिक हस्तक्षेप के कारण प्रशासन की दक्षता, निष्पक्षता तथा प्रभावशीलता प्रभावित होती है। चूंकि नीति निर्माण, राजनीतिक अस्थाई कार्यपालिका द्वारा किया जाता है तथा नीति का निष्पादन स्थायी कार्यपालिका या प्रशासन द्वारा किया जाता है। नीति–निष्पादन प्रक्रिया में भी राजनीतिक हस्तक्षेप या दबाव का सामना नीति–निष्पादकों को करना पड़ता है। सरकार द्वारा संचालित विभिन्न योजनाओं, कार्यक्रमों तथा नीतियों पर, सत्ताधारी दल के नेता अपना अधिकार समझते हैं। उसे अपने अनुसार संचालित करने का प्रयास करते हैं। राजनीति में जनता के प्रतिनिधि होने के नाते अपने क्षेत्र में अपने मतदाताओं को शासन से अधिक से अधिक लाभ दिलाना अपना कर्तव्य समझते हैं। जब राजनीतिक पार्टी के नेता कुछ लोगों के हितों के लिए सरकार के लिए कार्य करने वाली एजेंसियों पर अपना दबाव बनाते हैं तो नीति–निष्पादन कार्य प्रभावित होता है और कार्य में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। तथा व्यर्थ के दबाव का प्रयोग निष्पादन प्रक्रिया को प्रभावित करता है।

2. केन्द्र–राज्यों के बीच खराब सम्बन्ध

केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच खराब सम्बन्ध भी नीति–निष्पादन प्रक्रिया पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। ऐसा तब होता है जब केन्द्र और राज्य में अलग–अलग राजनीतिक पार्टी की सरकार हो। भारत एक संघात्मक शासन व्यवस्था वाला देश है। केन्द्र सरकार के अतिरिक्त प्रत्येक राज्य में अपनी सरकार होती है। जब केन्द्र सरकार द्वारा बनाई गई नीति, योजना या कार्यक्रम निष्पादन के लिए राज्य सरकार के पास भेजा जाता है। तो राज्य सरकारें इसे लागू करने में दिलचस्पी नहीं लेती हैं। ऐसा मुख्यतः तब होता है जब केन्द्र राज्य में अलग सरकार हो। उदाहरणस्वरूप वर्तमान समय में पं बंगाल, बिहार और केरल इत्यादि। पश्चिम बंगाल की सरकार ने अपने राज्य में केन्द्र सरकार की कई योजनाओं को लागू नहीं किया है।

7.2.4 जन जागरूकता का अभाव

जन–जागरूकता के अभाव के कारण भी नीतियों का क्रियान्वयन ठीक से नहीं हो पाता। कतिपय मामलों में तो आम जनता को योजनाओं का पता ही नहीं चलता। जनता के अपने अधिकार के प्रति सजग नहीं रहने से क्रियान्वयन अभिकरण गैर जिम्मेदार हो जाते हैं। वे नीति का क्रियान्वयन मनमाने तरीके से करते हैं या उसे सिर्फ कागजी कार्रवाई तक सीमित कर देते हैं। किसी भी नीति के क्रियान्वयन के लिए एक जागरूक समाज का होना बहुत जरूरी है, क्योंकि नीतियों से प्रभावित अंततः जनता ही होती है और उसे ही इसके प्रति सचेत होना होगा।

7.2.5 भ्रष्टाचार

नीतियों के क्रियान्वयन में सबसे बड़ी समस्या भ्रष्टाचार है। इसे हम केंद्रीय समस्या के रूप में भी चिह्नित कर सकते हैं। भ्रष्टाचार पूरी प्रशासनिक मशीनरी में ऊपर से नीचे तक व्याप्त है। भ्रष्टाचार ने पूरे तंत्र को ही खोखला करके रख दिया है। भ्रष्टाचार इतना सर्वव्यापी हो गया है कि कोई भी नीति, कोई भी योजना, चाहे वह कितनी भी अच्छी क्यों न हो भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ जाती है। भ्रष्टाचार अब तो हमारे रोजमर्रा के जीवन में भी सहज स्वीकार्य हो चुका है। बिल्कुल उचित काम भी बगैर रिश्वत के नहीं होता। किसी भी नीति के तहत लाभान्वितों को अपना लाभ ग्रहण करने के लिए रिश्वत देना लगभग अनिवार्य हो गया है। भ्रष्टाचार के बारे में भूतपूर्व प्रधानमंत्री स्व. राजीव गांधी का वह कथन काफी प्रसिद्ध है जिसमें उन्होंने कहा था कि जनहित तथा विकास हेतु निर्धारित एक रुपये में से 15 पैसे ही लाभ प्राप्त करने वाले को मिल पाता है और शेष 85 पैसे बिचौलिए तथा सरकारी अधिकारी डकार जाते हैं। स्पष्ट है भ्रष्टाचार को समाप्त किए बिना किसी भी नीति के उचित क्रियान्वयन की उम्मीद नहीं की जा सकती।

7.2.6 निष्पादन अधिकारियों का जमीनी वास्तविकता से अपरिचय

नीति क्रियान्वयन के मार्ग में दूसरी सबसे बड़ी बाधा इसके लिए जिम्मेवार अधिकारियों का एक विशिष्ट वर्गीय चरित्र है। लोकनीतियां तो आम जनता के लिए बनाई जाती हैं और उन्हीं के बीच उनका क्रियान्वयन भी होता है। लेकिन दुखद तथ्य यह है कि जिन अधिकारियों के हाथ में इन नीतियों का क्रियान्वयन होता है वे जनता के सीधे संपर्क में नहीं होते। वे न तो जनता की भाषा और न उसका सामाजिक मनोविज्ञान समझते हैं। क्षेत्र विशेष की जनता के सामाजिक मनोविज्ञान को समझे बिना किसी भी नीति का क्रियान्वयन मुश्किल है। जनता की भावनाओं को न समझने के कारण कई बार अच्छी नीतियों को भी क्रियान्वित करना असंभव हो जाता है।

इस समस्या को दूर करने का अब प्रयास किया जा रहा है। इसके तहत पंचायती राज व्यवस्था को और सशक्त बनाया जा रहा है। अब विकास के तमाम कार्य सीधे पंचायतों के हाथों में दिए जा रहे हैं। इसके अलावा धन का आवंटन भी सीधे उन्हें हो रहा है। फिर भी, इस दिशा में और प्रयास की जरूरत है।

7.2.7 विशिष्ट वर्गों की अवरोधक भूमिका

नीति–क्रियान्वयन में एक बहुत बड़ी बाधा सामाज में ऊंची हैसियत रखने वाले तबकों से आती है। यह विशिष्ट वर्ग सामाजिक–आर्थिक–राजनीतिक किसी भी प्रकार का हो सकता है। समाज का यह तबका तमाम सरकारी नीतियों और योजनाओं का फायदा खुद ही हड़प लेता है और उसे निचले तबकों तक पहुंचने ही नहीं देता। विकास संबंधी अधिकांश योजनाओं पर इन्हीं तबकों का वर्चस्व होता है। इसमें इनके साथ संबंधित अधिकारियों की भी मिलीभगत होती है। यह बात ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक देखने को मिलती है, क्योंकि विभिन्न कारणों से ग्रामीण विशिष्ट वर्ग निर्णायक स्थिति में रहता है। गरीबों के नाम पर चलने वाली तमाम योजनाओं का वह अपने पक्ष में इस्तेमाल कर लेता है और गरीबों की स्थिति वहीं की वहीं रहती है।

7.2.8 आंतरिक सुरक्षा की समस्या

भारत में नीति क्रियान्वयन के मार्ग में एक महत्वपूर्ण बाधा देश में आंतरिक सुरक्षा की स्थिति है। देश के कई भाग आतंकवाद और नक्सलवाद से प्रभावित हैं। आतंकवाद और नक्सल प्रभावित किसी भी क्षेत्र में कोई भी नीति ठीक ढंग से क्रियान्वित नहीं हो पाती। इन क्षेत्रों में कोई अधिकारी या कर्मचारी जाने से कतराता है। वस्तुतः आतंकवाद और नक्सलवाद से प्रभावित वही क्षेत्र है जो विकास की दृष्टि से काफी पिछड़े हैं। नक्सली और आतंकवादी अपने प्रभाव वाले क्षेत्रों में किसी भी तरह की विकास योजनाओं को क्रियान्वित नहीं होने दे रहे हैं। जिन हिस्सों में इस तरह की समस्या नहीं है वहां भी आंतरिक सुरक्षा की स्थिति कोई बहुत अच्छी नहीं है। सुदूर क्षेत्रों में स्थानीय दबंग जातियों और असामाजिक तत्त्वों का आतंक कायम है। इनके रहते कोई अधिकारी वहां सुरक्षित महसूस नहीं करता। फलस्वरूप वह इनके दबाव में काम करने को मजबूर हो जाता है। जब तक अपराध को नियंत्रित नहीं किया जाएगा तब तक किसी भी नीति का उचित क्रियान्वयन नहीं हो सकता।

7.3 सफल नीति–निष्पादन के लिए सुझाव

उपरोक्त वर्णित नीति निष्पादन की समस्याएं प्रभावी नीति–निष्पादन के मार्ग में बाधक है जो नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने से रोकती है। यदि समय पर इन समस्याओं को दूर नहीं किया जाता है तो नीति के वांछित उद्देश्य की प्राप्ति नहीं की जा सकती है। नीति प्रक्रिया में लगे सभी प्रकार के संसाधन बेअर्थ हो जाते हैं। इसलिए लोकनीति के सफल निष्पादन के लिए निम्नलिखित सुझाव हैं जिसका पालन किया जा सकता है।

1. लोक नीति का वक्तव्य स्पष्ट होना चाहिए।
2. नीति प्रक्रिया के सभी स्तरों पर भागीदारी सुनिश्चित करना चाहिए।
3. लोक नीति के बारे में जन जागरूकता बड़े पैमाने पर करनी चाहिए। इसके संचार के विभिन्न साधनों का प्रयोग करना चाहिए जैसे– समाचार पत्र, सोशल मीडिया, नुक्कड़ नाटक, वाल पेटिंग इत्यादि।
4. नीति–निष्पादन में संलग्न सभी कार्मिकों की भूमिका को स्पष्ट कर देना चाहिए।
5. लोक नीति क्रियान्वयन प्रक्रिया में गैर–सरकारी एजेंसियों जैसे एन.जी.ओ, स्वैच्छिक समूहों और नागरिक समाज को भी शामिल करना चाहिए।
6. लोक नीति क्रियान्वयन में सूचना प्रौद्योगिकी का प्रयोग करना चाहिए।
7. लक्षित समूह का विश्वास प्राप्त करना चाहिए।
8. निष्पादन प्रक्रिया में लगी विभिन्न एजेंसियों के बीच समन्वय व सहयोग के लिए पद्धति का विकास करना चाहिए।
9. निष्पादन प्रक्रिया में लगे कार्मिकों को समय–समय पर उन्हें अभिप्रेरित करते रहना चाहिए।
10. निष्पादन के लिए कुशल दक्ष एवं प्रशिक्षित कार्मिकों की नियुक्ति करना चाहिए तथा प्रशासन के सभी स्तरों पर जवाबदेही तय करनी चाहिए।

इस प्रकार उपरोक्त सुझावों पर ध्यान देकर लोक नीति का सफल निष्पादन किया जा सकता है तथा नीति के वांछित उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकता है।

7.4 सारांश

इस इकाई में हमने नीति–निष्पादन की विभिन्न समस्याओं की चर्चा गहनता से की है। हमने इस इकाई में यह भी अध्ययन किया है कि नीति–निष्पादक, नीति–निष्पादन प्रक्रिया में किस तरह की समस्याओं व व्यवधानों से होकर निष्पादन का कार्य करता है। नीति का निर्माण समाज के कल्याण तथा सामाजिक आर्थिक विकास के लिए किया जाता है लेकिन नीति निष्पादन प्रक्रिया में जन–सहयोग कहीं प्राप्त नहीं होता, जो नीति निष्पादन में एक बाधा है। इस प्रकार नीति–निष्पादन में विभिन्न प्रकार की समस्याएं आती हैं जैसे क्रियान्वयनकर्ताओं की पर्याप्त स्वायत्तता न प्रदान करना, तकनीकी व वित्तीय संसाधनों का अभाव, दबाव समूह व राजनीतिक दलों का दबाव, पर्याप्त व्यावसायिक दक्षता का अभाव, कार्मिकों की कमी और भ्रष्टाचार आदि। उपरोक्त सभी समस्याओं से नीति का प्रभावी क्रियान्वयन प्रभावित होता है। तथा इस अध्याय के अन्त में प्रभावी नीति–निष्पादन के लिए कुछ सुझाव भी दिये गये हैं जिसको अमल करके नीति–निष्पादन प्रक्रिया को सफल व प्रभावी बनाया जा सकता है।

7.5 अभ्यास के प्रश्न

1. नीति–निष्पादन के समय प्रमुख समस्याओं का वर्णन करें। नीति–निष्पादन में जन–सहभगिता से आप क्या समझते हैं?
2. नीति–निष्पादन में राजनीतिक दबाव का क्या अर्थ है?
3. नीति–निष्पादन में प्रमुख प्रशासनिक समस्यायों का वर्णन करें।
4. नीति–निष्पादन को सफल बनाने के लिए सुझाव दें।

7.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. सप्रू. आर. के., लोकनीति, जवाहर पब्लिसर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा0 लि0, गुरूग्राम
2. फाड़िया. बी. एल., लोक प्रशासन साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा 2015
3. अवस्थी एवं माहेश्वरी, लोक प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा 2011
4. कटारिया. सुरेन्द्र, प्रशासनिक सिद्धांत एवं प्रबंध, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 2013
5. झा. सुशांत, लोक नीतिः संकल्पनात्मक बोध
6. सिन्हा मनोज, प्रशासन एवं लोक नीति, ओरियंट ब्लैक स्वॉन, नई दिल्ली 201
7. बी. ए. पी. ए. –301 नीति–निष्पादन में सरकारी एजेंसियों की भूमिका, ईकाई–16 उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय।
8. ई. पी. ए. 06, नीति–निष्पादन में सरकारी एजेंसियों की भूमिका–1 खंड 19, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

इकाई 08 भूमि सुधार

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 परिचय

8.2 भूमि सुधार का अर्थ

8.3 भूमि सुधार के उद्देश्य

8.4 भूमि सुधार की आवश्यकता

8.5 स्वतन्त्रता के पूर्ण भारत में भूमि व्यवस्था

8.6 स्वतन्त्रता के बाद भारत में भूमि सुधार नीति

8.7 भारत में भूमि सुधार की कमियां

8.8 भारत में भूमि सुधार को प्रभावी बनाने हेतु सुझाव

8.9 सारांश

8.10 अभ्यास के प्रश्न

कुछ उपयोगी पुस्तकें

8.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप निम्नलिखित तथ्यों को समझ सकेंगेः

- भूमि सुधार का अर्थ
- भूमि सुधार का उद्देश्य
- भूमि सुधार क्यों आवश्यक
- स्वतंत्रता के पूर्व भारत में भूमि सुधार की क्या व्यवस्था थी
- स्वतन्त्रता पश्चात भारत में भूमि सुधार की क्या नीति अपनायी गयी
- भारत में भूमि सुधार की क्या कमियां और समस्याएं हैं

8.1 परिचय

भारत एक कृषि प्रधान देश है। भारत की लगभग 70 प्रतिशत आबादी अभी भी गांवों में बसती है, जिसकी जीविका कृषि तथा कृषि से संबद्ध अन्य क्षेत्रों पर निर्भर है। यहां भूमि जीवन यापन, सम्पत्ति और समृद्धि का स्रोत है तथा भूमि भारतीय समाज की आर्थिक विकास की नींव है। भारत का विकास इस बात पर निर्भर करता है यहां के लोग अपनी खुशहाली एवं समृद्धि के लिए किस प्रकार भूमि का उपयोग करते हैं और इसका उपयोग भू–स्वामित्व की प्रकृति पर निर्भर करता है। प्राचीन काल में भारत में एक आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था थी लेकिन विदेशी शासन काल, मुगल और ब्रिटिश शासनकाल में भूसंरचना में सम्पूर्ण बदलाव किया गया। अंग्रेजों ने अपने हित के लिए स्थाई/जमींदारी प्रणाली प्रारम्भ किया। इस प्रणाली के अन्तर्गत जमींदारों तथा सामन्तों को भूमि का अधिकार दे दिया गया।

ब्रिटिश शासन काल में भू–स्वामित्व तथा भूमि–सुधार संबंधी कोई प्रगतिशील प्रयास नहीं किये गये। जमीदारों और अंग्रेजों ने भारतीय किसानों का खूब शोषण किया। देश की स्वतंत्रता के समय भूमि का स्वामित्व केवल कुछ ही लोगों के हाथों में केंद्रित था। इसमें किसानों का शोषण बढ़ता गया और साथ ही ग्रामीण क्षेत्रों के सामाजिक–आर्थिक विकास की दिशा में भी यह एक प्रमुख समस्या रही। भूमि सम्बन्धी समस्या के समाधान के

लिए स्वतन्त्रता के तत्काल पश्चात कांग्रेस पार्टी द्वारा अनेक समितियां गठित की गयीं। सरकार द्वारा भी भूमि सुधार के लिए व्यापक प्रयास किये गये। जमींदारी प्रथा उन्मूलन, काश्तकारी सुधार, भूमि की चकबंदी तथा प्रति परिवार भूमि का निर्माण और भूमिहीन लोगों के बीच अधिशेष भूमि वितरित करना आदि भूमि सुधार सम्बंधी कार्य किया गया तथा काश्तकारों को भू–स्वामित्व प्रदान किया गया।

8.2 भूमि सुधार का अर्थ

भूमि सुधार का अर्थ, भूमि के स्वामित्व, काश्तकारी एवं भूमि प्रबन्ध से सम्बन्धित व्यवस्था में नीतिगत परिवर्तन करना है। भूमि सुधार को संकुचित एवं विस्तृत दोनों अर्थों में परिभाषित किया जा सकता है। संकुचित अर्थ में, भूमि सुधार का आशय लघु कृषक एवं भूमिहीन श्रमिकों के हितों को ध्यान में रखकर किये जाने वाले भूमि स्वामित्व के पुनर्वितरण से है। विस्तृत अर्थ में भूमि सुधार का आशय भूमि व्यवस्था के उस संरचनात्मक परिवर्तन से है जिसके माध्यम से कृषि ढांचे तथा संगठन को बदलकर उसे और अधिक उपयोगी बनाया जा सके। इस प्रकार भूमि सुधार में वे समस्त कार्य शामिल किये जाते हैं जिसका सम्बन्ध भूमि स्वामित्व एवं भूमि जोत दोनों में होने वाले सुधारों से है। इसमें लगान कानून, उचित लगान निर्धारण, मध्यस्थों का उन्मूलन, जोतों की सुरक्षा, अधिकतम भूमि सीमा निर्धारण, सहकारी खेती, चकबन्दी आदि सभी शामिल हैं।

दूसरे शब्दों में भूमि सुधार से आशय है, भू–स्वामित्व का उचित व न्यायपूर्ण वितरण सुनिश्चित करना अर्थात् भू–धारिता को इस प्रकार व्यवस्थित करना जिसमें उसका अधिकतम उपयोग किया जा सके। भूमि एक मूलभूत प्राकृतिक एवं सीमित संसाधन है। मुगल काल में भूमि का पूर्ण स्वामित्व किसी के पास नहीं था। भूमि से संबंध रखने वाले सभी वर्गों का भूमि पर अधिकार था, कृषक को पट्टेदारी का संरक्षण उस समय तक ही था, जब तक वह स्वामी को परस्पर निश्चित किया हुआ भाग (अनाज का हिस्सा) देता रहा। औपनिवेशिक शासन काल में विभिन्न ब्रिटिश नीतियां उनके आर्थिक हितों की पूर्ति के लिए बनायी गयी थीं एवं ब्रिटिश शासन का मुख्य उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना था, इसलिये उन्होंने कई भू–राजस्व प्रणालियां शुरू की, जैसे– जमीदारीं व्यवस्था, रैयतवाड़ी व्यवस्था, एवं महालवाड़ी व्यवस्था। इन सभी का मूल उद्देश्य अधिकतम राजस्व की वसूली करना था। इस प्रकार प्रचलित नीतियों एवं व्यवस्थाओं के कारण भू–स्वामित्व का असंतुलन वितरण देखने को मिला। इस असंतुलन व विषमता को दूर करने के लिए एवं शोषणकारी आर्थिक संबंधों को तोड़ने के लिए भूमि–सुधार की आवश्यकता पड़ी।

भूमि सुधार के माध्यम से एक समतावादी समाज की स्थापना करना, समाजिक असमानता को समाप्त करना, सामाजिक न्याय को सुनिश्चित करना तथा कृषि उत्पादकता को बढ़ाने का प्रयास किया गया। इसके अतिरिक्त भूमि सुधार के अंतर्गत रोजगार के नए अवसरों का सृजन करने, आर्थिक क्रियाओं में कृषि भागीदारी को बढ़ावा देने एवं भूमि का प्रभावी एवं कुशलतम उपयोग करने जैसे उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयास किये गए।

8.3 भूमि सुधार के उद्देश्य

ब्रिटिश शासन के दौरान जमींदारी व्यवस्था मूल रूप से अधिक शोषण पर आधारित व्यवस्था थी। जमींदारी व्यवस्था ने एक ऐसा शोषक वर्ग पैदा कर दिया, जो दूसरों के श्रम पर जीता था। यह शोषक वर्ग जिसमें जमींदार, साहूकार व अन्य मध्यस्थ शामिल थे, वास्तविक काश्तकारों से उत्पादन का एक बड़ा हिस्सा हड़प लेता था। इसलिए स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भूमि–सुधारों का उद्देश्य उत्पादन के साधन के रूप में भूमि का ऐसा स्वरूप प्रदान करना था, जिसके फलस्वरूप कृषि उत्पादकता अधिकतम की जा सके और ग्रामीण निर्धनता को कम करके सामाजिक न्याय एवं आर्थिक समानता को स्थापित किया जा सके। भूमि सुधारों के निम्नलिखित उद्देश्य हैं–

1. सामाजिक न्याय को लक्ष्य मानकर काश्तकारों में भूमि का पुनर्वितरण करना।
2. कृषि की अल्प उत्पादकता को अधिकतम उत्पादकता में परिवर्तन करना।
3. भू–धारण अधिकारों की सुरक्षा करना अर्थात पुरानी भू–धारण व्यवस्था को समाप्त करना तथा एक ऐसी नई व्यवस्था को जन्म देना, जिसमें भूमि पर खेती करने वाले ही उसके वास्तविक स्वामी हों।
4. भू–व्यवस्था के अन्तर्गत होने वाले सभी प्रकार के शोषण व समाजिक अन्याय को समाप्त करना।
5. लगान का नियमन करना और कृषक एवं राज्य के मध्य सीधा सम्बन्ध स्थापित करना।
6. कृषकों एवं कृषि श्रमिकों की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति में सुधार करना।
7. कृषि भूमि धारण करने की अधिकतम सीमा एवं न्यूनतम सीमा का निर्धारण करना।

8. कृषकों का शोषण समाप्त करने के लिए मध्यस्थों का उन्मूलन करना।

9. खेतों के छोटे आकार को आर्थिक जोतों मे बदलना।

10. कृषि उत्पादकता को बढ़ाने का प्रयास करना तथा ग्रामीण गरीबी को दूर करना।

8.4 भूमि सुधार की आवश्यकता

स्वतन्त्रता के बाद भारत में भूमि सुधार की आवश्यकता निम्न प्रकार हैं–

1. कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए–

स्वतंत्रता के समय और उसके बाद भारत कृषि उत्पाद बहुत ही निम्न स्तर पर था तथा खाद्यान्नों तथा कृषि से सम्बधित पदार्थों की भारी कमी थी। अतः कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए इस बात भी आवश्यकता अनुभव की गई कि भूमि सुधार प्रभावी रूप से लागू किये जायें।

2. नियोजित विकास के लिए–

देश में नियोजित विकास को गति प्रदान करने के लिए भूमि सुधार की अति आवश्यकता हो गयी थी। इसके अभाव में देश का आर्थिक–सामाजिक विकास बाधित हो रहा था।

3. सामाजिक न्याय स्थापित करने के लिए –

स्वतंत्रता के पश्चात सामाजिक न्याय एवं समानता के लिए यह उचित समझा गया कि आधिक्य भूमि को भूमिहीनों में वितरित कर दिया जाय। अर्थात भूमिहीन किसानों एवं काश्तकारों को भूमि वितरण करके सामाजिक एवं आर्थिक समानता सुनिश्चित करना।

4. उद्योगों के विकास के लिए–

किसी देश का आर्थिक विकास उद्योगों के विकास के बिना नहीं हो सकता है। इसलिए स्वतन्त्रता के बाद भारत में भूमि सुधार की आवश्यकता इस कारण भी अनुभव भी गई कि उद्योगों के विकास के लिए कब कच्चा माल कृषि से ही मिल सकता है।

8.5 स्वतंत्रता के पूर्व भारत में भूमि व्यवस्था

अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारत में जो परम्परागत भूमि व्यवस्था कायम थी उसमें भूमि पर किसानों का अधिकार था तथा फसल का एक भू–राजस्व के रूप में सरकार को दिया जाता था। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपने आर्थिक व्यय की पूर्ति करने और अधिकाधिक धन प्राप्त करने के उद्देश्य से भारत की कृषि व्यवस्था में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया तथा कृषि के परम्परागत ढांचे को समाप्त करने का प्रयास किया। इस प्रकार कम्पनी के द्वारा नए प्रकार के कृषि संबंधों की शुरूआत की गयी और कम्पनी ने करों के निर्धारण और वसूली के लिए कई नए प्रकार की भू–राजस्व प्रणाली प्रारम्भ की।

ब्रिटिश काल में भारत में विभिन्न प्रकार भू– धृति प्रणालियां पायी जाती थी जिसमें मुख्य रूप से थे जमींदारी प्रथा, स्थायी बंदोबस्त, रैयतवाड़ी प्रणाली और महालवाड़ी प्रणाली।

1. जमीदारी व्यवस्था– इस व्यवस्था को स्थायी बन्दोबस्त व्यवस्था तथा इस्तमरारी व्यवस्था भी कहा जाता है। इस व्यवरथा का प्रारम्भ 1793 में लॉर्ड कार्नवालिस द्वारा बंगाल में किया गया था। इस व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि का स्वामित्व जमींदार के पास रहता था तथा भूमि सम्बंधी सभी अधिकार भी उसी के पास होते थे। भूमि जोतने वाले या कृषि कार्य करने वाले दूसरे होते थे जिन्हें काश्तकार कहा जाता है। काश्तकार भूमि का स्वामी नहीं होता था।

जमींदार द्वारा उस कृषक या काश्तकार को हटा दिया जाता था जो कम लगान देते थे तथा उनकी भूमि उन व्यक्तियों को दे दी जाती थी जो अधिक लगान देते थे। इस व्यवस्था के अन्तर्गत जमींदार को उत्पादन का निश्चित भाग मिलता था और वही सरकार को लगान चुकाता था। काश्तकार का कोई सम्बन्ध सरकार के साथ नहीं होता था, जमींदार सरकार तथा काश्तकार के बीच बिचौलिये का काम करता था। यह व्यवस्था पश्चिमी बंगाल, बिहार, आन्ध्रप्रदेश, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश में प्रचलित थी। स्वतंत्रता के पूर्व लगभग 19 प्रतिशत कृषि क्षेत्रफल पर यह व्यवस्था लागू थी। इस व्यवस्था में जमींदारों द्वारा अनेक प्रकार के कृषकों का शोषण किया जाता था।

2. **रैयतवाड़ी व्यवस्था**– जमींदारी व्यवस्था के पश्चात, ब्रिटिश सरकार ने भू–राजस्व की एक नयी पद्धति अपनायी, जिसे रैयतवाड़ी व्यवस्था कहा जाता है। मद्रास के तत्कालीन गवर्नर टॉमस मुनरो द्वारा 1820 में प्रारंभ की गयी इस व्यवस्था को मद्रास, बम्बई एवं असम के कुछ भागों में लागू किया गया। इस व्यवस्था में भूमि पर कृषि करने वाला ही स्वामी होता था जिसे रैयत कहते हैं। भू–राजस्व की इस व्यवस्था में सरकार ने रैयतों अर्थात किसानों से सीधा बंदोबस्त किया। अब रैयतों को भूमि के मालिकाना हक तथा कब्जादारी अधिकार दे दिये गये तथा वे सीधे या व्यक्तिगत रूप से स्वयं सरकार को अदा करने के लिए उत्तरदायी थे। इस प्रकार इस व्यवस्था में सरकार और कृषक के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत रैयतों से अलग–अलग समझौते कर लिये जाते थे तथा भू–राजस्व का निर्धारण वास्तविक उपज की मात्रा पर न करके भूमि के क्षेत्रफल के आधार पर किया जाता था। ब्रिटिश शासन काल के समय कुल खेती की जा रही भूमि का 51 प्रतिशत भूमि रैयतवाड़ी व्यवस्था के अंतर्गत थी।

3. **महालवाड़ी व्यवस्था**– इस व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि पर ग्राम समुदाय का स्वामित्व होता था। सामान्यतयः गांव ही प्रबन्ध की इकाई के रूप में कार्य करता था। खेती करने के लिए भूमि को खेती करने वाले व्यक्तियों में बांट दिया जाता था, उनसे लगान वसूल की जाती थी। सरकार को लगान देने की जिम्मेदारी पूरे गांव की होती थी। अर्थात इस व्यवस्था के अन्तर्गत भू–राजस्व का निर्धारण समूचे ग्राम के उत्पादन के आधार पर किया जाता था तथा महाल के समस्त भू–स्वामियों के भू–राजस्व का निर्धारण संयुक्त रूप से किया जाता था। इसमें गांव के लोग अपने प्रधान या प्रतिनिधियों के द्वारा एक निर्धारित समय–सीमा के अन्दर लगान की अदायगी अपने ऊपर ले लेते थे।

इस व्यवस्था को विलियम बैंटिक ने आगरा और अवध में प्रारम्भ किया था, बाद में यह व्यवस्था मध्य प्रदेश और पंजाब में भी लागू की गयी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत ब्रिटिश भारत की कुल कृषि भूमि का 30 प्रतिशत भाग सम्मिलित था।

8.6 स्वतन्त्रता के बाद में भूमि सुधार नीति

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात, राजनीतिक नेतृत्व के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती देश का सामाजिक एवं आर्थिक पुनर्निर्माण एवं विकास थी। भारत की 70 प्रतिशत से भी अधिक जनसंख्या की आजीविका कृषि पर निर्भर होने के कारण कृषि को आर्थिक विकास से घनिष्ठ रूप सम्बद्ध पाया गया। आजादी के बाद भारत को पिछड़ी हुई कृषि व्यवस्था विरासत में प्राप्त हुई, जिसके प्रमुख लक्षण थे – भूस्वामित्व के विभिन्न प्रकार, कुछ गिने–चुने हाथों में भूमि का केंद्रीकरण, बिचौलियों की प्रभावशीलता, बहुसंख्यक गरीब किसानों का अस्तित्व, ग्रामीण बेरोजगारी, न्यून कृषि उत्पादकता, तकनीकी सुविधाओं का अभाव, सामाजिक पिछड़ापन और निम्न ग्रामीण जीवन स्तर आदि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात कृषि तथा भूमि में सुधार करना सरकार की प्राथमिकता सूची में सबसे ऊपर था। स्वतंत्र भारत में भूमि सुधार कार्यक्रमों को दो चरणों में विभक्त कर सकते हैं, पहला चरण 1950 से 1965 तथा दूसरा चरण 1970–80 के दौरान रहा है। चूंकि भूमि का विषय राज्य सूची में शामिल किया गया है, भारत सरकार ने सामान्य नीतिगत निर्देश प्रदान किये जबकि राज्य सरकारों ने आवश्यक कानून बनाने तथा उन्हें क्रियान्वित करने की जिम्मेदारी ली। चूंकि भूमि सुधार राज्य का विषय होने के कारण कोई समान मानक तथा सुधारवादी होने कारण कोई उपाय अपनाया जाना सम्भव नहीं था। प्रत्येक राज्य ने अपने तरीके से भूमि सुधार नीति लागू किया। इस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद योजना आयोग, केन्द्रीय सरकार और अन्य राज्य सरकारों ने भूमि सुधारों के बृहत कार्यक्रमों को जारी किया।

इसके अंतर्गत मिलकियत ढांचे में संस्थागत और संरचनात्मक परिवर्तन किए गए। भू–स्वामित्व की नई अवधारणा सामने आई, कृषि क्षेत्रों में आधुनिकीकरण प्रक्रिया को प्रारंभ किया गया। भूमि सुधार के लिए कार्यक्रमों के प्रमुख अंग है, बिचौलियों का उन्मूलन, काश्तकारी सुधार, भूमि अधिग्रहण के लिए भूमि जोतों की सीमा का निर्धारण तथा जोतों की चकबन्दी आदि। इस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भूमि सुधार के लिए निम्नलिखित कदम उठाये गये।

1. जमींदारी उन्मूलनः

स्वतंत्रता के तुरन्त बाद भूमि सुधार के अन्तर्गत महत्वपूर्ण कदम जमींदारी उन्मूलन का था। जमींदारों के पास कुल भूमि का 40 प्रतिशत भाग केन्द्रित था। चूंकि भूमि सुधार राज्य के विषय के अन्तर्गत आता है इसलिए इससे सम्बन्धित कानून राज्य द्वारा बनाये गये। जमींदारी उन्मूलन के लिए मद्रास में 1948 में, उत्तर प्रदेश एवं असम में 1951 में, पंजाब, उड़ीसा एवं राजस्थान में 1952 में और कर्नाटक, पश्चिम बंगाल एवं हिमाचल प्रदेश में 1954 में अधिनियम पारित किये गये, जिसकी सहायता से अब तक 2 करोड़ से अधिक भूमिहीन कृषकों में भूमि

का वितरण किया जा चुका है। जमींदारी उन्मूलन से एक शोषण रहित समाजवादी समाज की स्थापना का उचित आधार मिला और बिचौलियों को समाप्त कर दिया गया तथा जमींदारों द्वारा कृषकों का किया जाने वाला शोषण समाप्त हो सका। इसमें अब कृषकों और सरकार के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। कृषक प्रत्यक्ष सरकार को लगान देता है, दोनों के बीच कोई मध्यस्थ नहीं होता है।

विभिन्न राज्य सरकारों ने जमींदारी उन्मूलन के लिए जो अधिनियम बनाये हैं, उनमें निम्नलिखित विशेषताएं हैं–

(1) अधिकारों का उन्मूलन एवं क्षतिपूर्ति– जम्मू एवं कश्मीर राज्य को छोड़कर सभी राज्यों में जमींदारों के अधिकारों का उन्मूलन कर दिया गया है और इसके बदले में क्षतिपूर्ति दे दी गई है।

(2) क्षतिपूर्ति का आधार– क्षतिपूर्ति का आधार अलग–अलग राज्यों में अलग–अलग रखा गया है। उत्तर प्रदेश में 'शुद्ध सम्पत्ति' रखा गया था जबकि मध्य प्रदेश एवं राजस्थान में 'शुद्ध आय' रखा गया था। कुछ राज्यों में बड़े जमींदारों को निम्न दर से एवं छोटे जमींदारों को ऊंची दर से क्षतिपूर्ति दी गई।

(3) क्षतिपूर्ति का भुगतान– क्षतिपूर्ति का भुगतान कुछ राज्यों द्वारा नकद मुद्रा में दिया गया, जबकि कुछ राज्यों में बॉण्डों में। जिन राज्यों में बॉण्डों में भुगतान किया गया, उन्होंने अपने राज्यों में जमींदारी उन्मूलन कोष की स्थापना की।

(4) जमींदारी पुनः न पनपने पर प्रतिबन्ध– इसके लिए अधिनियमों में यह व्यवस्था की गई है कि प्रत्येक काश्तकार के लिए भूमि को स्वयं ही जोतना अनिवार्य होगा, लेकिन विधवा, सेना में कार्य करने वाले, कैदी एवं रोगी व्यक्ति अपनी भूमि को लगान पर दूसरों को उठा सकते हैं।

(5) लगान की व्यवस्था– लगान के लिए इन अधिनियमों में यह व्यवस्था की गई थी कि प्रत्येक काश्तकार अपनी भूमि का लगान सीधे सरकार को देगा और लगान देने की जिम्मेदारी उसकी स्वयं की होगी।

(6) सामान्य भूमि पर राज्य सरकारों का अधिकार– जमींदारी उन्मूलन के बाद बची सामान्य भूमि, जैसे– बंजर भूमि, वन, चरागाह की भूमि आदि पर राज्य सरकारों का अधिकार होगा।

जमींदारी उन्मूलन के प्रमुख लाभ : जमींदारी उन्मूलन के प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं–

(1) शोषण का अन्त– जमींदारों द्वारा किसानों का शोषण किया जाता था, उसका अन्त जमींदारी उन्मूलन से हो गया और अब इनके द्वारा न बेगार ली जाती है और न उपहार।

(2) उत्पादन में वृद्धि– जमींदारी उन्मूलन से करोड़ों किसानों को भू–स्वामित्व के अधिकार मिल गये हैं। जिससे वे अब भूमि में स्थायी रूप से सुधार करके मेहनत से कार्य करने लगे हैं। परिणामस्वरूप कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई है।

(3) भूमि सुधार कार्यक्रमों का क्रियान्वयन– जमींदारी उन्मूलन से भूमि सुधार के अन्य कार्यक्रमों का क्रियान्वयन सुगम हो गया है। अब सहकारी खेती अधिनियम, जोत अधिनियम, चकबन्दी अधिनियम आदि को सुगमता से लागू किया जा सकता है।

(4) किसानों की उन्नति– जमींदारी उन्मूलन ने किसानों को अपनी उन्नति करने का अवसर प्रदान किया है। अब वे उत्पादन बढ़ाकर अपनी उन्नति करने के लिए स्वतन्त्र हैं।

(5) भूमिहीन किसानों को भूमि– जमींदारी उन्मूलन के फलस्वरूप अब तक लगभग 60 लाख हेक्टेयर भूमि को इन भूमिहीन किसानों में वितरित किया जा चुका है।

2. काश्तकारी सुधार

काश्तकारी व्यवस्था के अन्तर्गत कृषि भूमि का मालिक स्वयं कृषि कार्य नहीं करता और भूमि को काश्तकारों को कृषि कार्यों हेतु पट्टे पर देता है। स्वतंत्रता से पूर्व भारत में जमींदारी तथा रैयतवाड़ी दोनों ही प्रणालियों में भूमि को पट्टे पर देने की प्रथा व्यापक रूप से प्रचलित थी। विभिन्न जमींदारी उन्मूलन अधिनियमों के अन्तर्गत छूट दी गयी थी। दस विधवाएं, अवयस्क, सैनिक या असमर्थ लोग अपनी भूमि को दूसरे को खेती करने के लिए दे सकते हैं। इस व्यवस्था को पट्टीदारी कहते हैं। इस जमींदारी उन्मूलन के बाद भी जमींदारी क्षेत्रों में मौखिक और बिना रिकार्ड वाले काश्तकारी के मामले बरकरार रहे। इस प्रकार की काश्तकारी उन भूतपूर्व जमींदारों की जमीन पर जारी रही जिनकी जमीनें अब व्यक्तिगत खेती की श्रेणी में बताई जाने लगी, साथ ही यह उन भूतपूर्व लंबे समय

से अवस्थित काश्तकारों की जमीनों पर जारी रही जो अपनी जमीनें बंटाई पर लगाने लगे। इसके अलावा आजादी के समय सिर्फ आधी भूमि ही जमींदारी व्यवस्था के तहत थी। बाकी आधी जमीन रैयतवाड़ी के अन्तर्गत थी, जहां भूस्वामित्व की समस्याएं, असुरक्षा, भारी लगान वाली काश्तकारी इत्यादि समस्याएं अत्यंत व्यापक थीं।

इसलिए भूमि–सुधारों का दूसरा सबसे महत्वपूर्ण कार्य काश्तकारी से सम्बंधित कानून बनाना था। स्वतंत्रता के पश्चात विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान काश्तकारी सुधार के सम्बन्ध में अनेक कानून बनाये गये तथा महत्वपूर्ण कदम उठाये गये। इन कानूनों का प्रमुख उद्देश्य काश्तकारों को सुरक्षा प्रदान करना, लगान की सीमा निर्धारित करना तथा उसका निगमन तथा काश्तकारों को मालिकाना हक प्रदान करता था।

इस प्रकार काश्तकारी सुधारों से सम्बन्धित सरकार द्वारा प्रारम्भ की गयी तीन प्रमुख नीतियां निम्नलिखित हैं–

(क) लगान का नियमन

लगान नियमन कानून से पूर्व लगान की दर बहुत अधिक थी। ब्रिटिश काल में काश्तकारों की स्थिति अत्यधिक लगान की दर के कारण काफी दयनीय हो चुकी थी। यह लगान उत्पादन का 34 से 75 प्रतिशत तक थी। इसलिए सरकार ने स्वतन्त्रता के बाद काश्तकारों पर लगान का भार कम करने के लिए कदम उठाये। लगान नियमन के अन्तर्गत इस बात का प्रयत्न किया गया कि भू–स्वामियों द्वारा काश्कारों से अधिक लगान न वसूला जाए। इस संदर्भ में योजना आयोग द्वारा यह सुझाव दिया गया कि लगान की दर अधिकतम कुल उपज के 1/5 से 1/4 भाग अर्थात 20 प्रतिशत से 25 प्रतिशत तक ही हो। इसके बाद विभिन्न राज्यों द्वारा लगान के नियमन के लिए विभिन्न प्रकार के कानून बनाये गये। आन्ध्र प्रदेश तथा हरियाणा को छोड़कर सभी राज्यों मे लगान की अधिकतम सीमा निर्धारित कर दी गयी है जो सकल उत्पाद के 1/5 से 1/4 से अधिक नहीं होगी।

(ख) काश्तकारी में स्थायित्व व सुरक्षा

काश्त का अधिकार अस्थायी होने पर किसान की भूमि में वैयक्तिक रुचि कम होती है। जिसके परिणामस्वरूप वह भूमि की सुरक्षा करने, कुएं खोदने, पक्की मेड़ें बनाने एवं खेत के रख रखाव तथा विकास पर किसी प्रकार की पूंजी नहीं लगाता है। काश्त के अधिकार छिन जाने के डर के कारण कृषि भूमि को सुधारने, बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाने, मिट्टी की उर्वरता बनाए रखने के लिए दीर्घकालिक योजनाएं तैयार करने में रुचि नहीं लेता है। इसलिए काश्तकारी में स्थायित्व के लिए विभिन्न राज्यों में अलग–अलग कानून बनाए गये एवं सभी कानूनों में अनेक प्रावधान किये गये। पहला काश्तकारों की बेदखली कानूनी प्रक्रिया से हो, दूसरा काश्तकारों को बेदखल करने के लिए खुदकाश्त ही एक आधार हो सकता है। तीसरा यदि काश्तकार को बेदखल किया जाता है तो भूमि की एक न्यूनतम मात्रा काश्तकार के लिए छोड़ी जानी चाहिए। इस प्रकार भारत में काश्तकारी में स्थायित्व प्रदान करने के लिए अनेक नीति निर्माण किया गया तथा उसे लागू किया गया।

(ग) स्वामित्व सम्बन्धी अधिकार

सरकार ने काश्तकारों को भूमि पर स्वामित्वाधिकार प्रदान करने के लिए महत्वपूर्ण कदम उठाये। इसके लिए विभिन्न नीतियों एवं योजनाओं द्वारा यह प्रयास किया गया कि काश्तकार जिस भूमि पर कृषि करते हैं, उन्हें उस भूमि के स्वामित्व अधिकार प्रदान किये जाएं अर्थात उस भूमि का उसे स्वामी बना दिया जाए। इसके लिए कुछ राज्यों ने इस सम्बन्ध में कानून बनाये तथा लागू किये तथा कुछ राज्यों ने इस दिशा में कार्य नहीं किया। अन्य राज्यों की तुलना में पश्चिम बंगाल, कर्नाटक और केरल ने अच्छी प्रगति की है।

3. जोत सीमाबन्दी

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात सरकार द्वारा प्रारम्भ किये गए भूमि सुधार कार्यक्रमों में जोतों की सीमाबन्दी काफी महत्वपूर्ण है। जोत सीमाबन्दी या कृषि जोत की उच्चतम सीमा का अर्थ है किसी व्यक्ति या परिवार के स्वामित्व में रखी जाने वाली कृषि भूमि की उच्चतम सीमा का निर्धारण अर्थात सीमाबन्दी के अन्तर्गत राज्य सरकारों द्वारा प्रति व्यक्ति या परिवार की भूमि की अधिकतम मात्रा को निर्धारित किया जाता है। यदि किसी व्यक्ति या परिवार के पास निर्धारित मात्रा से अधिक भूमि पाई जाती है तो उसे अतिरिक्त भूमि घोषित कर दिया जाता है एवं सरकार द्वारा उसका अधिग्रहण कर लिया जाता है तत्पश्चात अधिगृहीत भूमि का भूमिहीन परिवारों में वितरण कर दिया जाता है।

भारत में सामाजिक न्याय की स्थापना करने, समावेशी विकास को सुनिश्चित करने, गरीबी का निवारण करने के लिये अन्य बातों के अलावा इस बात पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है कि निर्धनों को आय–अर्जक

संपत्तियों का वितरण हो। भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि आय–अर्जक संपत्तियों में मुख्य भूमिका रखती है। चूंकि, भूमि एक सीमित संसाधन है, इसलिए भूमि के अभाव के कारण ही जोतों की सीमाबन्दी बहुत आवश्यक है। भारत एक कल्याणकारी राज्य है, जहां सरकार द्वारा सामाजिक आर्थिक असमानताओं को दूर करने का प्रयास किया जा रहा है। जोतों की सीमाबंदी ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक असमानता को दूर करने का एक कारगर उपाय है।

लगभग सभी राज्यों में भूमि सुधार कार्यक्रमों के अन्तर्गत जोतों की उच्चतम सीमा या जोत सीमाबन्दी का निर्धारण किया जा चुका है। भारत में जोत सीमाबन्दी का आधार व्यक्ति की जोत का आकार है। विभिन्न राज्यों में जोतों का निर्धारण सीमा अलग–अलग है, जो इस प्रकार है– आन्ध्र प्रदेश में 4.1 से 21.9 हेक्टेयर, असम में 6. 7 हेक्टेयर, बिहार में 6.1 से 18.2 हेक्टेयर, गुजरात में 4.1 से 21.9 हेक्टेयर, हरियाणा में 7.3 से 21.9 हेक्टेयर, हिमाचल प्रदेश में 4.1 से 12.1 हेक्टेयर, जम्मू व कश्मीर में 3.7 से 7.8 हेक्टेयर, कर्नाटक में 4.1 से 21.88 हेक्टेयर, केरल में 4.9 से 6.1 हेक्टेयर, मध्य प्रदेश में 4.1 से 21.9 हेक्टेयर, उड़ीसा में 7 से 21.8 हेक्टेयर, त्रिपुरा में 4 से 12.3 हेक्टेयर, उत्तर प्रदेश में 7.3 से 18.3 हेक्टेयर व पश्चिम बंगाल में 5 से 7 हेक्टेयर। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत अब तक लगभग 76 लाख एकड़ भूमि को अतिरिक्त भूमि घोषित किया जा चुका है। इसमें से लगभग 7 लाख हेक्टेयर भूमि को सरकार अपने कब्जे में ले चुकी है और साथ ही सरकार द्वारा 51.5 लाख हेक्टेयर भूमि को लगभग 45 लाख, भूमिहीन कृषकों में वितरित किया जा चुका है।

4. भूमि का पुनर्गठन

भूमि का पुनर्गठन से आशय खेतों को इस प्रकार से व्यवस्थित करना है जिससे छोटे तथा छिटके खेतों से उत्पन्न होने वाली समस्याएं समाप्त हो सकें तथा खेतों की उत्पादकता में वृद्धि हो सके। भारत में कृषि भूमि का आकार एवं उसके हिस्सों का अलग–अलग फैला होना भी एक गम्भीर चिंता का विषय बना हुआ था। जनसंख्या अधिक होने के साथ–साथ भूमि पर दबाव लगातार बढ़ता जा रहा था। चूंकि भूमि एक सीमित संसाधन है, इसलिए भूमि के पुनर्गठन की बड़ी आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार भूमि सुधार के कार्यक्रमों के अन्तर्गत भूमि का पुनर्गठन किया गया है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित उपाय किये गये हैं–

(क) चकबन्दी–

चकबन्दी वह प्रक्रिया है, जिसके अन्तर्गत किसानों के इधर–उधर (विभिन्न भागों में) बिखरे हुए खेतों को उन खेतों की मालकियत के आधार पर एक जगह एक खेत के रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है। अर्थात चकबन्दी द्वारा किसी किसान के दूर–दूर फैले हुए खेतों को एक साथ व्यवस्थित किया जाता है। चकबंदी कृषि के लिए उपयोगी व लाभकारी व्यवस्था है, क्योंकि इसके कारण समय और श्रम दोनों की बचत होती है। सिंचाई के कारण भूमि सुधारने में सहायता मिलती है और भूमि को लेकर विवाद कम हो जाते हैं। चकबंदी के बाद बिखरी हुई भूमि एक साथ हो जाने से कृषि विकास व आधुनिकीकरण आसानी से किया जा सकता है तथा कृषि उत्पादकता बढ़ाई जा सकती है।

भारत में चकबंदी का आरम्भिक स्वरूप ऐच्छिक चकबंदी का था लेकिन बाद में इसे अनिवार्य चकबंदी के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। इस कार्यक्रम का उद्देश्य किसान की अनार्थिक जोतों को आर्थिक जोतों में परिवर्तित करके कृषि उत्पादकता में वृद्धि करना था। भारत में सर्वप्रथम चकबंदी का कार्य सन् 1921 ई0 में पंजाब की सहकारी समितियों द्वारा प्रारम्भ किया गया, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। उत्तर प्रदेश में सन् 1953 ई0 में चकबंदी अधिनियम पास करके बड़े पैमाने पर चकबंदी कार्यक्रम लागू किया गया। उत्तर प्रदेश में चकबंदी के अच्छे परिणाम को देखते हुए देश के अन्य राज्यों में भी चकबंदी प्रारम्भ की गयी।

ध्यातव्य है कि महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, पंजाब, हरियाणा, मध्य प्रदेश, गुजरात, राजस्थान, बिहार तथा कर्नाटक आदि राज्यों में चकबंदी सम्बन्धी कानूनों का क्रियान्वयन सफलता पूर्वक किया गया। लेकिन तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, पुदुच्चेरी तथा उत्तरपूर्व के राज्यों ने अभी तक चकबंदी सम्बन्धी कानून नहीं बनाये गये हैं।

(ख) सहकारी खेती–

सहकारी खेती का अर्थ है किसानों के सहयोग से एक संगठित रूप से खेती करना। सहकारी खेती के द्वारा कृषि भूमि के उप–विभाजन एवं अपखण्डन से उत्पन्न समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत वे छोटे व सीमान्त किसान जिनके पास बहुत छोटी कृषि भूमि है, अपनी भूमि मिलाकर, मिल–जुलकर खेती करते हैं। इसके अंतर्गत भू–स्वामित्व में बदलाव किये बिना संबंधित किसान अपने खेतों को आपस मे मिलाकर कृषि कार्य करते हैं। इससे न केवल खेतों का आकार बड़ा हो जाता है बल्कि उपलब्ध संसाधनों की मात्रा बढ़ जाती है और कृषि कार्य संगठित हो जाता है। सहकारी कृषि के लिए संबंधित किसानों को संबंधित

राज्य के सहकारिता अधिनियम के अन्तर्गत एक समिति का पंजीकरण करवाना होता है। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं मे सहकारी खेती पर काफी जोर दिया गया है। वर्तमान समय में 10 हजार से अधिक सहकारी समितियां कार्य कर रही हैं, जिनके पास लगभग 5.7 लाख हेक्टेयर भूमि है और इन समितियों के सदस्यों की संख्या 3.25 लाख है।

(ग) भूदान–

भूदान भूमि सुधार करने, कृषि में संस्थागत परिवर्तन लाने जैसे भूमि का पुनर्वितरण सिर्फ सरकारी कानूनों के जरिए नहीं बल्कि एक आन्दोलन के द्वारा करने की एक कोशिश थी। यह एक ऐच्छिक भूमि सुधार कार्यक्रम है। प्रसिद्ध गांधीवादी रचनात्मक सुधार कार्यकर्त्ता आचार्य विनोबा भावे ने पचास के दशक के आरम्भ में इस आंदोलन को प्रारम्भ किया। विनोबा भावे ने सर्वोदय समाज की स्थापना की, जो रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं का अखिल भारतीय संघ था। इसका उद्देश्य था देश में अहिंसात्मक तरीके से सामाजिक परिवर्तन लाना। विनोबा भावे और उनके अनुयायी पदयात्राएं किया करते, गांव–गांव पैदल चलकर बड़े भूस्वामियों से अपनी जमीन का कम से कम छठा हिस्सा 'भूदान' के रूप में भूमिहीनों और गरीब किसानों के बीच बांटने के लिए अनुरोध करते थे। विनोबा भावे की जमीन का पहला दान 18 अप्रैल 1951 को आन्ध्र प्रदेश के तेलंगाना क्षेत्र में पोचमपल्ली ग्राम में मिला।

8.7 भारत में भूमि सुधार की कमियां

भारत में भूमि सुधार के लिए बहुत प्रयास किया गया तथा भूमि सुधार के लिए अनेक नीतियों एवं कार्यक्रमों के क्रियान्वयन किए गये, लेकिन ये सभी अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में नाकाफी एवं प्रभावहीन प्रतीत हुए। जिसके कारण इस प्रकार है..

- मजबूत राजनैतिक इच्छा शक्ति की कमी और निहित स्वार्थों के कारण भू–सुधार नीतियों का सही ढंग से कार्यान्वयन नहीं किया जा सका।
- भू–अभिलेखों की अनुपस्थिति के कारण भूमि के वास्तविक स्वामित्व की पहचान नहीं हो पायी जिसके परिणाम स्वरूप भूमि की पहचान, अधिग्रहण और वितरण में अनावश्यक देरी हुई।
- कृषि भूमि की अस्पष्ट परिभाषा के कारण वास्तविक अतिरिक्त कृषि भूमि का अधिग्रहण नहीं किया जा सका।
- प्रभावी कानून का अभाव भी भूमि सुधार में एक प्रमुख बाधा रहा। भूमि सुधारों हेतु बहुत से कानूनी प्रयास किए गए हैं, लेकिन कहीं–कहीं इन कानूनों में स्पष्टता का अभाव देखने को मिलता है।
- भूमि सीमाबंदी की उच्चतम सीमा का निश्चित न होना भी भूमि सुधार में एक बड़ी कमी है। पूरे देश में सीमाबंदी की एक निश्चित सीमा निर्धारित की गई। विभिन्न राज्यों में भूमि की उच्चतम सीमा में काफी अधिक अंतर रहे हैं।
- सीमाबंदी के द्वारा भूमि की एक उच्चतम सीमा को निर्धारित कर दिया गया, लेकिन इस हेतु परिवार को इकाई न मानकर व्यक्ति को इकाई मान लिया गया। परिणामस्वरूप परिवार के अन्य लोगों को भूमि का हस्तांतरण किया जाने लगा। इसमें सीमाबंदी के कानूनों की प्रभावशीलता में काफी कमी आई।
- प्रशासनिक उदासीनता भी भू–सुधार कार्यक्रमों के प्रभावी क्रियान्वयन में एक प्रमुख बाधा रही है। राजनीतिक इच्छाशक्ति के अभाव से प्रशासनिक उदासीनता उत्पन्न हुई। भ्रष्ट राजनीतिज्ञों, प्रशासनिक तंत्र एवं बड़े किसानों ने मिलकर भूमि सुधार कानूनों के क्रियान्वयन को सफल नहीं होने दिया। भूमि सुधारों के कार्यक्रमों के कार्यान्वयन मे प्रशासनिक तंत्र द्वारा व्यापक भ्रष्टाचार किया गया, जिससे भूमि सुधार कानून सफल नहीं हो सके।
- इसके अतिरिक्त किसानों में जागरुकता व शिक्षा की कमी थी, वे भूमि सुधार का कानून से अनभिज्ञ थे। अतः वे सरकार पर आवश्यक दबाव नहीं बना सके।

इस प्रकार स्पष्ट है, कि भारत में भूमि सुधार के सकारात्मक प्रभावों के बावजूद कुछ कमियां बनी रहीं। आज भी भारत में बड़ी संख्या में भूमिहीनता, जोतों का छोटा होना एवं उत्पादकता बड़ी समस्याएं बनी हुई हैं। जिसके समाधान हेतु एक व्यापक रणनीति की आवश्यकता है।

8.8 भारत में भूमि सुधार को प्रभावी बनाने हेतु सुझाव

भारत में भूमि सुधार और नीति को प्रभावी बनाने के लिए निम्लखित सुझाव हैं–

- भूमि सुधार कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के लिए राजनीतिक एवं प्रशासनिक इच्छा–शक्ति को मजबूत होना चाहिए।
- भूमि सुधार कार्यक्रमों को लागू करने वाले प्रशासनिक तंत्र में किसी प्रकार का राजनीतिक हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।
- भू. रिकॉर्ड्स की तैयारी, रख–रखाव और कम्प्यूटरीकरण को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।
- बड़े भू–स्वामियों से प्राप्त अतिरिक्त भूमि का वितरण अवलंबित किया जाना चाहिए।
- भू–रिकॉर्ड्स को ऑनलाइन किया जाना चाहिए, ताकि पारदर्शिता बनाई जा सके।
- कुशल प्रशासनिक तंत्र के द्वारा भू–सुधार नीति का क्रियान्वयन करवाना चाहिए।
- कृषि भूमि का कोई भी हस्तांतरण गैर–कृषक व्यक्ति को नहीं किया जाना चाहिए।
- भू–सुधार संबंधी कानूनों के क्रियान्वयन में स्थानीय प्रशासन (ग्राम सभाओं व पंचायतों) की सहभागिता सुनिश्चित करनी चाहिए।
- भूमि सुधार अदालतों की स्थापना किया जाना चाहिए।
- खुदकाश्त तथा काश्तकारों की परिभाषा को स्पष्ट किया जाना चाहिए।
- भूमि अधिग्रहण के लिए कृषकों की सहमति आवश्यक रूप लिया जाना चाहिए एवं अधिग्रहण की प्रक्रिया में पारदर्शिता को सुनिश्चित किया जाना चाहिए।
- जनजातीय वर्गों की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। जनजातीय क्षेत्रों में भूमि की सीमा, मूल्य और स्वामी सम्बन्धी भू–स्वामित्व सर्वेक्षण जहां कहीं भी न किये गए हो, पूरे करने चाहिए।
- भूमि सुधार को लागू करने की विधियों को सरल बनाना चाहिए तथा किसानों को जागरूक भी करना चाहिए।

8.9 सारांश

इस इकाई में हमने भारत में भूमि सुधार सम्बंधी विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया है। इस अध्ययन से स्पष्ट है कि भारत एक कृषि प्रधान देश है। भारत की लगभग 70 प्रतिशत जनसंख्या अभी भी गांवों में रहती है, जिसकी जीविका कृषि तथा कृषि से संबद्ध अन्य क्षेत्रों पर निर्भर है और यहां भूमि जीवन यापन, सम्पत्ति और समृद्धि का स्रोत है तथा भूमि भारतीय समाज की आर्थिक विकास की नींव है।

आजादी के बाद भारत को पिछड़ी हुई तथा समस्याओं से ग्रस्त कृषि व्यवस्था विरासत में प्राप्त हुयी, जिसके मुख्य लक्षण इस प्रकार थे– भूस्वामित्व के विभिन्न प्रकार, कुछ गिने–चुने लागों के हाथ में भूमि का केंद्रीकरण, बिचौलियों की प्रभावशीलता, बहुसंख्यक गरीब किसानों का अस्तित्व, न्यून कृषि उत्पादन, ग्रामीण बेरोजगारी, कृषि तकनीकी सुविधाओं का अभाव और निम्न ग्रामीण जीवन आदि। भारत में भूमि से सम्बन्धी सभी समस्याएं ब्रिटिश शासन काल की देन हैं। स्वतन्त्रता के बाद सामाजिक न्याय स्थापित करने, आर्थिक समानता तथा कृषि उत्पादकता को बढ़ाने के लिए सरकारी स्तर पर भूमि सुधार के लिए कई योजनाओं और कार्यक्रमों का क्रियान्वयन किया है। इन भूमि सुधार कार्यक्रमों में प्रमुख हैं– जमींदारी व्यवस्था तथा बिचौलियों का अन्त, काश्तकारी व्यवस्था में सुधार, जोतों की सीमाबंदी, चकबन्दी तथा सहकारी कृषि आदि। इन भूमि सुधार कार्यक्रमों से बहुत से छोटे किसानों, भूमिहीनों, श्रमिकों को लाभ पहुंचा है।

भूमि सुधार संबंधी केन्द्र व राज्य सरकारों द्वारा लागू किये गये, कार्यक्रमों का परिणाम आशानुकूल नहीं प्राप्त हुआ है। लेकिन यह कहना भी गलत होगा कि भूमि सुधार असफल रहा है। अर्थात् सरकार द्वारा शुरू किये गये भूमि सुधार कार्यक्रमों का परिणाम बहुत सफल तो नहीं रहा लेकिन इसके परिणाम सकारात्मक जरूर हैं। बहुत से राज्यों में भूमि सुधार से सम्बंधी कानून का प्रभावी रूप से क्रियान्वयन किया गया है। बहुत से भूमिहीनों

को भूमि मिली है तथा बहुत से काश्तकारों को उनकी जमीन का मालिकाना हक मिल चुका है। केरल, उत्तर प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल में भूमि सुधार नीति काफी सफल रही है। लेकिन इस दिशा में अभी काफी प्रयास बाकी हैं तथा केंद्र व राज्य सरकारें कार्यरत हैं।

8.10 अभ्यास के प्रश्न

1. भूमि सुधार से आप क्या समझते है? भूमि सुधार क्यों आवश्यक है?
2. भूमि सुधार कार्यक्रमों का वर्णन कीजिए।
3. चकबंदी क्या है? इसके क्या लाभ हैं?
4. जमींदारी उन्मूलन पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।
5. भारत में भूमि सुधारों से संबंधित विभिन्न समस्याओं का विस्तार से वर्णन करें।
6. स्वतंत्रता से पूर्व भारत में प्रचलित विभिन्न व्यवस्था का वर्णन करें।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय अर्थव्यवस्था– प्रो० एस. एन. लाल व डॉ0 एस. के. लाल
2. भारत का आर्थिक विकास – डॉ0 गीता हक्सर
3. भारतीय अर्थव्यवस्था– दृष्टि क्वीक बुक
4. ईपीए० 06– लोक नीति निर्माण मुख्य निर्धारक– बुकलेट–4, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।
5. बी०ए०पी०ए०– 301 अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियां इकाई–1.5 उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय।

इकाई–9 गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 परिचय

9.2 गरीबी का अर्थ

9.3 गरीबी का प्रकार

9.4 गरीबी का निर्धारण व माप

9.5 भारत में गरीबी की स्थिति

9.6 भारत में गरीबी का भौगोलिक वितरण

9.7 भारत में गरीबी के कारण

9.8 भारत में गरीबी–उन्मूलन कार्यक्रम

9.9 गरीबी–उन्मूलन कार्यक्रमों का मूल्यांकन

9.10 सारांश

9.11 अभ्यास प्रश्न

कुछ उपयोगी पुस्तकें

9.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप निम्नलिखित तथ्यों को समझ सकेंगें:

- गरीबी का अर्थ एवं परिभाषा
- गरीबी का प्रकार
- गरीबी के निर्धारण का तरीका
- भारत में गरीबी–उन्मूलन प्रमुख कार्यक्रम
- भारत में गरीबी–उन्मूलन कार्यक्रमों का प्रभाव
- गरीबी के दुष्परिणाम
- गरीबी के प्रमुख कारण

9.1 परिचय

भारत में गरीबी एक गंभीर समस्या है। भारत की कुल जनसंख्या का एक बड़ा भाग गरीबी के कुचक्र में जकड़ा हुआ है। यहां गरीबी को कुपोषण, अशिक्षा, बेरोजगारी, बीमारी, झोपड़पट्टी आदि अनेक रूपों में देखा जा सकता है। कम उत्पादकता, तीव्र जनसंख्या वृद्धि, अल्प आय, बेरोजगारी, बचत का अभाव इत्यादि गरीबी के प्रमुख कारण हैं। गरीबी के कारण भारतीय समाज में अमीर और गरीब के बीच की खाई दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है तथा समाज में असमानता बढ़ रही है। गरीबी का असमानता के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। विकासशील देशों में जहां प्रति व्यक्ति आय का स्तर अत्यंत निम्न है, आय और सम्पत्ति के वितरण की असमानताओं ने अनेक समस्याओं को जन्म दिया है, जिसमें सबसे गंभीर समस्या गरीबी है। स्वतन्त्रता के बाद भारत में आर्थिक प्रगति हुई है लेकिन गरीबी पर इसका अपेक्षित प्रभाव नहीं पड़ पाया है। गरीबी अभी भी देश के लिए गंभीर समस्या बनी हुई है। गरीबी के उन्मूलन के लिए सरकार प्रयासरत है।

अनेक नीतियों और कार्यक्रमों के द्वारा गरीबी को दूर करने का प्रयास किया जा रहा है। भारत द्वारा

सरकार आजादी के बाद से ही विभिन्न पंचवर्षीय योजना और कार्यक्रमों के माध्यम से गरीबी को कम करने का कार्य किया जा रहा है तथा इसके सकारात्मक परिणाम भी प्राप्त हो रहे हैं। इस इकाई में गरीबी से सम्बंधित विभिन्न पहलुओं की चर्चा की जाएगी तथा सरकार के गरीब–उन्मूलन कार्यक्रमों की भी चर्चा की जाएगी।

9.2 गरीबी का अर्थ एवं परिभाषा

गरीबी का अर्थ उस सामाजिक क्रिया से है जिसमें समाज का एक हिस्सा अपने जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं को भी पूरा नहीं कर पाता और न्यूनतम जीवन–स्तर निर्वाह करने से वंचित रहता है। दूसरे शब्दों में गरीबी का अभिप्राय है–जीवन के लिए न्यूनतम उपभोग की आवश्यकताओं को प्राप्त करने की अयोग्यता। इन आवश्यकताओं में भोजन, वस्त्र, मकान, शिक्षा, तथा स्वास्थ्य संबंधी मानवीय आवश्यकताएं शामिल होती हैं। अर्थात् गरीबी एक ऐसी स्थिति को संदर्भित करती है जिसमें किसी व्यक्ति या परिवार के पास न्यूनतम जीवन–स्तर के लिए मूलभूत यानी मानवीय आवश्यकताओं और वित्तीय संसाधनों का अभाव होता है।

गरीबी की अवधारणा को परिभाषित करना कठिन है। विभिन्न विद्वान गरीबी को भिन्न–भिन्न नजरिये से देखते हैं। कुछ विद्वान गरीबी को परिभाषित करते हुए आय में कमी को आधार मानते हैं, जबकि कुछ अन्य विद्वान गरीबी का विश्लेषण करते हुए कैलोरी, प्रोटीन, जीवन–प्रत्याशा, जीवन–स्तर, दक्षता तथा शिक्षा के अभाव को लेते हैं। वस्तुतः गरीबी को परिभाषित करना कठिन कार्य है। एक ही व्यक्ति को किसी एक परिभाषा के अनुसार, गरीब माना जा सकता है तथा दूसरी परिभाषा के अनुसार गरीब नहीं माना जा सकता है। इसके अलावा गरीबी की अवधारणा विभिन्न राज्यों तथा देशों में भिन्न–भिन्न हो सकती है तथा परिस्थितियों के अनुकूल, राज्यों व देशों में गरीबी के मानदंड अलग–अलग हो सकते हैं।

विश्व बैंक गरीबी को लोगों की एक न्यूनतम जीवन–निर्वाह के स्तर को प्राप्त करने की असमर्थता के रूप में परिभाषित करता है। गरीबी से आशय जीवन की कुछ निर्दिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति से वंचित रहने से है, जिसका वंचन उसकी जीवन की गुणवत्ता को प्रभावित करता है। योजना आयोग द्वारा गरीबी से संबंधित एक टास्क फोर्स की रिपोर्ट के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में प्रतिव्यक्ति 2400 कैलोरी प्रतिदिन तथा शहरी क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति 2100 कैलोरी प्रतिदिन से कम भोजन प्राप्त करने वाले को गरीब माना जाता है। **प्रो. एम. एल. गुप्ता** के अनुसार "जब न्यूनतम जीवन–निर्वाह के साधनों का अभाव होता है तो ऐसी स्थिति को गरीबी की संज्ञा दी जाती है।" **प्रसिद्ध अर्थशास्त्री नरेन्द्र दुबे** के अनुसार "सामान्यतः गरीबी का आकलन इस आधार पर किया जाता है कि किसी मानव समुदाय का भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा, स्वास्थ्य व मनोरंजन आदि का स्तर क्या है।"

उपरोक्त परिभाषाओं के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि गरीबी एक ऐसी स्थिति है, जिसमें समाज का एक भाग अपनी मूल मानवीय आवश्यकताओं को पूरा कर पाने में असमर्थ होता है। ये मूल मानवीय आवश्यकताएं हैं– पर्याप्त पौष्टिक आहार, मकान या घर, वस्त्र, शिक्षा और स्वास्थ्य आदि।

गरीबी, एक ऐसी स्थिति को संदर्भित करती है जिसमें किसी व्यक्ति या समुदाय के पास न्यूनतम जीवन स्तर के लिए वित्तीय संसाधनों और आवश्यक चीजों का अभाव होता है। विश्व बैंक अत्यधिक गरीबी को प्रतिदिन 1.90 डॉलर से कम पर जीवन यापन करने के रूप में परिभाषित करता है, और मध्यम गरीबी को प्रतिदिन 3.20 डॉलर से कम पर जीने के रूप में परिभाषित करता है। यह एक बहुआयामी मुद्दा है जो आय से परे भोजन, स्वास्थ्य देखभाल, शिक्षा और अवसरों जैसी बुनियादी जरूरतों तक पहुंच को शामिल करता है।

गरीबी के संबंध में, गरीबी रेखा एक आय सीमा का प्रतिनिधित्व करती है जिसके नीचे व्यक्ति को गरीब माना जाता है। यह मौद्रिक सीमा प्रायः जीवन–यापन और क्रय शक्ति की लागत को ध्यान में रखते हुए देश–विशिष्ट होती है। भारत में, रंगराजन समिति ने 2014 में गरीबी रेखा का अनुमान ग्रामीण क्षेत्रों में प्रतिदिन 32 रु और शहरी क्षेत्रों में प्रतिदिन 47 रु लगाया है।

गरीबी स्वयं को अनेक रूपों में प्रदर्शित करती है, जैसे कुपोषण, बीमारी, आवास की स्थितियां, उच्च शिशु मृत्युदर, अशिक्षा आदि। इनमें से कुपोषण गरीबी का सबसे वीभत्स रूप है इसलिए भारत में कुल गरीबी को कैलोरी के आधार पर मापाने का प्रयास किया गया है। सामान्य कैलोरी उपयोग के लिए प्रति व्यक्ति व्यय के न्यूनतम स्तर के आधार पर गरीबी के स्तर को निर्धारित करने का आम तरीका प्रचलित है। गरीबी की सीमा का आकलन उन लोगों की संख्या का अनुमान करके किया जाता है, जिनका प्रति व्यक्ति उपभोग इस स्तर से नीचे है, उसे "गरीबी रेखा" कहा जाता है।

9.3 गरीबी के प्रकार

गरीबी को मुख्यतः सापेक्ष और निरपेक्ष दृष्टि से वर्गीकृत किया जा सकता है। अर्थात् गरीबी के के दो

प्रकार हैः–

सापेक्ष गरीबी– सापेक्ष गरीबी में उच्च आय वर्गों तथा निम्न आय वर्गों के बीच तुलना की जाती है तथा यह देखा जाता है कि विभिन्न आय वर्गो के बीच कितनी विषमता है। सापेक्ष गरीबी की स्थिति तब उत्पन्न होती है, जब किसी देश या क्षेत्र के कुछ लोगों की आय या जीवन का स्तर सामान्य लोगों से निम्न होता है। समाज के औसत व्यक्ति की तुलना में किसी व्यक्ति के उपभोग, आय व संपत्ति के अभाव को सापेक्ष गरीबी कहते हैं।

निरपेक्ष गरीबी– निरपेक्ष गरीबी के अन्तर्गत एक निश्चित मापदण्ड के आधार पर यह तय किया जाता है, कि कितने लोग इस मापदण्ड से नीचे है और उन्हें हम गरीब मान सकते हैं। इसके अन्तर्गत राष्ट्रीय स्तर पर संसाधनों के अनुरूप परिमाणात्मकता के आधार पर जीविका स्तर (गरीबी रेखा) निर्धारित किया जाता है। गरीबी रेखा में न्यूनतम उपभोग स्तर बताया जाता है। वे सभी व्यक्ति, जो न्यूनतम उपभोग स्तर तक नहीं पहुंच पाते, वे गरीब होते हैं। दूसरे शब्दों में निरपेक्ष गरीबी की स्थिति में मनुष्य की बुनियादी आवश्यकताओं, जैसे – भोजन, स्वच्छ जल, स्वच्छता सुविधाएं, स्वास्थ्य एवं शिक्षा आदि का अभाव होता है। भारत में निरपेक्ष गरीबी का अनुमान लगाने के लिए गरीबी रेखा की धारणा का प्रयोग किया जाता है।

9.4 गरीबी का निर्धारण व माप

गरीबी का निर्धारण व मांप का कोई एक निश्चित मापदण्ड नहीं है। यह विभिन्न समय, काल परिस्थितियों और स्थान व व्यक्तियों द्वारा अलग–अलग मापदण्ड के आधार पर निर्धारित किया जाता है। भारत में गरीबी के निर्धारण हेतु राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण कार्यालय (NSSO) एक मुख्य संस्था के रूप में कार्य करता है। भारत में गरीबी को मापने के लिए उपभोग विधि का प्रयोग किया जाता है। अर्थात गरीबी का निर्धारण न्यूनतम उपभोग, आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया जाता है। इसके अनुसार प्रायः वे लोग गरीब माने जाते हैं जो एक निश्चित न्यूनतम उपभोग का स्तर प्राप्त करने में असफल रहते हैं।

भारत में गरीबी के निर्धारण हेतु 1977 में योजना आयोग द्वारा **डा. वाई. के अलघ** की अध्यक्षता में एक कमेटी का गठन किया गया। इस कार्यदल द्वारा जनवरी 1979 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की गई। इस कार्यदल की रिपोर्ट के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति 2400 कैलोरी प्रतिदिन तथा शहरी क्षेत्रों में प्रतिव्यक्ति 2100 कैलोरी प्रतिदिन से कम भोजन करने वाले को गरीबी रेखा से नीचे माना जाएगा। योजना आयोग द्वारा देश मे निर्धनता को मापने के लिए. 1989 में **डॉ. डी. टी. लकड़वाला** की अध्यक्षता में एक विशेष दल का गठन किया गया। इस विशेष दल ने जुलाई 1993 में अपनी प्रस्तुत की गई। अपनी रिपोर्ट में विशेषज्ञ दल ने प्रत्येक राज्य में ग्रामीण व शहरी निर्धनता के लिए अलग–अलग मूल्य सूचकांकों की बात की।

लकड़वाला फार्मूले में शहरी निर्धनता के आकलन हेतु औद्योगिक श्रमिकों के उपभोक्ता मूल्य सूचकांक व ग्रामीण क्षेत्रों में निर्धनता के आंकलन हेतु कृषि श्रमिकों के उपभोक्ता मूल्य सूचकांक को आधार बनाया गया है। इस फार्मूले के अनुसार सभी राज्यों में अलग–अलग गरीबी रेखा निर्धारित की गई। वर्ष 2005 में योजना आयोग ने सुरेश तेंदुलकर की अध्यक्षता में एक विशेषज्ञ कार्यदल का गठन किया। 2009 में प्रस्तुत की गई अपनी रिपोर्ट में सुरेश तेंदुलकर समिति ने गरीबी के परम्परागत रूप को छोड़कर गरीबी के बहुआयामी रूप को स्वीकार किया। तेंदुलकर समिति में प्रतिव्यक्ति प्रतिदिन खर्च ग्रामीण क्षेत्रों में रु. 27 तथा शहरी क्षेत्रों में रू. 33 को अपनाया गया। इस प्रकार प्रतिव्यक्ति मासिक खर्च रू. 816 ग्रामीण क्षेत्रों के लिए तथा शहरी क्षेत्रों के लिए रू. 1000 को गरीबी रेखा माना गया। इसमें नीचे जीवनयापन करने वालों को गरीब माना गया।

योजना आयोग ने वर्ष 2012 में सी. रंगराजन की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया। सी. रंगराजन समिति द्वारा 2014 में अपनी रिपोर्ट सौंपी गई। इस समिति के आधार पर अखिल भारतीय स्तर पर ग्रामीण क्षेत्र के लिए रू. 972 तथा शहरी क्षेत्र के लिए रु. 1407 प्रतिव्यक्ति मासिक उपभोग व्यय को गरीबी रेखा के रूप में निर्धारित किया गया।

गरीबी के निर्धारण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मापदण्ड भी है। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (UNDP) ने क्षमता निर्धारण माप का एक नया मापदण्ड प्रस्तुत किया है, क्योंकि UNDP का मानना है कि वास्तव में गरीबी एक बहुआयामी संकल्पना है। इसे केवल आय के आधार पर नहीं निकाला जा सकता अर्थात् आय गरीबी अपने आप में पूर्ण नहीं है, बल्कि उसके लिए अन्य मानकों को भी ध्यान में रखना होगा। इसके अन्य मानको में स्वास्थ्य व पोषाहार की क्षमता जिसके अन्तर्गत, यह देखा जाता है कि पांच वर्ष से कम आयु के बच्चों का कितना प्रतिशत भाग कुपोषण का शिकार है या मानक भार से नीचे है। परिवार के सदस्यों की शैक्षणिक स्थिति को भी इसमें सम्मिलित किया जाता है।

9.5 भारत में गरीबी की स्थिति

पिछले कुछ दशकों में महत्वपूर्ण आर्थिक विकास व प्रगति के बावजूद गरीबी भारत के लिए एक प्रमुख चिंता का विषय बनी हुई है। भारत में कुल जनसंख्या का एक बहुत बड़ा हिस्सा गरीबी रेखा से नीचे जीवन व्यतीत कर रहा है। गरीबी रेखा के निर्धारण तथा गरीबी के अनुमान सन्दर्भ में सामान्यतया योजना आयोग के ही माप तथा दृष्टिकोण को स्वीकार किया जाता है। किन्तु विश्व बैंक आय के आधार पर गरीबी रेखा का निर्धारण करता है जिसे 'डॉलर गरीबी रेखा' कहा जाता है। विश्व बैंक एक डॉलर न्यूनतम आय के आधार पर गरीबी रेखा निर्धारित करता है। विश्व बैंक की रिपोर्ट के अनुसार भारत की 21.2 प्रतिशत जनसंख्या गरीबी रेखा के नीचे जीवनयापन कर रही है।

योजना आयोग ने परिवार उपभोक्ता व्यय सर्वेक्षण 2011–12 के 68वें दौर के राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के आंकड़ों का प्रयोग करते हुए तेंदुलकर समिति की सिफारिशों के आधार पर 2011–12 के लिए गरीबी रेखा और गरीबी के अनुपात को अद्यतन किया है, तदनुसार 2011–12 में ग्रामीण क्षेत्रों के लिए रु. 816 मासिक प्रति व्यक्ति व्यय पर और शहरी क्षेत्रों के लिए रू. 1000 पर अखिल भारतीय स्तर पर गरीबी रेखा निर्धारित की गई। देश में गरीबी का अनुपात 2004–05 में 37.2 प्रतिशत से घटकर 2011–12 मे 21.9 प्रतिशत रह गया। सम्पूर्ण रूप से गरीबों की संख्या 2004–05 में 407.1 मिलियन से घटकर 2011–12 में 269.3 मिलियन रह गई। वर्ष 2000 के बाद भारत ने गरीबी उन्मूलन में उल्लेखनीय प्रगति की है।

9.6 भारत में गरीबी का भौगोलिक वितरण

भारत का गरीबी परिदृश्य भौगोलिक रूप से विविध है। हालांकि गरीबी एक राष्ट्रव्यापी मुद्दा है, इसकी व्यापकता और तीव्रता राज्यों और क्षेत्रों में काफी भिन्न है। उदाहरण के लिए, ग्रामीण क्षेत्रों में शहरी क्षेत्रों की तुलना में गरीबी दर अधिक होती है, हालांकि शहरी गरीबी, विशेष रूप से मलिन बस्तियों में भी एक गंभीर मुद्दा है। भारतीय राज्यों में, बिहार, झारखंड और उत्तर प्रदेश में ऐतिहासिक रूप से गरीबी दर अधिक रही है। पूर्वोत्तर राज्यों और मध्य भारत के कुछ हिस्सों में भी गरीबी का उच्च स्तर दिखाई देता है। इसके विपरीत, केरल, पंजाब और गोवा जैसे राज्यों में गरीबी दर अपेक्षाकृत कम है, जिसका कारण आंशिक रूप से साक्षरता और स्वास्थ्य जैसे बेहतर सामाजिक विकास संकेतक हैं।

9.7 भारत में गरीबी के कारण

भारत में गरीबी के एक समान कारण नहीं हैं। जिस प्रकार विभिन्न समाजों, देशों और विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में गरीबी के विभिन्न कारण होते हैं, उसी प्रकार भारत में भी गरीबी के विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, और ऐतिहासिक कारण हैं।

(1) आर्थिक कारण : भारत में गरीबी के प्रमुख आर्थिक कारण निम्नलिखित हैं–

- निम्न आर्थिक विकास दर।
- व्यापक बेराजगारी और अल्प रोजगार की स्थिति।
- रोजगार के अवसरों में निम्न वृद्धि।
- आय और सम्पत्ति का असमान वितरण।
- निम्नस्तरीय आर्थिक गतिविधियों में संलग्नता।
- कृषि में निम्न उत्पादकता।
- अविकसित बुनियादी ढांचा।
- कुछ क्षेत्रों में अपर्याप्त औद्योगीकरण।
- आवश्यक वस्तुओं का अपर्याप्त उत्पादन।
- प्राकृतिक संसाधनों का अनुचित उपयोग।
- आधुनिक तकनीकी का अभाव।

- वैकल्पिक व्यवसाय के अभाव में कृषि पर अत्यधिक निर्भरता।
- भारत मे पूंजी निर्माण, बचत एवं निवेश का निम्न स्तर।
- भ्रष्टाचार।

(2) सामाजिक कारणः देश में गरीबी के प्रमुख सामाजिक कारण निम्नलिखित हैंः–

- तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या।
- शिक्षा का अभाव।
- समाज का रूढ़िवादी एवं परम्परागत विचारों से ग्रस्त होना।
- भारतीय समाज में व्याप्त असमानता।
- सामाजिक रीति–रिवाजों में सामर्थ्य से अधिक व्यय।
- भूमि सुधार लागू करने में असमर्थता।
- भारतीय समाज में जाति प्रथा, धार्मिक एवं सामाजिक परम्पराओं का प्रचलन।

(3) ऐतिहासिक कारणः

भारत लम्बे समय तक पराधीन रहा है। अंग्रेजों ने भारतीय अर्थव्यवस्था को उपनिवेश के रूप में परिवर्तित कर दिया अर्थात् देश का आर्थिक शोषण किया। देश के कच्चे माल को इंग्लैण्ड भेजा जाने लगा तथा वहां से तैयार माल भारत में महंगे दामों में बेचा जाने लगा, जिसने भारतीय लघु एवं कुटीर उद्योगों पर नकारात्मक प्रभाव डाला। अंग्रेजों ने भारत की आधारभूत संरचना के विकास में भी कोई रूचि नहीं ली, जो भी विकास किये गये (रेल, डाक, व्यापार) उनका मुख्य उद्देश्य स्वयं का हित एवं विकास तथा भारतीयों का शोषण करना था। अंग्रेजों द्वारा औद्योगीकरण की नीति को बढ़ावा दिया गया जिसके परिणामस्वरूप भारतीय संसाधनों का दोहन इंग्लैण्ड के विकास के लिए किया गया और भारतीय समाज शोषण एवं गरीबी के शिकंजे में जकड़ता गया। अतः भारत में गरीबी की स्थिति को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में औपनिवेशिक विरासत से जोड़ कर देखा जा सकता है।

9.8 भारत में गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम

स्वतंत्र भारत की विकासात्मक रणनीतियों में हमेशा से गरीबी–उन्मूलन पर जोर दिया गया है। स्वतन्त्रता के पश्चात गरीबी को दूर करने के लिए अनेक गरीबी–उन्मूलन कार्यक्रम चलाए गए हैं। विभिन्न सरकारों द्वारा शुरू किए गए इस गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों का उद्देश्य गरीबों को वित्तीय स्थिरता, रोजगार, खाद्य सुरक्षा, आवास और स्वास्थ्य सेवाएं और शिक्षा जैसी बुनियादी सेवाओं तक पहुंच प्रदान करना है। इन कार्यक्रमों में 'विशिष्ठ ग्रामीण वर्ग' जैसे कि गरीब, महिलाएं, अनुसूचित जाति और जनजाति और शहरी गरीबों को शामिल किया गया है।

(1) बीस सूत्रीय कार्यक्रमः

भारत में गरीबी उन्मूलन के लिए इंदिरा गांधी ने बीस सूत्रीय कार्यक्रम को जुलाई, 1975 में प्रारम्भ किया। इस कार्यक्रम का उद्देश्य गरीबी और आर्थिक शोषण को कम करना, और समाज के कमजोर वर्ग को ऊपर उठाना था। इस कार्यक्रम के पांच महत्वपूर्ण लक्ष्य थे (1) मुद्रास्फीति नियन्त्रण (2) उत्पादन प्रोत्साहन (3) ग्रामीण जन–कल्याण (4) शहरी मध्यम वर्ग को राहत और (5) आर्थिक और सामाजिक, अपराधों पर रोक।

बीस सूत्रीय कार्यक्रम में ये कार्यक्रम सम्मिलित थेः– सिंचाई क्षमता में वृद्धि, ग्रामीण रोजगार के लिए उत्पादन कार्यक्रम में वृद्धि, अधिशेष भूमि का बंटवारा, खेतिहर मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी, बन्धुआ मजदूरों का पुनर्वास, अनुसूचित जातियों और जनजातियों का विकास, आवासीय सुविधाओं का विकास, विद्युत उत्पादन में वृद्धि, परिवार–नियोजन, वृक्षारोपण, प्राथमिक स्वास्थ्य सुविधाओं का विस्तार, स्त्रियों और बच्चों के लिए कल्याणकारी कार्यक्रम, प्राथमिक शिक्षा का विस्तार, सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सशक्त करना, औद्योगिक नीतियों का सरलीकरण, काले धन पर नियंत्रण, पेयजल सुविधाओं में सुधार, और आन्तरिक संसाधनों का विकास।

(2) समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (TRDP): समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम गरीबी को दूर करने के लिए सरकार की एक प्रमुख योजना है। इसका उद्देश्य चुनिन्दा गरीब परिवारों को कई प्रकार के कार्यो में

स्व–रोजगार दिलाकर गरीबी रेखा को पार करना है। 2 अक्टूबर 1980 में छठीं योजना के दौरान प्रारम्भ यह पंचवर्षीय–योजना गरीबी तथा बेरोजगारी के निवारण की दिशा में पहली सबसे अधिक महत्वाकांक्षी योजना है जिससे पहली बार गरीबी पर प्रत्यक्ष प्रहार की नीति अपनायी गयी। यह मूलतः गरीबी निवारण से सम्बन्धित योजना है, इसमें लोगों को कृषि से सम्बन्धित अनेक क्रियाओं में स्वरोजगार प्रदान करने की व्यवस्था की गयी। यह योजना जब शुरू हुई तो उस समय चल रही सभी योजनाएं जैसे एम्प्लॉयमेंट की गारन्टी स्कीम, लघु कृषक विकास एजेन्सी, सीमान्त कृषक तथा कृषक श्रमिक, सूखा संवेदन क्षेत्र कार्यक्रम, मरुस्थल विकास कार्यक्रम तथा कमान्ड एरिया डेवेलपमेंट कार्यक्रम को इसमें मिला दिया गया। यह कार्यक्रम 1 अप्रैल 1999 तक चला, इसे स्वर्ण जयन्ती ग्रामीण स्वरोजगार योजना के रूप में पुनर्गठित किया गया।

(3) ट्राइसेम (Training of Rural Youth For Self Employment – TRYSEM)

स्वरोजगार के लिए ग्रामीण युवाओं को प्रशिक्षण की योजना 15 अगस्त, 1979 को प्रारम्भ की गई। इसका उद्देश्य ग्रामीण युवकों को तकनीकी ज्ञान देना है ताकि वे कृषि, उद्योग, नौकरियों और व्यापारिक गतिविधियों के क्षेत्रों में रोजगार प्राप्त कर सकें। इस प्रशिक्षण के लिए वे ही युवा पात्र होते हैं जो 18–35 आयु समूह के हैं और ऐसे परिवारों के हैं जो गरीबी रेखा से नीचे जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इस योजना में अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के सदस्यों को वरीयता दी जाती है। अप्रैल 1999 में इस योजना को स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना में मिला दिया गया।

(4) राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रमः राष्ट्रीय ग्रामीण विकास कार्यक्रम का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में अधिशेष खाद्यान्न की सहायता से अतिरिक्त रोजगारों के अवसरों को उत्पन्न करना था। प्रारम्भ में यह कार्यक्रम काम के बदले अनाज कार्यक्रम कहलाता था। यह कार्यक्रम 1 अप्रैल, 1977 को लागू किया गया। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत अनेक काम किये गये– बाढ़ से बचाव, विद्यमान सड़कों की मरम्मत, नई सम्पर्क सड़कों की व्यवस्था, सिंचाई सुविधाओं में सुधार, पंचायत घरों, स्कूल भवनों, चिकित्सा और स्वास्थ्य केन्द्रों का निर्माण और ग्रामीण क्षेत्रों में सफाई करने की स्थितियों में सुधार। अप्रैल 1, 1989 को इसे जवाहर रोजगार योजना मिला दिया गया।

(5) ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारन्टी कार्यक्रमः शत प्रतिशत केन्द्र सरकार द्वारा वित्तपोषित यह कार्यक्रम 15 अगस्त 1983 में प्रारम्भ किया गया। इसका प्रमुख उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में लाभप्रद रोजगार का सृजन, उत्पादक सम्पत्तियों को सृजित करना तथा जीवन की सम्पूर्ण गुणवत्ता में सुधार लाना था। सामाजिक वानिकी, इन्दिरा आवास योजना तथा दस मिलियन वेल स्कीम इस योजना में शामिल थे।

(6) प्रधानमंत्री रोजगार योजनाः

प्रधानमंत्री रोजगार योजना 2 अक्टूबर, 1993 को प्रारम्भ की गयी। यह योजना शिक्षित बेरोजगारों को पोषणीय रोजगार प्रदान करेगी। 18 से 35 वर्ष के युवक जिन्होंने कम से कम 6 महीने का टेक्निकल प्रशिक्षण प्राप्त किया है तथा जिनकी पारिवारिक आय 24000 रुपया वार्षिक से कम है, इसके अन्तर्गत योग्य होंगे। इसके अन्तर्गत 1 लाख रुपये ऋण प्राप्त होगा जिसमें 15% या 7500 रुपया अनुदान के रूप में होगा। प्रधानमंत्री रोजगार योजना (PMRY) को वर्ष 2008 में शुरू प्रधानमंत्री रोजगार सृजन कार्यक्रम (PMEGP) में मिला दिया गया।

(7) स्वर्ण जयंती ग्राम स्वरोजगार योजनाः ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले गरीब लोगों के लिए 1 अप्रैल, 1999 को 'स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना' शुरू की गई। यह एक स्वरोजगार कार्यक्रम है, जिसका उद्देश्य इसके अन्तर्गत सहायता प्राप्त परिवारों को बैंक ऋण तथा सब्सिडी के द्वारा आय सृजक सम्पत्तियां मुहैया कराना है जिसमें वे गरीबी रेखा से ऊपर उठ सकें। यह स्वरोजगार के सभी पहलुओं को सम्मिलित करता है, जैसे–गरीबों को स्वसहायता समूहों में संगठित करना, ट्रेनिंग, ऋण टेक्नोलॉजी, अधोसंरचना तथा विपणन। इस योजना में 1980 में शुरु किये समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम (IRDP) को शामिल कर लिया गया है। यह ग्रामीण गरीबों के लिए स्वरोजगार सृजन कार्यक्रम है। इस योजना के अन्तर्गत गांवों में छोटे–छोटे उद्यम स्थापित किए गए हैं। इन उद्यमों को व्यक्तिगत और सामूहिक रूप में आत्मनिर्भर समूहों के आधार पर संगठित किया जाता है। इन उद्यमों को स्थापित करने के लिए निर्धन लोगों को बैंकों द्वारा ऋण तथा आर्थिक सहायता उपलब्ध करायी जाती है।

(8) महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारन्टी अधिनियम (मनरेगा)

राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी एक्ट (NREGA) सितम्बर 2005 को पारित हुआ तथा इसका शुभारंभ आन्ध्र प्रदेश के अन्तपुर जिले से 2 फरवरी, 2006 को देश के 200 चुनिंदा जिलों में किया गया था। 2 अक्टूबर 2009 को इसका नाम बदलकर महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारन्टी ऐक्ट कर दिया गया। यह योजना 200 जिलों में लागू की गयी थी पर 2007–08 में इसे बढ़ाकर 330 जिलों में कर दिया गया। वर्तमान समय में

यह देश के सभी जिलों मे लागू है। रोजगार सृजन करने वाली यह पहली योजना है और इस दृष्टि से यह सभी योजनाओं से भिन्न है, जो पार्लियामेंट द्वारा पारित अधिनियम के द्वारा ग्रामीण जनसंख्या को रोजगार प्राप्त करने की गारन्टी के साथ कानून द्वारा अधिकार प्रदान करती है अर्थात् मनरेगा रोजगार की वैधानिक गारंटी प्रदान करती है, जो अन्य कार्यक्रमों की तुलना में इसे विशेष बना देता है। इस योजना के निम्नलिखित मुख्य प्रावधान हैं–

(1) प्रत्येक ग्रामीण परिवार के एक वयस्क सदस्य को न्यूनतम 100 दिन का अकुशल रोजगार प्रदान करना है जिसमें कम से कम 1/3 स्त्रियां होंगी।

(2) मनरेगा के तहत दिया जाने वाला रोजगार अकुशल शारीरिक श्रम रोजगार होगा जिसके लिए वैधानिक न्यूनतम मजदूरी देय होगी तथा जिसका भुगतान कार्य के किये जाने के सात दिन के अन्दर देय होगा।

(3) ग्रामीण क्षेत्र में रहने वाले प्रत्येक परिवार का वयस्क सदस्य जो अकुशल श्रम का इच्छुक है, स्थानीय ग्राम पंचायत में पंजीकरण करा सकता है।

(4) रोजगार प्राप्त करने के लिए लिखित आवेदन प्राप्त होने की तारीख से 15 दिन के भीतर रोजगार प्रदान करने की गारंटी प्रभावी हो जाती है।

(5) योजना के तहत पंजीकृत परिवार को जॉब कार्ड जारी किया जाता है।

(6) मांग किए जाने की तारीख से 15 दिन के अन्दर रोजगार प्रदान न किए जाने की स्थिति में राज्य (ऐक्ट के अनुसार) उस लाभार्थी को बेरोजगारी भत्ते का भुगतान करेगी।

(7) योजना के अंतर्गत कार्य गांव के 5 किमी॰ की परिधि में ही प्रदान किया जाता है।

(9) प्रधान मंत्री जन धन योजना (PMJDY)

2014 में शुरू की गई प्रधान मंत्री जन–धन योजना का उद्देश्य वित्तीय समावेशन प्राप्त करना था। इसने प्रत्येक परिवार को, विशेष रूप से गरीबों और बैंक रहित लोगों को, कम से कम एक बैंक खाता खोलने के लिए प्रोत्साहित किया, इस प्रकार उन्हें औपचारिक बैंकिंग प्रणाली में लाया गया। पीएमजेडीवाई सरकार को सीधे सब्सिडी और लाभ हस्तांतरित करने, रिसाव को कम करने और यह सुनिश्चित करने के लिए एक मंच प्रदान करता है जिससे कि धन लक्षित लाभार्थियों तक पहुंचे।

(10) प्रधानमंत्री ग्रामीण आवास योजना (पीएमजीएवाई)

प्रधानमंत्री ग्रामीण आवास योजना, 2016 में इंदिरा आवास योजना के पुनर्गठित संस्करण के रूप में शुरू की गई, जिसका उद्देश्य ग्रामीण गरीबों को आवास प्रदान करना है। यह योजना बुनियादी सुविधाओं के साथ पक्के (स्थायी) घरों के निर्माण के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करती है। यह योजना खास तौर पर ग्रामीण समाज के कमजोर वर्गों, जैसे अनुसूचित जाति और जनजाति, विधवा महिलाओं पर केंद्रित है।

(11) प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना (पीएमयूवाई)

2016 में शुरू की गई प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना का उद्देश्य महिलाओं और बच्चों को स्वच्छ खाना पकाने का ईंधन, एलपीजी प्रदान करके उनके स्वास्थ्य की रक्षा करना था। इस योजना का उद्देश्य ग्रामीण भारत में ज्यादातर इस्तेमाल होने वाले ईंधन को स्वच्छ और अधिक कुशल एलपीजी से बदलना है। सरकार गरीब परिवारों को एलपीजी कनेक्शन खरीदने पर सब्सिडी प्रदान करती है।

(12) राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम (एनएफएसए)

2013 में, किफायती कीमतों पर पर्याप्त मात्रा और गुणवत्ता वाले भोजन तक पहुंच सुनिश्चित करने के लिए राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम लागू किया गया था। इसका उद्देश्य भुखमरी और अल्पपोषण को रोकना था। यह अधिनियम कानूनी तौर पर 75% ग्रामीण आबादी और 50% शहरी आबादी को रियायती दर पर लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली (टीपीडीएस) के तहत खाद्यान्न प्राप्त करने का अधिकार देता है। अधिनियम में गर्भवती महिलाओं और स्तनपान कराने वाली माताओं को पोषण संबंधी सहायता प्रदान करने के प्रावधान भी शामिल हैं।

अतः भारत के गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम यह मानते हुए विविध और बहुआयामी रहे हैं कि गरीबी एक जटिल मुद्दा है जिसे किसी एक दृष्टिकोण से हल नहीं किया जा सकता है। हालांकि इन कार्यक्रमों को अलग–अलग स्तर की सफलता मिली है, फिर भी वे गरीबी और इसके कई पहलुओं का सामना करने के निरंतर प्रयास को

प्रदर्शित करते हैं। इन पहलों से सीखे गए सबक गरीबी उन्मूलन के लिए भविष्य की रणनीति तैयार करने में अमूल्य हैं।

इस प्रकार भारत के सबसे महत्वाकांक्षी सामाजिक सुरक्षा उपायों में से एक, मनरेगा का उद्देश्य ग्रामीण परिवारों में वयस्कों के लिए काम करने के अधिकार की कानूनी गारंटी प्रदान करना है। इस अधिनियम का लक्ष्य अकुशल शारीरिक कार्य के लिए एक वित्तीय वर्ष में कम से कम 100 दिनों का वेतन रोजगार प्रदान करके आजीविका सुरक्षा बढ़ाना है। मनरेगा ग्रामीण गरीबों को लक्षित करता है, जिसमें महिलाओं पर विशेष जोर दिया जाता है, क्योंकि यह अनिवार्य है कि कम से कम एक तिहाई लाभार्थी महिलाएं होनी चाहिए। यह योजना गैर–कृषि मौसमों के दौरान ग्रामीण परिवारों को आय का स्रोत प्रदान करने में सफल रही है, जिससे ग्रामीण गरीबी को कम करने और शहरी क्षेत्रों में संकटपूर्ण प्रवास को रोकने में मदद मिली है। इसने अप्रत्यक्ष रूप से ग्रामीण बुनियादी ढांचे के विकास में भी योगदान दिया है। हालांकि, कार्यक्रम को विलंबित वेतन भुगतान, भ्रष्टाचार और अधूरी परियोजनाओं के मामले में चुनौतियों का सामना करना पड़ा है। इन मुद्दों के बावजूद, मनरेगा गरीबों के लिए एक महत्वपूर्ण सुरक्षा जाल साबित हुआ है, खासकर कोविड–19 महामारी जैसे संकट के दौरान।

9.9 गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों का मूल्यांकन

स्वतंत्रता के पश्चात से ही गरीबी–उन्मूलन सरकार की नीति का महत्वपूर्ण हिस्सा रहा है। भारत में गरीबी–उन्मूलन लिए समय–समय पर अनेक गरीबी–उन्मूलन कार्यक्रम शुरू किए गये जिनसे गरीबी कम करने की दिशा में सकारात्मक सहायता मिली है। गरीबी–उन्मूलन कार्यक्रमों के मूल्यांकन से पता चलता है कि भारत में गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों ने समय के साथ निस्संदेह, सकारात्मक प्रभाव डाला है। योजना आयोग की एक रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 2004–05 से 2009–10 के बीच गरीबी में 7.3 प्रतिशत की कमी दर्ज की गयी है। वर्ष 2000 के पश्चात भारत ने गरीबी में उल्लेखनीय प्रगति की है। विश्व बैंक के आंकड़ों से पता चलता है कि भारत में अंतर्राष्ट्रीय गरीबी रेखा (1.90 डॉलर प्रतिदिन प्रति व्यक्ति) के नीचे रहने वाले लोगों का प्रतिशत 1993 में लगभग 45.3 प्रतिशत से गिरकर वर्ष 2015 में लगभग 13.4 प्रतिशत हो गया है। हाल के अनुमान से पता चलता है कि यह आंकड़ा लगातार घट रहा है। वित्तीय वर्ष 2011–12 से वर्ष 2015 तक 90 मिलियन से अधिक लोग भीषण गरीबी की अवस्था से बाहर हुए हैं और उनके जीवन स्तर में भी काफी सुधार हुआ है। मनरेगा जैसे कार्यक्रमों ने ग्रामीण रोजगार में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। सरकारी आकड़ों के अनुसार कार्यक्रम के शुरूआत के बाद से 270 मिलियन से अधिक जॉब कार्ड जारी किए गए हैं, जिसमें सालाना औसतन 50 मिलियन परिवारों को लाभ प्राप्त हुआ है।

वित्तीय समावेशन के उद्देश्य से शुरू की गयी प्रधानमंत्री जन धन योजना के परिणामस्वरूप 2021 तक 400 मिलियन से अधिक बैंक खाते खोले गए हैं। पीएमयूवाई ने बीपीएल परिवारों को 80 मिलियन से अधिक एलपीजी कनेक्शन प्रदान किए हैं, जिससे स्वच्छ खाना पकाने हेतु ईंधन के उपयोग को बढ़ावा मिला है। इन कार्यक्रमों का गरीबी दर, आय–स्तर और जीवन–स्तर पर अलग–अलग प्रभाव पड़ा है। मनरेगा ने कई ग्रामीण परिवारों को आय सुरक्षा प्रदान करने में मदद की है, जिससे जीवन स्तर में सुधार हुआ है। कार्यक्रम ने गरीबी के अंतर को भी काफी हद तक कम कर दिया, खासकर गरीब राज्यों में पीएमजेडीवाई ने न केवल बैंक खातों वाले व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि की है, बल्कि गरीबों को प्रत्यक्ष लाभ हस्तांतरण प्राप्त करने में भी सक्षम बनाया है, जिससे भ्रष्टाचार और रिसाव में कमी आई है। इसने यह सुनिश्चित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है कि सरकारी सहायता उन लोगों तक पहुंचे जिन्हें इसकी सबसे अधिक आवश्यकता है। पीएमयूवाई ने पारंपरिक खाना पकाने के ईंधन से जुड़े एक प्रमुख स्वास्थ्य जोखिम, घरेलू वायु प्रदूषण को कम करके जीवन–स्तर में पर्याप्त सुधार किया है।

इन कार्यक्रमों का प्रभाव गरीबी उन्मूलन से परे है और शिक्षा, स्वास्थ्य और लैंगिक समानता जैसे विभिन्न सामाजिक–आर्थिक पहलुओं को प्रभावित करता है। उदाहरण के लिए मनरेगा ने ग्रामीण परिवारों को बुनियादी आय प्रदान करके अप्रत्यक्ष रूप से बच्चों को स्कूल में रखने में मदद की है क्योंकि परिवारों पर अतिरिक्त आय के लिए उन्हें बाहर निकालने का दबाव कम होता है।

पीएमजेडीवाई ने वित्तीय समावेशन को बढ़ावा देकर परिवारों को वित्तीय जोखिमों को बेहतर ढंग से प्रबंधित करने, भविष्य के लिए बचत करने और शिक्षा और स्वास्थ्य देखभाल जैसे अवसरों में निवेश करने की अनुमति दी है। पीएमयूवाई का महिलाओं के स्वास्थ्य और उनके समय पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। जलाऊ लकड़ी इकट्ठा करने और खाना पकाने में लगने वाले समय को कम करके, कार्यक्रम ने महिलाओं को आय–सृजन गतिविधियों और शिक्षा सहित अन्य गतिविधियों के लिए अधिक समय दिया है। हालांकि इन कार्यक्रमों ने महत्वपूर्ण प्रगति की है, किन्तु चुनौतियां अभी भी बनी हुई हैं। आय असमानता अभी भी अधिक है, और आबादी का एक महत्वपूर्ण

हिस्सा फिर से गरीबी में गिरने के प्रति संवेदनशील है। इसके अलावा, जनजातीय आबादी और महिलाओं जैसे समूहों को उच्च गरीबी दर का सामना करना पड़ रहा है। स्थायी गरीबी उन्मूलन सुनिश्चित करने के लिए इन कार्यक्रमों के प्रभाव का निरंतर मूल्यांकन और रणनीतियों को परिष्कृत करने की आवश्यकता है।

9.10 सारांश

भारत में गरीबी उन्मूलन के अनेक कार्यक्रम शुरू किए गए हैं, जिससे गरीबी दर में उल्लेखनीय कमी आई है और आय स्तर और जीवन स्तर में सुधार हुआ है। इन कार्यक्रमों का प्रभाव शिक्षा, स्वास्थ्य और लैंगिक समानता जैसे विभिन्न सामाजिक–आर्थिक पहलुओं पर देखा जा सकता है। यह मनरेगा, पीएमजेडीवाई पीएमजीएवाई, पीएमयूवाई और एनएफएसए जैसी सरकारी पहलों के माध्यम से संभव हुआ है, जिनमें से प्रत्येक ने गरीबों की स्थिति को सुधारने में योगदान दिया है।

हालांकि, भारत में गरीबी–उन्मूलन का मार्ग चुनौतियों से भरा है। असमानता, भ्रष्टाचार, अप्रभावी कार्यान्वयन और नौकरशाही अक्षमताओं जैसे संरचनात्मक मुद्दों ने इन प्रयासों में बाधा उत्पन्न की है। जबकि सरकारी पहलों के सकारात्मक परिणाम मिले हैं। वे दृष्टिकोण और कार्यान्वयन में निरंतर मूल्यांकन और सुधार की आवश्यकता पर भी जोर देते हैं। स्थानीय संदर्भों, लक्षित जनसांख्यिकी पर विचार करने और विशिष्ट आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए नीतियों को अपनाने के महत्व को कम करके आंका नहीं जा सकता है।

तकनीकी प्रगति गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों की प्रभावशीलता को बढ़ाने के लिए नए अवसर प्रदान करती है। डिजिटल बैंकिंग, एआई और ब्लॉकचेन सेवा वितरण, लाभार्थी लक्ष्यीकरण कार्यक्रम, निगरानी और पारदर्शिता संभावित रूप से क्रांतिकारी बदलाव हो सकते हैं। गरीबी–उन्मूलन की पहल को शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं और सामाजिक समावेशिता को बढ़ावा देने के प्रयासों के साथ–साथ चलना चाहिए। उन्हें गरीबी के मूल कारणों को संबोधित करना चाहिए और व्यक्तियों और समुदायों को सशक्त बनाने पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए। भारत में गरीबी उन्मूलन का कार्य कठिन लेकिन साध्य है। अब तक के अनुभव, सकारात्मक और नकारात्मक दोनों, मूल्यवान अंतर्दृष्टि प्रदान करते हैं जो भविष्य के प्रयासों का मार्गदर्शन कर सकते हैं। सुधार की संभावनाएं विशाल हैं और नवप्रवर्तन के अवसर प्रचुर हैं। गरीबी मुक्त भारत की ओर यात्रा एक लंबी यात्रा है, जिसमें अटूट प्रतिबद्धता, ठोस प्रयास और सामूहिक कार्रवाई की आवश्यकता है।

भारत में गरीबी–उन्मूलन की कहानी प्रगति पर है। यह आशा और लचीलेपन, संघर्ष और जीत की कहानी है। यह इस तथ्य का प्रमाण है कि गरीबी एक स्थायी चुनौती हो सकती है, लेकिन यह अलंघनीय नहीं है। नीतियों के सही मिश्रण, मजबूत कार्यान्वयन, तकनीकी हस्तक्षेप और जन–केंद्रित दृष्टिकोण के साथ, भारत एक समावेशी और न्यायसंगत समाज बनाने की आकांक्षा कर सकता है।

9.11 अभ्यास के प्रश्न

- गरीबी से आप क्या समझते हैं? गरीबी के प्रकार का वर्णन करें।
- गरीबी के मुख्य कारण क्या हैं? वर्णन करें।
- गरीबी–उन्मूलन के लिए चलायी जा रही विभिन्न योजनाओं का मूल्यांकन कीजिए।
- मनरेगा का विस्तार से वर्णन करें।
- गरीबी दूर करे करने के उपाय बताएं।

9.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय अर्थ व्यवस्था–लाल एवं लाल
2. सामाजिक समस्याएं–राम आहूजा
3. ईपीए० 06– लोक नीति निर्माण मुख्य निर्धारक– बुकलेट–4, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।
4. बी०ए०पी०ए०– 301 अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियां ईकाई–1.5 उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय।

इकाई–10 औद्योगिक नीति

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 परिचय

10.2 औद्योगिक नीति का अर्थ व महत्व

10.3 स्वतंत्रता–पूर्व युग में औद्योगिक नीति

10.4 औद्योगिक नीति, 1948

10.5 औद्योगिक नीति, 1956

10.6 औद्योगिक नीति, 1970

10.7 औद्योगिक नीति, 1980

10.8 नई औद्योगिक नीति, 1991

10.9 हाल की औद्योगिक नीतियां

10.10 भारतीय अर्थव्यवस्था पर औद्योगिक नीतियों का प्रभाव

10.11 चुनौतियां एवं अनुशंसाएं

10.12 सारांश

10.13 अभ्यास के प्रश्न

कुछ उपयोगी पुस्तकें

10.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद उपरान्त आप निम्नलिखित तथ्यों को समझ सकेंगेः–

- औद्योगिक नीति का अर्थ एवं महत्व
- स्वतन्त्रता से पूर्व औद्योगिक नीति
- स्वतन्त्रता के बाद के वर्ष 1948 से वर्ष 1980 तक की प्रमुख औद्योगिक नीति
- वर्ष 1991 की नई औद्योगिक नीति के प्रमुख बदलाव व प्रावधान
- हाल की प्रमुख औद्योगिक नीतियां
- भारतीय अर्थव्यवस्था पर औद्योगिक नीतियों का प्रभाव

10.1 परिचय

भारत की औद्योगिक नीतियों ने 1947 में अपनी आजादी के बाद से देश के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उन्होंने भारत को एक कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था से औद्योगिक क्षेत्रों के एक मजबूत मिश्रण के साथ एक नयी अर्थव्यवस्था में बदलने का मार्ग प्रशस्त किया है। आयात प्रतिस्थापन से लेकर वैश्वीकरण तक, इन नीतियों के प्रक्षेप पथ ने भारतीय अर्थव्यवस्था के उभरते औद्योगिक परिदृश्य को आकार दिया है। भारत में औद्योगिक नीतियां, औद्योगिक विकास की दिशा और गति को नियंत्रित करने के लिए सरकार द्वारा बनाई गई योजनाओं और नियमों को संदर्भित करती हैं। इन नीतियों में देश में उद्योगों को नियंत्रित और प्रबंधित करने के लिए नियम, विनियम, सिद्धांत, दिशानिर्देश और रणनीतियां शामिल हैं। यह कानूनी मानदंडों और वित्तीय प्रोत्साहनों का एक व्यापक सेट है जो भारत में औद्योगिक प्रबंधन और नीतियों को नियंत्रित करता है। वे उद्योगों के विस्तार के लिए एक रोडमैप हैं और देश में आर्थिक विकास, रोजगार सृजन, क्षेत्रीय विकास और समग्र सामाजिक–आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं।

भारतीय अर्थव्यवस्था में औद्योगिक नीतियों का महत्व व्यापक और विविध है। वे आर्थिक वृद्धि और विकास

को प्रोत्साहित करने में प्रमुख उपकरण हैं। वे अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। औद्योगिक विकास को बढ़ावा देकर ये नीतियां वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में वृद्धि में योगदान करती हैं, जिससे सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) बढ़ता है। भारत में औद्योगिक नीतियां रोजगार पैदा करने में महत्वपूर्ण रही हैं। उद्योगों की स्थापना और विकास को बढ़ावा देकर, औद्योगिक नीतियों ने रोजगार के कई अवसर पैदा किए हैं, जिससे बेरोजगारी और गरीबी की समस्या का समाधान हुआ है। वे अल्प विकसित क्षेत्रों में औद्योगिक विकास को बढ़ावा देकर संतुलित क्षेत्रीय विकास में भी योगदान देते हैं, जिससे क्षेत्रीय असमानताएं कम होती हैं। इसके अलावा, इन नीतियों ने लघु उद्योगों के विकास को सुविधाजनक बनाया है, जो भारतीय औद्योगिक क्षेत्र की रीढ़ हैं। सहायता और प्रोत्साहन प्रदान करके, सरकार ने लघु उद्योगों को सशक्त बनाया है, जिससे उद्यमशीलता, नवाचार और प्रतिस्पर्धात्मकता को बढ़ावा मिला है।

अंततः, औद्योगिक नीतियों ने भी वैश्विक अर्थव्यवस्था के साथ भारत के एकीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उदारीकरण और वैश्वीकरण की नीतियों के माध्यम से, उन्होंने प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफडीआई) को आकर्षित किया है, जिससे देश के विदेशी मुद्रा भंडार को बढ़ावा मिला है और प्रौद्योगिकी हस्तांतरण को बढ़ावा मिला है। भारत में औद्योगिक नीतियों के उद्देश्य बहुआयामी हैं। सबसे पहले उनका लक्ष्य तेजी से औद्योगीकरण को बढ़ावा देकर आर्थिक विकास में तेजी लाना है। दूसरे, वे निजी क्षेत्र की भागीदारी और विदेशी निवेश को बढ़ावा देना चाहते हैं। तीसरा, इन नीतियों का लक्ष्य आयात पर निर्भरता कम करके और निर्यात क्षमता बढ़ाकर आत्मनिर्भरता को बढ़ावा देना है। चौथा, वे पिछड़े और अविकसित क्षेत्रों में औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित करके संतुलित क्षेत्रीय विकास सुनिश्चित करने का प्रयास करते हैं। अंत में, इन नीतियों का उद्देश्य लघु–स्तरीय और कुटीर उद्योगों की रक्षा करना और औद्योगिक क्षेत्र में श्रमिकों के हितों की रक्षा करना है।

संक्षेप में, भारत में औद्योगिक नीतियां गतिशील और विकासशील हैं, जो देश के सामाजिक–आर्थिक वातावरण में परिवर्तनों को प्रतिबिंबित करती हैं। वे भारत के औद्योगिक परिदृश्य को आकार देने में सहायक रही हैं और इसके आर्थिक प्रक्षेप पथ के प्रमुख निर्धारक बने हुए हैं।

10.2 औद्योगिक नीति का अर्थ व महत्व

औद्योगिक नीति एक सरकारी नीति है, जो एक देश या क्षेत्र में आर्थिक और औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित करने के लिए बनाई जाती है। इसका मुख्य उद्देश्य विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों में सुधार करना, निर्माण और सेवा उत्पन्न करने के लिए योजनाएं बनाना और विभिन्न उद्योगों को प्रोत्साहित करना होता है। यह नीति सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन को बढ़ावा देने के लिए विभिन्न कार्यक्रमों और पहलों का समर्थन करती है। औद्योगिक नीति विविध विनिर्माण क्षेत्र को प्रगति का मूल्यांकन करने के लिए सरकार द्वारा निर्धारित मानकों और उपायों का समूह है जो अततः देश की आर्थिक वृद्धि और विकास को बढ़ाता है।

किसी भी राष्ट्र को उचित एवं तीव्र औद्योगिक विकास के लिए सुनिश्चित, सुनियोजित एवं प्रेरणादायक औद्योगिक नीति की आवश्यकता होती है, क्योंकि पूर्व घोषित औद्योगिक नीति के अधार पर ही कोई भी राष्ट्र अपने उद्योगों का आवश्यक मार्गदर्शन और निर्देशन करता है। भारत जैसे विकासशील राष्ट्र में प्राकृतिक साधन अपार मात्रा में है, लेकिन उनका समुचित उपयोग नहीं हो रहा है। पूंजी सीमित मात्रा में है, अतः उसका उचित उपयोग करना है। औद्योगिक शक्ति के केन्द्रीकरण को समाप्त कर तथा श्रमिकों को उचित हिस्सा दिलाकर देश में प्रजातांत्रिक समाजवाद की स्थापना करनी होती है। इन सभी बातों को देखते हुए देश में एक उचित एवं निश्चित औद्योगिक नीति की आवश्यकता है।

देश का सन्तुलित विकास करने के लिए प्रसाधनों को उचित दिशा में प्रवाहित करने के लिए, उत्पादन बढाने के लिए, वितरण की व्यवस्था सुधारने के लिए, एकाधिकार संयोजन और अधिकार युक्त हितों को समाप्त करने अथवा नियंत्रित करने के लिए कुछ चुनिंदा व्यक्तियों के हाथों में धन अथवा आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण को रोकने के लिए, असमानताएं घटाने के लिए, बेरोजगारी की समस्या को दूर करने के लिए, विदेशों पर निर्भरता समाप्त करने के लिए तथा देश की सुरक्षा की दृष्टि से सुदृढ़ बनाने के लिए एक उपयुक्त औद्योगिक नीति की आवश्यक्ता होती है। इसलिए उद्योगों का संतुलित, सर्वांगीण विकास करने के लिए औद्योगिक नीति की घोषणा करना आवश्यक समझा गया।

औद्योगिक नीति के उद्देश्य

1. उत्पादकता में निरन्तर वृद्धि बनाए रखना।

2. रोजगार के अवसर पैदा करना।

3. उपलब्ध मानव संसाधन का बेहतर उपयोग करना।

4. विभिन्न माध्यमों से देश की आर्थिक प्रगति को गति देना।

5. अन्तर्राष्ट्रीय मानकों और प्रतिस्पर्धात्मकता के स्तर को बढ़ावा देना।

6. निर्यात को बढ़ावा देना।

7. प्राकृतिक संसाधनों का सदुपयोग करना।

8. संविधान के उद्देश्यों की पूर्ति करना।

औद्योगिक नीति का महत्वः औद्योगिक नीति के निम्नलिखित महत्व हैं–

आर्थिक विकासः औद्योगिक नीति आर्थिक विकास को बढ़ावा देने के लिए महत्वपूर्ण है। यह नए उद्योगों को बढ़ावा देने और मौद्रिक नीतियों के माध्यम से निर्यात और आयात को प्रबंधित करके आर्थिक स्थिति में सुधार करने में मदद कर सकती है।

रोजगार सृष्टिः औद्योगिक नीति के माध्यम से नए उद्योगों की स्थापना और मौद्रिक नीतियों के माध्यम से निर्यात को बढ़ावा देने से रोजगार सृष्टि हो सकती है।

तकनीकी और आर्थिक उन्नतिः औद्योगिक नीति तकनीकी और आर्थिक उन्नति को प्रोत्साहित करने के लिए सहारा प्रदान कर सकती है। यह नई तकनीकों को लागू करने और नई आर्थिक दिशाओं में अग्रणी बनाने के लिए अनुसंधान और विकास को बढ़ावा देने के लिए उत्साहित कर सकती है।

उद्यमिता को बढ़ावा देनाः औद्योगिक नीति उद्यमिता को बढ़ावा देने के लिए महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह नए व्यवसायों और उद्यमिता को समर्थन प्रदान कर सकती है और व्यापारिक गतिविधियों को प्रोत्साहित कर सकती है।

सामाजिक सुरक्षाः औद्योगिक नीति के माध्यम से समाज में निवेश करके सामाजिक सुरक्षा को बढ़ावा देने में मदद की जा सकती है, क्योंकि यह नौकरियों की सृष्टि और आय की स्थिति में सुधार कर सकती है।

इस प्रकार, औद्योगिक नीति एक देश या क्षेत्र के आर्थिक विकास के लिए एक महत्वपूर्ण उपाय हो सकती है जो सुरक्षित और समृद्धिशील भविष्य की दिशा में मदद कर सकती है।

10.3 स्वतंत्रता–पूर्व युग में औद्योगिक नीति

भारत की औद्योगिक नीतियों को समझने के लिए इसके ऐतिहासिक पथ पर नजर डालने की जरूरत है, खासकर ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के दौरान, जिसने देश के आर्थिक परिदृश्य पर एक अमिट छाप छोड़ी। ब्रिटिश शासनकाल (1757–1947) में आर्थिक और औद्योगिक नीतियों की एक श्रृंखला थी जिसने भारतीय अर्थव्यवस्था को महत्वपूर्ण रूप से आकार दिया।

ब्रिटिश सरकार की जो नीति 1923 से पूर्व थी, उसे मोटे तौर पर हम अबन्ध नीति कह सकते हैं। 1923 के बाद भेदमूलक संरक्षण नीति के द्वारा कुछ उद्योगों की संवृद्धि को एक सीमित अर्थ में बढ़ावा देकर सरकार ने कुछ मदद की थी, जिसके अन्तर्गत कुछ चुने हुए मौजूदा उद्योगों की एक सीमित अवधि के लिए विदेशी प्रतियोगिता के विरुद्ध प्रशुल्क संरक्षण प्रदान करने की व्यवस्था की गई थी। इस नीति की दोनों अवस्थाओं (अर्थात् 1923 के पूर्व तथा पश्चात् की अवस्थाओं) को देखते हुए परिणाम यह निकलता है कि इससे भारत में सामान्य तौर से उद्योगों का विकास रुक गया, पहले से मौजूद कुछ उपभोग–वस्तुओं से सम्बन्धित उद्योगों का विकास हुआ और भारी तथा आधारभूत उद्योगों के विकास का सूत्रपात भी न हो सका। वस्तुतः इस औद्योगिक नीति के पीछे एक ऐसी कूट चाल थी जो ब्रिटिश शासकों के देश, अर्थात् इंग्लैंड के औद्योगिक विकास के अधिक अनुकूल पड़ती। इसी उद्देश्य से उन्होंने भारत को अपने विनिर्मित माल का बाजार तथा अपने देश के उद्योगों और श्रमिकों के लिए कच्चा माल एवं अनाज की आपूर्ति का अड्डा बनाए रखा। इस अर्थ में यह नीति काफी सफल रही और इसके फलस्वरुप भारतीय औद्योगिक हित का भारी नुकसान हुआ।

ब्रिटिश शासन के दौरान औद्योगिक नीति मुख्य रूप से औपनिवेशिक शक्तियों के हितों की पूर्ति के लिए तैयार की गई थी। ऐसी कोई व्यापक औद्योगिक नीति नहीं थी, लेकिन राजकोषीय और आर्थिक उपायों की एक

श्रृंखला थी जिसने भारत की अर्थव्यवस्था को ब्रिटिश उद्योगों के पक्ष में संचालित किया। इस अवधि में भारत के पारंपरिक उद्योगों की अधीनता और इसके कच्चे माल की निकासी देखी गई, जिसे बाद में ब्रिटिश औद्योगिक क्रांति को बढ़ावा देने के लिए निर्यात किया गया था।

इस समय ब्रिटिश औद्योगिक नीतियां अधिकतर शोषणकारी थीं। भारत के विशाल संसाधनों का उपयोग ब्रिटेन में तेजी से बढ़ते उद्योगों को कच्चे माल की आपूर्ति के लिए किया जाता था। कपास, जूट, नील और कई अन्य फसलों की कटाई भारत में की जाती थी और उन्हें ब्रिटेन भेजा जाता था, जहां उन्हें तैयार माल में संसाधित किया जाता था और अक्सर भारत में वापस बेच दिया जाता था। ऐसी नीतियों के कारण भारत का गैर–औद्योगिकीकरण हुआ क्योंकि कपड़ा, हस्तशिल्प और इस्पात निर्माण जैसे स्वदेशी उद्योग, जो कभी फल–फूल रहे थे, गिरावट में आ गए। भारत में रेलवे का आगमन, हालांकि कई मायनों में फायदेमंद था, किन्तु मुख्य रूप से इसका उद्देश्य ब्रिटेन को निर्यात के लिए भारतीय आंतरिक इलाकों से बंदरगाहों तक कच्चे माल के हस्तांतरण में तेजी लाना था। बुनियादी ढांचे का विकास काफी हद तक एक दिशात्मक था, जो व्यापार मार्गों के पक्ष में था जिससे ब्रिटेन को कच्चे माल के निर्यात और भारत में ब्रिटिश–निर्मित तैयार माल के आयात में सहायता मिली।

भारतीय अर्थव्यवस्था पर ब्रिटिश औद्योगिक नीतियों का प्रभाव गहरा और दीर्घकालिक था। इन नीतियों के परिणामस्वरूप भारतीय उद्योगों में ठहराव और गिरावट आई, विशेष रूप से कपड़ा उद्योग, जो कभी विश्व स्तर पर प्रसिद्ध था। इस अवधि के दौरान भारत से ब्रिटेन में धन की निकासी के कारण आर्थिक विकास में कमी हुई, जिससे अधिकांश भारतीय आबादी गरीब हो गई। स्वतंत्रता से पूर्व, भारत में एक कमजोर औद्योगिक आधार, तकनीकी क्षमताओं की कमी और एक बड़ी आबादी कृषि पर निर्भर थी। इसलिए, औद्योगिक विकास का कार्य स्वतंत्र भारत के लिए एक प्रमुख चुनौती के रूप में उभरा, जिसके लिए व्यापक और सशक्त औद्योगिक नीतियों की आवश्यकता थी।

निष्कर्षतः, ब्रिटिश शासन के दौरान औद्योगिक नीति शोषणकारी थी, जिसके कारण भारतीय उद्योगों का पतन हुआ और भारतीय अर्थव्यवस्था कमजोर हुई। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ने भारत में स्वतंत्रता के बाद की औद्योगिक नीतियों के लिए मंच तैयार किया, जो अर्थव्यवस्था मजबूत करने और आत्मनिर्भर और समावेशी औद्योगिक विकास को बढ़ावा देने पर ध्यान केंद्रित करने के लिए तैयार की गई थी।

10.4 औद्योगिक नीति, 1948

1947 में स्वतंत्रता के आगमन के साथ भारत सरकार ने देश के आर्थिक भविष्य को आकार देने का फैसला किया। इस प्रयास के रूप में सरकार द्वारा 1948 में अपनी पहली औद्योगिक नीति की घोषणा की गयी। इस औद्योगिक नीति की घोषणा 6 अप्रैल, 1948 को तत्कालीन उद्योग एवं वाणिज्य मन्त्री डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी द्वारा की गयी। इस नीति में सार्वजनिक और निजी क्षेत्र के सह– अस्तित्व को स्वीकारा गया तथा मिश्रित अर्थव्यवस्था स्थापित करने का प्रयास किया गया। यह एक ऐतिहासिक नीति थी जिसने स्वतंत्रता के बाद के युग में भारत के औद्योगिक क्षेत्र के विकास की नींव रखी।

1948 की औद्योगिक नीति को मुख्य रूप से दो विपरीत आर्थिक विचारधाराओं द्वारा आकार दिया गया था। एक ओर, इसने औद्योगिक वृद्धि और विकास को आगे बढ़ाने के लिए निजी क्षेत्र की क्षमता को स्वीकार किया। दूसरी ओर, इसने आर्थिक शक्ति के केंद्रीकरण से बचने और संतुलित क्षेत्रीय विकास सुनिश्चित करने के लिए रणनीतिक क्षेत्रों में राज्य के हस्तक्षेप की आवश्यकता को मान्यता दी। इसलिए, नीति ने भारत के औद्योगिक विकास में निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों की भूमिकाओं के बीच संतुलन बनाने का प्रयास किया।

नीति के उद्देश्य और निहितार्थ

1948 की औद्योगिक नीति का प्रमुख उद्देश्य संतुलित और पर्याप्त औद्योगिक विकास हासिल करना, संतुलित क्षेत्रीय विकास को बढ़ावा देना, आर्थिक शक्ति के केंद्रीकरण को रोकना और निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों के बीच सहयोग को बढ़ावा देना था। नीति ने औद्योगिक विकास प्रक्रिया में विदेशी पूंजी और प्रौद्योगिकी के महत्व को मान्यता दी, लेकिन यह सुनिश्चित करने की मांग की कि विदेशी व्यवसाय राष्ट्रीय प्राथमिकताओं के अनुरूप संचालित हों।

नीति के निहितार्थ दूरगामी थे। सबसे पहले, यह एक मिश्रित अर्थव्यवस्था के लिए मंच तैयार करने में सफल रही जहां निजी और सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। दूसरे, इसने औद्योगिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप की प्रक्रिया शुरू की, जिससे सार्वजनिक क्षेत्र के लिए रणनीतिक उद्योगों में विकास का नेतृत्व करने का मार्ग प्रशस्त हुआ।

उद्योगों का वर्गीकरणः

1948 की नीति के तहत उद्योगों को चार वर्गों में विभाजित किया गया –

1. **प्रथम वर्ग** में सैनिक एवं राष्ट्रीय महत्त्व के उद्योग (अस्त्र–शस्त्र, अणु–शक्ति, रेल परिवहन इत्यादि) को रखा गया तथा इस पर सरकार के एकाधिकार की बात कही गई।

2. **द्वितीय वर्ग** के अन्तर्गत छः आधारभूत उद्योग– कोयला, लौह–इस्पात, वायुयान निर्माण, जलयान निर्माण, टेलीफोन, (टेलीग्राम) तथा खनिज तेल उद्योग को रखा गया, यद्यपि इन उद्योगों को निजी क्षेत्र के अन्तर्गत कार्य करते रहने की आज्ञा थी, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर इनके राष्ट्रीयकरण की बात भी कही गई।

3. **तृतीय वर्ग** में 18 उद्योगों को रखा गया, जिनमें रासायनिक उद्योग, चीनी, सूती एवं ऊनी वस्त्र सीमेण्ट, कागज, नमक, मशीन टूल्स इत्यादि मुख्य हैं। इन उद्योगों को निजी एवं सरकारी दोनों क्षेत्र द्वारा स्थापित एवं संचालित किया जा सकता था।

4. **चतुर्थ वर्ग** के अन्तर्गत शेष उद्योगों को रखा गया तथा इसे निजी एवं सहकारी क्षेत्रों द्वारा वर्ष 1956 में स्थापित एवं संचालन की आज्ञा दी गई।

नीति का मूल्यांकन

1948 की औद्योगिक नीति ने स्वतंत्रता के बाद के युग में भारत के औद्योगिक क्षेत्र की संरचना की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम उठाया। इसने मिश्रित अर्थव्यवस्था के लिए रूपरेखा स्थापित की और महत्वपूर्ण क्षेत्रों में राज्य के हस्तक्षेप के लिए मिसाल कायम की। हालांकि, पीछे मुड़कर देखने पर यह कहना उचित होगा कि औद्योगिक नीति ने औद्योगिक विकास में सार्वजनिक और निजी दोनों क्षेत्रों के महत्व को पहचाना, लेकिन इसने सार्वजनिक क्षेत्र पर अत्यधिक जोर दिया। इस दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप निजी भागीदारी और प्रतिस्पर्धा सीमित हो गई, जिससे दक्षता और नवाचार में बाधा उत्पन्न हुई। इसके अलावा, औद्योगिक नीति आर्थिक शक्ति के केंद्रीयकरण को रोकने के अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में असमर्थ रही। इसके बजाय, इससे विभिन्न उद्योगों में सार्वजनिक क्षेत्र के एकाधिकार की स्थापना हुई।

निष्कर्षतः, 1948 की औद्योगिक नीति ने भारत की स्वतंत्रता के बाद के औद्योगिक विकास की नींव रखी। हालांकि यह औद्योगिक विकास के लिए एक रूपरेखा स्थापित करने और प्रमुख उद्योगों के विस्तार को आगे बढ़ाने में सफल रहा, लेकिन इसकी अपनी सीमाएं थीं, जिससे निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों की भूमिकाओं में अक्षमताएं और असंतुलन पैदा हुआ। इन अनुभवों ने भारत में आगामी औद्योगिक नीतियों के लिए महत्वपूर्ण सबक प्रदान किए।

10.5 औद्योगिक नीति, 1956

1956 की औद्योगिक नीति ने समाज के समाजवादी पैटर्न की दिशा में एक निर्णायक कदम उठाया और 1948 के औद्योगिक नीति संकल्प के अधिक व्यापक और स्पष्ट संस्करण का प्रतिनिधित्व किया। यह नीति सफल पंचवर्षीय योजनाओं, एवं एक बढ़ते सार्वजनिक क्षेत्र के प्रभाव से उभरी, तथा अर्थव्यवस्था में राज्य के हस्तक्षेप की भूमिका बढ़ी।

नीति के उद्देश्य और निहितार्थ

1956 की नीति का प्राथमिक उद्देश्य समाज के समाजवादी स्वरुप को प्राप्त करने के साधन के रूप में आर्थिक विकास की दर में तेजी लाना और औद्योगीकरण को तेज करना था। इसका उद्देश्य आय और संपत्ति में असमानताओं को कम करना और आर्थिक शक्ति के केंद्रीकरण को रोकना था। इसके अलावा, नीति का उद्देश्य लघु उद्योगों को बढ़ावा देना और क्षेत्रीय संतुलन सुनिश्चित करना है। नीति के निहितार्थ गहरे थे। इस नीति ने उद्योगों पर राज्य के नियंत्रण पर जोर दिया, और इसी अवधि के दौरान 'लाइसेंस राज' ने आकार लेना शुरू किया, जिससे सरकार को यह तय करने की शक्ति मिल गई कि कौन–से उद्योग संचालन स्थापित कर सकते हैं, वे कहां काम कर सकते हैं, और वे क्या उत्पादन कर सकते हैं। इस नीति के परिणामस्वरूप एक बड़ा सार्वजनिक क्षेत्र अस्तित्व में आया और अर्थव्यवस्था में राज्य का हस्तक्षेप काफी बढ़ गया।

सार्वजनिक क्षेत्र का परिचय

1956 की औद्योगिक नीति ने सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका का काफी विस्तार किया। नीति ने उद्योगों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया। अनुसूची ए में रेलवे, परमाणु–ऊर्जा और हथियार और गोला–बारूद जैसे 17 उद्योग शामिल थे, जिन पर राज्य का विशेष एकाधिकार था। अनुसूची बी में 12 उद्योग शामिल थे, जहां राज्य आम तौर पर नए उद्यम स्थापित करेगा लेकिन निजी भागीदारी की भी अनुमति होगी। शेष सभी उद्योग अनुसूची सी में थे, जो निजी क्षेत्र के लिए खुला था, हालांकि राज्य भी इसमें भाग ले सकते थे।

सार्वजनिक क्षेत्र को निजी क्षेत्र के विकास के लिए बुनियादी ढांचा प्रदान करना था और आर्थिक शक्ति के संकेन्द्रण को रोकना था। हालांकि, इस नीति के कारण सार्वजनिक क्षेत्र के एकाधिकार का उदय हुआ और कई उद्योगों में निजी क्षेत्र की भूमिका सीमित हो गई।

लघु उद्योगों की भूमिका

1956 की नीति ने देश के समग्र औद्योगिक विकास में लघु उद्योगों (एसएसआई) की भूमिका को स्वीकार किया। इसने संतुलित क्षेत्रीय विकास और स्थानीय संसाधनों के प्रभावी उपयोग के लिए एसएसआई को एक महत्वपूर्ण घटक के रूप में मान्यता दी। इसने विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर प्रदान करने में उनके महत्व को भी रेखांकित किया। नीति ने एसएसआई को विभिन्न रियायतें और सुविधाएं प्रदान करके उनके विकास को प्रोत्साहित किया। एसएसआई को लाइसेंस प्राप्त करने में प्राथमिकता दी गई और उन्हें कर लाभ और वित्तीय प्रोत्साहन प्रदान किए गए। नीति ने विशेष रूप से लघु उद्योग क्षेत्र में निर्माण के लिए कुछ उत्पादों को आरक्षित करके एसएसआई की रक्षा की।

नीति का मूल्यांकन

1956 की नीति समाज के समाजवादी पैटर्न की दिशा में भारत की यात्रा में एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर थी। इसने योजना के युग को चिह्नित किया और भारतीय अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका का विस्तार किया। हालांकि, इसमें कुछ कमियां भी थीं। निजी क्षेत्र की भूमिका को सीमित करके, नीति ने अर्थव्यवस्था में प्रतिस्पर्धा और दक्षता को कम कर दिया। इसके अलावा, आर्थिक शक्ति के संकेंद्रण को रोकने पर अपना ध्यान केंद्रित करने के बावजूद, इसने सार्वजनिक क्षेत्र पर एकाधिकार बना लिया। यह नीति लघु उद्योगों को बढ़ावा देने में सफल रही, लेकिन यह उन्हें पर्याप्त तकनीकी और वित्तीय सहायता प्रदान करने में विफल रही, जिससे उनकी विकास क्षमता सीमित हो गई। इसके अलावा, एसएसआई को दी गई सुरक्षा के परिणामस्वरूप अक्सर अक्षमता और प्रतिस्पर्धा की कमी होती है।

निष्कर्षतः, 1956 की औद्योगिक नीति समाजवादी औद्योगिक विकास की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम थी, जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र और लघु उद्योगों पर जोर दिया गया था। हालांकि इसके कई सकारात्मक प्रभाव थे। समय के साथ नीति की सीमाएं स्पष्ट होती गईं, जिससे भारत के औद्योगिक नीति ढांचे में बाद के सुधारों के लिए मंच तैयार हुआ।

10.6 औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति 1970

1970 की औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति भारत के औद्योगिक विकास में एक और महत्वपूर्ण मोड़ का प्रतिनिधित्व करती है। इस नीति को 'लाइसेंस राज' और आर्थिक शक्ति के केंद्रीकरण पर बढ़ती आलोचना की पृष्ठभूमि में आकार दिया गया था। इसने एकाधिकार पर अंकुश लगाने और छोटे और मध्यम उद्यमों के विकास के लिए अधिक अनुकूल वातावरण प्रदान करने की मांग की।

नीति के उद्देश्य और निहितार्थ

1970 की नीति का मुख्य उद्देश्य आर्थिक शक्ति के संकेंद्रण को रोकना, विभिन्न क्षेत्रों के बीच अंतर को कम करना और लघु उद्योगों के विकास को बढ़ावा देना था। इन उद्देश्यों के अनुरूप, सरकार ने उन उद्योगों की संख्या में वृद्धि की जहां लाइसेंस देना अनिवार्य था और बड़े उद्योगों के लिए निवेश सीमा कम कर दी।

नीति के निहितार्थ पर्याप्त थे। इसने औद्योगिक विस्तार पर सरकार के नियंत्रण को और मजबूत किया और औद्योगिक लाइसेंस आवेदनों की अधिक विस्तृत जांच की। विशेष रूप से, बड़े औद्योगिक घरानों के आवेदनों की अधिक कठोर जांच की गई। इसके परिणामस्वरूप अधिक प्रतिबंधात्मक औद्योगिक वातावरण तैयार हुआ और पहले से ही जटिल 'लाइसेंस राज' में और अधिक परतें जुड़ गईं।

एकाधिकारवादी और प्रतिबंधात्मक व्यापार आचरण अधिनियम

इस अवधि के दौरान हुए प्रमुख विकासों में से एक 1969 में एकाधिकार और प्रतिबंधात्मक व्यापार व्यवहार अधिनियम (एमआरटीपी अधिनियम) का अधिनियमन था, जो जून 1970 में प्रभावी हुआ। एमआरटीपी अधिनियम को आर्थिक शक्ति की एकाग्रता, नियंत्रण को रोकने के लिए डिजाइन किया गया था। इस अधिनियम के तहत, एकाधिकार और प्रतिबंधात्मक व्यापार प्रथा आयोग की स्थापना की गई, जो ऐसी व्यापार प्रथाओं के खिलाफ जांच कर उचित कार्रवाई कर सकता था।

एमआरटीपी अधिनियम ने उन फर्मों के विस्तार पर प्रतिबंध लगा दिया जिनकी संपत्ति एक निश्चित सीमा से अधिक थी, जिन्हें एमआरटीपी कंपनियों के रूप में जाना जाता है। इन कंपनियों को सरकार की पूर्व अनुमति के बिना नए उपक्रम स्थापित करने या मौजूदा उपक्रमों का विस्तार करने से रोक दिया गया था। इस प्रकार, यह नीति बड़े निगमों को नियंत्रित करने और सभी कंपनियों के लिए समान अवसर सुनिश्चित करने के लिए सरकार के लिए एक उपकरण के रूप में कार्य करती है।

नीति का मूल्यांकन

1970 की औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति और एमआरटीपी अधिनियम की शुरूआत ने भारत में उद्योगों पर बढ़े हुए विनियमन और नियंत्रण के युग को चिह्नित किया। हालांकि इस नीति का उद्देश्य आर्थिक शक्ति के संकेंद्रण पर अंकुश लगाना और समान औद्योगिक विकास को बढ़ावा देना था, लेकिन इसके परिणामस्वरूप कई अनपेक्षित परिणाम सामने आए। नीति और एमआरटीपी अधिनियम ने मिलकर नौकरशाही और लालफीताशाही को बढ़ावा दिया, जिससे लाइसेंस राज और भी तीव्र हो गया। इसने उद्यमशीलता की पहल को अवरुद्ध कर दिया और संसाधनों के कुशल आवंटन में बाधा उत्पन्न की। कड़े नियमों ने बड़े पैमाने के उद्योगों को विस्तार और आधुनिकीकरण करने से हतोत्साहित किया, जिससे उनकी प्रतिस्पर्धात्मकता और नवाचार की क्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। एक सकारात्मक बात यह है कि नीति ने क्षेत्रीय असमानताओं को कम करने और लघु उद्योगों के विकास को बढ़ावा देने के प्रयास किए। हालांकि, अपेक्षित बुनियादी ढांचे और सहायक उपायों के बिना, इन उद्देश्यों को पूरी तरह से साकार नहीं किया जा सका।

निष्कर्षतः, जबकि 1970 की औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति और एमआरटीपी अधिनियम अपने उद्देश्यों में नेक इरादे वाले थे, वे अपेक्षित परिणाम देने में विफल रहे। इसके बजाय, उन्होंने सरकारी हस्तक्षेप को बढ़ा दिया, औद्योगिक विकास और दक्षता में बाधा उत्पन्न की, और कारोबारी माहौल को और अधिक जटिल बना दिया। इन नीतियों ने अधिक उदार और बाजार–अनुकूल औद्योगिक नीति की आवश्यकता को रेखांकित किया, जो आने वाले दशकों में होने वाले ऐतिहासिक सुधारों के लिए मंच तैयार करेगी।

10.7 औद्योगिक नीति, 1980

1980 की औद्योगिक नीति ने औद्योगिक विकास के प्रति भारत के दृष्टिकोण में एक सूक्ष्म लेकिन महत्वपूर्ण बदलाव को चिह्नित किया। अत्यधिक विनियमन की सीमाओं को स्वीकार करते हुए, सरकार ने औद्योगिक क्षेत्र पर लगाए गए कुछ प्रतिबंधों में ढील देने के उपाय पेश किए और औद्योगिक उत्पादन में प्रौद्योगिकी और दक्षता के महत्व पर जोर दिया।

नीति के उद्देश्य और निहितार्थ

1980 की नीति का मुख्य उद्देश्य उत्पादकता में उच्च वृद्धि हासिल करना, रोजगार के उच्च स्तर को बढ़ावा देना और मानव संसाधनों का इष्टतम उपयोग हासिल करना था। नीति का उद्देश्य बढ़ती मांगों को पूरा करने के लिए अधिकतम उत्पादन सुनिश्चित करते हुए आत्मनिर्भरता प्राप्त करना और आयातित प्रौद्योगिकी पर निर्भरता को कम करना भी था।

नीति के निहितार्थ महत्वपूर्ण थे क्योंकि इसने उदारीकरण की दिशा में एक सशक्त कदम का संकेत दिया, हालांकि इसका दायरा सीमित था। 1980 की नीति ने बड़े औद्योगिक घरानों को सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित उद्योगों में प्रवेश की अनुमति दी, एमआरटीपी कंपनियों पर प्रतिबंधों में ढील दी और सार्वजनिक क्षेत्र के भीतर एक मुख्य क्षेत्र की अवधारणा पेश की। नीति ने विदेशी कंपनियों को उच्च प्रौद्योगिकी क्षेत्रों में भारतीय कंपनियों के साथ सहयोग करने के लिए भी प्रोत्साहित किया।

1980 की नीति ने देश के औद्योगिक विकास के लिए प्रौद्योगिकी और दक्षता के महत्व को रेखांकित किया। इस नीति ने हर कीमत पर आत्मनिर्भरता पर पहले के जोर से हटकर इस बात को चिह्नित किया कि आधुनिक तकनीक औद्योगिक विकास को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। यह नीति अनुसंधान एवं स्वदेशी प्रौद्योगिकी के विकास और अधिग्रहण पर केंद्रित है। इसने विदेशी प्रौद्योगिकी समझौतों को प्रोत्साहित

किया और प्रौद्योगिकी उन्नयन के माध्यम से उद्योग को आधुनिक बनाने की मांग की। इस नीति ने औद्योगिक क्षेत्र में उत्पादकता, आधुनिकीकरण और प्रतिस्पर्धात्मकता को बढ़ावा दिया। इसके अतिरिक्त, 1980 की नीति में विशेष रूप से तकनीकी उन्नयन और संस्थागत वित्त तक बेहतर पहुंच के माध्यम से छोटे पैमाने के उद्योगों को समर्थन देने के उपाय प्रस्तावित किए गए। इसने सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों की दक्षता और प्रतिस्पर्धात्मकता में सुधार की आवश्यकता पर भी जोर दिया।

नीति का मूल्यांकन

यदि पीछे मुड़कर देखें तो 1980 की औद्योगिक नीति को 1990 के दशक में शुरू किए गए अधिक व्यापक उदारीकरण उपायों के अग्रदूत के रूप में देखा जा सकता है। जबकि नीति ने 1956 के संकल्प के बुनियादी ढांचे को बनाए रखा, इसने भारत की औद्योगिक नीति में कुछ महत्वपूर्ण बदलावों की शुरुआत की। यह नीति सीमित पैमाने पर ही सही, उदारीकरण की प्रक्रिया शुरू करने में सफल रही। बड़े औद्योगिक घरानों और एमआरटीपी कंपनियों पर प्रतिबंधों में ढील उदारीकरण की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम का प्रतिनिधित्व करती है। प्रौद्योगिकी और दक्षता पर नीति का जोर एक स्वागत योग्य बदलाव था, जो इस मान्यता को दर्शाता है कि औद्योगिक विकास के लिए तकनीकी प्रगति आवश्यक थी। हालांकि, नीति तकनीकी नवाचार और अधिग्रहण के लिए अनुकूल वातावरण बनाने में विफल रही। यह नीति लघु उद्योग क्षेत्र को बढ़ावा देने में कम सफल रही। हालांकि इस नीति में लघु उद्योगों को समर्थन देने के उपायों का प्रस्ताव किया गया था, लेकिन इसने इस क्षेत्र के सामने आने वाली चुनौतियों का पर्याप्त रूप से समाधान नहीं किया, विशेष रूप से प्रौद्योगिकी उन्नयन और संस्थागत वित्त तक पहुंच के मामले में।

निष्कर्षतः, 1980 की औद्योगिक नीति औद्योगिक विकास के प्रति भारत के दृष्टिकोण में एक महत्वपूर्ण बदलाव का प्रतिनिधित्व करती है। हालांकि नीति ने उदारीकरण की दिशा में कुछ महत्वपूर्ण प्रगति की और प्रौद्योगिकी और दक्षता के महत्व को रेखांकित किया, लेकिन यह नीति औद्योगिक क्षेत्र के सामने आने वाली चुनौतियों का पूरी तरह से समाधान करने में विफल रही। इस नीति के परिणाम ने अंततः 1990 के दशक के अधिक व्यापक उदारीकरण उपायों का मार्ग प्रशस्त किया।

10.8 नई औद्योगिक नीति, 1991

1991 की औद्योगिक नीति भारतीय अर्थव्यवस्था के इतिहास में एक ऐतिहासिक क्षण था। यह नीति अतीत से एक निर्णायक विराम थी। लाइसेंसिंग राज, संरक्षणवाद के चार दशकों का अंत और एक नए युग उदारीकरण,निजीकरण, और भूमंडलीकरण की शुरुआत थी।

नीति के उद्देश्य और निहितार्थ

1991 की नीति का मुख्य उद्देश्य देश की औद्योगिक संरचना में आई विकृतियों या कमजोरियों को ठीक करना, उत्पादकता में निरंतर वृद्धि बनाए रखना, लाभकारी रोजगार बढ़ाना और मानव संसाधनों का इष्टतम उपयोग प्राप्त करना था। 1991 की नीति के निहितार्थ दूरगामी थे। इसने लाइसेंस राज को प्रभावी ढंग से खत्म कर दिया, सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका को काफी कम कर दिया, कई क्षेत्रों को निजी और विदेशी निवेश के लिए खोल दिया, और भारतीय अर्थव्यवस्था को वैश्विक अर्थव्यवस्था के साथ एकीकृत करने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाए।

उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण (एलपीजी)

1991 की नीति आर्थिक विकास के एलपीजी मॉडल का पर्याय है।

1. **उदारीकरणः** इस नीति ने सुरक्षा और रणनीतिक चिंताओं, सामाजिक कारणों, पर्यावरणीय मुद्दों और उच्च निवेश वाले या कुछ द्वारा नियंत्रित उद्योगों को छोड़कर अधिकांश उद्योगों के लिए औद्योगिक लाइसेंसिंग को समाप्त कर दिया। इसने क्षमता लाइसेंसिंग की प्रथा को समाप्त कर दिया, उद्योग को स्थान प्रतिबंधों से मुक्त कर दिया और निवेश नीतियों और आयात–निर्यात नीतियों में सुधार लाया।
2. **निजीकरणः** इस नीति ने यह वादा करके सार्वजनिक क्षेत्र के प्रभुत्व को कम कर दिया कि सरकार सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के पोर्टफोलियो की समीक्षा करेगी। गैर–प्रमुख उद्योगों के लिए विनिवेश का प्रस्ताव किया गया था, और सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका चिंता के चार रणनीतिक क्षेत्रों तक सीमित थी।
3. **वैश्वीकरणः** इस नीति ने भारतीय अर्थव्यवस्था को वैश्विक प्रतिस्पर्धा के लिए खोलने के उपाय शुरू किए। इसने कई क्षेत्रों में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफडीआई) की अनुमति दी, निर्यात को बढ़ावा देने के

उपाय अपनाए और भारतीय उद्योग को वैश्विक बाजार में अधिक प्रतिस्पर्धी बनाने का लक्ष्य रखा।

नई औद्योगिक नीति, 1991 के प्रमुख प्रावधान

औद्योगिक नीति, 1991 की प्रमुख प्रावधान निम्नलिखित हैं–

1. औद्योगिक लाइसेंसिंग व्यवस्था की समाप्तिः

इस नीति के द्वारा औद्योगिक लाइसेंसिंग व्यवस्था पर अंकुश लगाया गया। उन उद्योगों की संख्या घटाकर मात्र 18 कर दी गयी, जिसके लिए लाइसेंस लेना अनिवार्य था। इस क्षेत्र में आर्थिक सुधार प्रक्रिया को आगे बढ़ाया गया तथा वर्तमान में मात्र 5 उद्योग ऐसे हैं जिनके लिए अनिवार्य लाइसेंस लेना आवश्यक है। ये उद्योग निम्नलिखित हैं–

1. एल्कोहल युक्त पेयों का आसवन एवं निर्माण।
2. तम्बाकू, सिगरेट तथा अन्य संबंधित उत्पाद।
3. इलेक्ट्रॉनिक, एयरोस्पेस एवं सभी प्रकार के रक्षा उपकरण।
4. खतरनाक रसायन।
5. बारूद, औद्योगिक विस्फोटक तथा प्रस्फोटक फ्यूज।

2. उद्योगों को अनारक्षित करनाः

1956 की औद्योगिक नीति द्वारा केन्द्र सरकार के लिए, आरक्षित उद्योगों को घटाकर 8 कर दिया गया। नई औद्योगिक नीति के अनुसार अनेक अन्य उद्योग निजी क्षेत्र के निवेश के लिए खोल दिये गए। वर्तमान समय में मात्र 2 ऐसे उद्योग हैं, जो संपूर्ण या आंशिक रूप से केन्द्र सरकार के लिए आरक्षित हैंः (1) नाभिकीय अनुसंधान तथा संबद्ध गतिविधियां (2) रेल सेवा

3. MRTP सीमा का समापनः

MRTP सीमा (106करोड़ रुपये की सीमा) का समापन किया गया, ताकि उद्योगों का विलय, अधिग्रहण तथा अधीनीकरण संभव हो सके।

4. विदेशी निवेश को प्रोत्साहनः

इस नई औद्योगिक नीति में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के रूप में 51 प्रतिशत तक विदेशी पूंजी की स्वीकृति दी गयी। 48 उच्च प्राथमिकता वाले क्षेत्रों में विदेशी पूंजी निवेश सीमा को बढ़ाकर 5 प्रतिशत कर दिया गया। खनन की क्रियाओं से सम्बन्धित 3 उद्योगों में विदेशी पूंजी निवेश सीमा 50 प्रतिशत और 9 अन्य उद्योगों में विदेशी पूंजी निवेश की सीमा को 74 प्रतिशत तक बढ़ा दिया गया है।

5. चरणबद्ध उत्पादन की अनिवार्यता का अन्तः

इस नई औद्योगिक नीति के द्वारा उद्योगों के चरणबद्ध उत्पादन की अनिवार्यता को समाप्त कर दिया गया। चरणबद्ध उत्पादन की अनिवार्यता न होने से अब निजी कंपनियां अनेक वस्तुओं तथा मॉडलों का उत्पादन एक साथ कर सकती थीं। अब उद्योगों की क्षमता तथा पूंजी का उपयोग पूरी तरह किया जा सकता था।

6. उद्योगों की अवस्थितिः

उन उद्योगों के अलावा जिनमें अनिवार्य रूप से लाइसेंस लेने की आवश्यकता है, अन्य उद्योगों की स्थापना के लिए केन्द्र सरकार से अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं है, यदि उद्योग 10 लाख से कम जनसंख्या वाले शहरों में स्थापित किये जा रहे हों। इसके साथ ही उन उद्योगों की स्थापना कहीं भी की जा सकती है, जो प्रदूषण नहीं फैलाते। प्रदूषण फैलाने वाले उद्योगों को 10 लाख से अधिक जनसंख्या वाले शहरों से कम से कम 25 किमी0 की दूरी पर स्थापित किया जाना चाहिए।

7. अन्य परिवर्तनः

इस नई औद्योगिक नीति के अन्तर्गत निजी क्षेत्र की भूमिका में वृद्धि की गई। निजी क्षेत्र के उद्योगों के विकास के लिए अनेक प्रोत्साहन दिए गए। औद्योगिक क्षेत्र के उत्पादन में वृद्धि के लिए एवं आधुनिकीकरण के लिए विदेशी तकनीकी के प्रवेश की स्वतंत्रता की गई।

नीति का मूल्यांकन

1991 की औद्योगिक नीति ने भारत की औद्योगिक नीति में एक आदर्श बदलाव को चिह्नित किया और देश के आर्थिक परिदृश्य पर परिवर्तनकारी प्रभाव डाला। इससे आर्थिक विकास को गति मिली, उत्पादकता बढ़ी, प्रतिस्पर्धा बढ़ी और विदेशी निवेश प्रवाह में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। हालांकि, इस नीति को आलोचना का भी सामना करना पड़ा। विरोधियों ने तर्क दिया कि इससे बहुराष्ट्रीय निगमों का प्रभुत्व बढ़ा, प्राकृतिक संसाधनों का शोषण हुआ और आर्थिक असमानता बढ़ी। आलोचकों ने यह भी बताया कि यह नीति पर्याप्त रोजगार के अवसर पैदा करने में असमर्थ थी, जो इसके मुख्य उद्देश्यों में से एक है। फिर भी, यह निर्विवाद है कि 1991 की नीति ने भारतीय अर्थव्यवस्था के वैश्विक आर्थिक व्यवस्था में एकीकरण को उत्प्रेरित किया। इसने देश में उद्यमिता, नवाचार और तकनीकी विकास को महत्वपूर्ण प्रोत्साहन प्रदान किया।

औद्योगिक नीति वर्ष 1991 के पश्चात् भारत में औद्योगिक विकास तीव्र हुआ, जहां वर्ष 1991 के पूर्व के वर्षों में औद्योगिक विकास दर औसतन 4% थी, वहीं वर्ष 1991 के बाद 2012 तक औसत वृद्धि दर बढ़कर 6.5% प्रतिवर्ष हो गई। इसके अतिरिक्त उदारीकरण (Liberalisation) की नीतियों के परिणामस्वरूप उद्योगों में श्रम सघनता में बढ़ोत्तरी हुई तथा GDP में औद्योगिक उत्पाद का अनुपात बढ़ा है। सार्वजनिक क्षेत्र में किए जाने वाले सुधारों से उत्पादन पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। इन सुधारों के तहत सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयों को निजी क्षेत्र के हाथ बेचने की व्यवस्था है, क्योंकि निजी क्षेत्र की कार्यदक्षता बेहतर है, इसलिए इस बिक्री से उत्पादन बढ़ेगा। दूसरी ओर अक्षम व कमजोर इकाइयों को बन्द करने से इनमें लगे संसाधन बेहतर उपयोग के लिए इस्तेमाल किए जा सकेंगे। निजीकरण (Privatisation) के परिणामस्वरूप स्टॉक एक्सचेन्ज पर सार्वजनिक इकाइयों के शेयरों की खरीद–बिक्री बढ़ी है, जिससे इनकी दक्षता स्तरों में सुधार हुआ है।

निष्कर्षतः, 1991 की औद्योगिक नीति ने भारत की आर्थिक यात्रा के दौरान एक महत्वपूर्ण बदलाव को चिह्नित किया। इराने उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण के युग की शुरुआत की, जिससे देश का आर्थिक परिदृश्य बदल गया। हालांकि इस नीति के समक्ष अनेक चुनौतियां थी, किन्तु इसने समकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

10.9 हाल की औद्योगिक नीतियां

उदारीकरण के बाद के युग में भारत की औद्योगिक नीतियों का विकास जारी रहा है। मेक इन इंडिया, आत्मनिर्भर भारत, स्टार्टअप इंडिया, स्टैंडअप इंडिया और राष्ट्रीय विनिर्माण नीति जैसी हालिया पहल औद्योगिक विकास को बढ़ावा देने, नवाचार को बढ़ावा देने और वैश्विक प्रतिस्पर्धात्मकता बढ़ाने के लिए सरकार की प्रतिबद्धता को दर्शाती है।

मेक इन इंडिया

2014 में शुरू की गई मेक इन इंडिया पहल का उद्देश्य भारत को एक वैश्विक विनिर्माण केंद्र में बदलना था। इसने विनिर्माण क्षेत्र में घरेलू और विदेशी दोनों निवेशों को आकर्षित करने की मांग की। यह पहल ऑटोमोबाइल, विमानन, जैव प्रौद्योगिकी, रक्षा विनिर्माण और नवीकरणीय ऊर्जा सहित 25 क्षेत्रों पर केंद्रित है। इसका उद्देश्य निवेश को सुविधाजनक बनाना, नवाचार को बढ़ावा देना, कौशल विकसित करना, बौद्धिक संपदा की रक्षा करना और विश्व स्तरीय विनिर्माण बुनियादी ढांचे का निर्माण करना है।

आत्मनिर्भर भारत (आत्मनिर्भर भारत)

COVID-19 महामारी के जवाब में 2020 में आरम्भ किया गया, आत्मनिर्भर भारत अभियान, भारत को अपनी आंतरिक शक्तियों का लाभ उठाते हुए वैश्विक अर्थव्यवस्था का अभिन्न अंग बनाने का एक मिशन है। यह स्थानीय उत्पादों को बढ़ावा देने और उनके विकास के लिए अनुकूल वातावरण बनाने पर केंद्रित है। हालांकि यह आत्मनिर्भरता को प्रोत्साहित करता है, लेकिन यह अलगाववाद को बढ़ावा नहीं देता है। इस पहल में निवेश को आकर्षित करने और उद्यमशीलता को बढ़ावा देने के लिए श्रम, भूमि, तरलता और कानून जैसे क्षेत्रों में सुधार शामिल हैं।

स्टार्टअप इंडिया, स्टैंडअप इंडिया

2016 में शुरू की गई स्टार्टअप इंडिया एवं स्टैंडअप इंडिया पहल का उद्देश्य उद्यमिता को बढ़ावा देकर देश में एक मजबूत स्टार्टअप पारिस्थितिकी तंत्र को बढ़ावा देना और आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना है। इस पहल ने स्टार्टअप्स को कर लाभ प्रदान किया, अनुपालन मानदंडों को आसान बनाया और स्टार्टअप्स को

उद्यम पूंजी प्रदान करने के लिए 10,000 करोड़ का फंड आवंटित किया।

राष्ट्रीय विनिर्माण नीति

2011 में पेश की गई, राष्ट्रीय विनिर्माण नीति का लक्ष्य 2022 तक सकल घरेलू उत्पाद में विनिर्माण की हिस्सेदारी को 25 प्रतिशत तक बढ़ाना और 100 मिलियन नौकरियां पैदा करना था। इसमें राष्ट्रीय निवेश और विनिर्माण क्षेत्र (एनआईएमजेड) स्थापित करने, व्यावसायिक नियमों को सरल बनाने और रोजगार सृजन और पर्यावरण अनुपालन को प्रोत्साहित करने का प्रस्ताव दिया गया।

हाल की नीतियों का मूल्यांकन

ये हालिया नीतियां औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित करने, नवाचार को बढ़ावा देने और वैश्विक बाजार में भारतीय उद्योगों की प्रतिस्पर्धात्मकता बढ़ाने के ठोस प्रयास को दर्शाती हैं। 'मेक इन इंडिया' और राष्ट्रीय विनिर्माण नीति ने विनिर्माण क्षेत्र में महत्वपूर्ण रुचि पैदा की है। हालांकि, बुनियादी ढांचे की बाधाएं, नियामक जटिलताएं और भूमि अधिग्रहण और श्रम कानूनों से संबंधित मुद्दे चुनौतियां पैदा कर रहे हैं। आत्मनिर्भर भारत ने महत्वपूर्ण नीतिगत सुधारों को जन्म दिया है, जिससे व्यवसायों के लिए अनुकूल माहौल तैयार हुआ है। हालांकि, इसका दीर्घकालिक प्रभाव इन सुधारों के प्रभावी कार्यान्वयन और स्थानीय उत्पादों की गुणवत्ता और प्रतिस्पर्धात्मकता सुनिश्चित करने की क्षमता पर निर्भर करेगा।

स्टार्टअप इंडिया और स्टैंडअप इंडिया ने भारत में एक जीवंत स्टार्टअप इकोसिस्टम बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसने कई स्टार्टअप्स को फलने–फूलने और मूल्य सृजन में मदद की है। हालांकि, फंडिंग, नियामक अनुपालन और बाजार पहुंच से संबंधित मुद्दे कई स्टार्टअप के लिए चुनौतियां बने हुए हैं।

निष्कर्षतः, ये नीतियां देश के औद्योगिक परिदृश्य को आकार देने में सहायक रही हैं, लेकिन उनकी सफलता प्रभावी कार्यान्वयन, बुनियादी ढांचे और नियामक बाधाओं पर काबू पाने और औद्योगिक विकास और नवाचार के लिए अनुकूल वातावरण को बढ़ावा देने पर निर्भर करती है। वे भारत के औद्योगिक विकास के लिए एक आशाजनक दिशा का प्रतिनिधित्व करते हैं और अनुभव व बदलती आर्थिक वास्तविकताओं के आधार पर इन्हें लगातार परिष्कृत करने की आवश्यकता है।

10.10 भारतीय अर्थव्यवस्था पर औद्योगिक नीतियों का प्रभाव

आजादी के बाद से औद्योगिक नीतियों ने भारतीय अर्थव्यवस्था के पथ को नया आकार दिया है, जिसका असर जीडीपी, रोजगार, प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफडीआई) और विभिन्न क्षेत्रों की संरचना पर पड़ा है।

जीडीपी और आर्थिक विकास पर प्रभाव

भारत की सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि इसकी औद्योगिक नीतियों के उन्मुखीकरण से निकटता से जुड़ी हुई है। स्वतंत्रता के बाद शुरुआती दशकों में नियंत्रित और संरक्षणवादी नीतियों के कारण विकास दर मध्यम रही। 1991 के संरचनात्मक सुधारों से महत्वपूर्ण आर्थिक उदारीकरण हुआ, जिसके परिणामस्वरूप सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि में उल्लेखनीय तेजी आई। व्यवसाय करने में आसानी बढ़ाने, विनिर्माण को बढ़ावा देने और स्टार्टअप को बढ़ावा देने के उद्देश्य से हाल की नीतियों ने आर्थिक विकास को बनाए रखने में योगदान दिया है।

रोजगार पर प्रभाव

औद्योगिक नीतियों का रोजगार पर मिश्रित प्रभाव पड़ा है। 1991 के बाद के उदारीकरण से अधिक उत्पादक और प्रतिस्पर्धी उद्योगों का विकास हुआ, लेकिन औद्योगिक विकास की रोजगार लोच वांछनीय से कम रही है। 'मेक इन इंडिया' और 'स्टार्टअप इंडिया' जैसी हालिया नीतियों का लक्ष्य महत्वपूर्ण रोजगार सृजन करना है, लेकिन उनके प्रभाव को दीर्घकालिक रूप से देखने की जरूरत है।

प्रत्यक्ष विदेशी निवेश पर प्रभाव

1991 के उदारीकरण उपायों ने भारत में एफडीआई के द्वार खोल दिए, जिससे विदेशी पूंजी प्रवाह में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। क्षेत्रीय उदारीकरण, एफडीआई मानदंडों को आसान बनाने और कारोबारी माहौल में सुधार लाने के उद्देश्य से बनाई गई नीतियों ने भारत को एफडीआई के लिए शीर्ष गंतव्यों में से एक बना दिया है। 'मेक इन इंडिया' अभियान का उद्देश्य विनिर्माण क्षेत्र में एफडीआई को आकर्षित करना है।

विभिन्न क्षेत्रों पर प्रभाव– कृषि, विनिर्माण, सेवाएं

1. **कृषिः** औद्योगिक नीतियों ने अप्रत्यक्ष रूप से कृषि क्षेत्र को प्रभावित किया है। हरित क्रांति को उर्वरक और कीटनाशक उद्योगों की स्थापना से समर्थन मिला। हालांकि, यह क्षेत्र बड़े पैमाने पर औद्योगिक नीतियों के बजाय कृषि नीतियों से प्रभावित रहा है।

2. **विनिर्माणः** विनिर्माण क्षेत्र के विकास को सीधे तौर पर औद्योगिक नीतियों ने आकार दिया है। 1991 तक संरक्षणवादी शासन के कारण विविध लेकिन अकुशल विनिर्माण आधार का विकास हुआ। 1991 के बाद के सुधारों ने इस क्षेत्र में प्रतिस्पर्धात्मकता और उत्पादकता को बढ़ावा दिया। मेक इन इंडिया अभियान विशेष रूप से विनिर्माण क्षेत्र को लक्षित करता है, जिसका लक्ष्य भारत को एक वैश्विक विनिर्माण केंद्र बनाना है।

3. **सेवाएंः** सेवा क्षेत्र, विशेष रूप से आईटी और आईटी–सक्षम सेवाओं को 1991 की उदारीकरण नीतियों से काफी लाभ हुआ। यह क्षेत्र तेजी से विकसित हुआ है, जिसने सकल घरेलू उत्पाद और रोजगार में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। स्टार्टअप इंडिया पहल का उद्देश्य उद्यमिता और नवाचार को बढ़ावा देकर सेवा क्षेत्र को बढ़ावा देना है।

निष्कर्षतः, औद्योगिक नीतियों ने भारतीय अर्थव्यवस्था को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। हालांकि उन्होंने महत्वपूर्ण परिवर्तन लाए हैं, परंतु चुनौतियां अभी भी बनी हुई हैं। रोजगार सृजन, प्रतिस्पर्धात्मकता बढ़ाना, नवाचार को बढ़ावा देना और सतत एवं समावेशी विकास हासिल करना महत्वपूर्ण क्षेत्र बने हुए हैं जहां औद्योगिक नीतियां महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं।

10.11 चुनौतियां और सुझाव

महत्वपूर्ण प्रगति के बावजूद, भारत के औद्योगिक क्षेत्र को कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है जिन्हें विकास की गति को बनाए रखने और बढ़ाने के लिए संबोधित करने की आवश्यकता है। उभरती प्रौद्योगिकियों का लाभ उठाते हुए और संरचनात्मक बाधाओं को दूर करते हुए नीतिगत माहौल विकसित होना जारी रहना चाहिए।

औद्योगिक नीतियों के लिए वर्तमान चुनौतियां

अपर्याप्त परिवहन, बिजली और रसद सुविधाओं सहित बुनियादी ढांचे की बाधाएं औद्योगिक विकास में एक महत्वपूर्ण बाधा हैं। विनियामक जटिलताएं, हालांकि कुछ हद तक आसान हो गई हैं, फिर भी निवेश में बाधा बनी हुई हैं।

1. रोजगार सृजन को बढ़ावा देने की भी जरूरत है, खासकर श्रम–गहन क्षेत्रों में। उद्योग की आवश्यकताओं के अनुरूप कार्यबल को कुशल बनाना एक और बड़ी चुनौती है।

2. उदारीकरण के बावजूद, उद्यमिता और नवाचार को बढ़ावा देने के लिए कारोबारी माहौल में और सुधार की जरूरत है। हाल के सुधारों के बावजूद, रक्षा विनिर्माण और अंतरिक्ष जैसे क्षेत्रों को निवेश आकर्षित करने और स्वदेशीकरण को बढ़ावा देने के लिए और अधिक नीतिगत समर्थन की आवश्यकता है।

3. भारत के विनिर्माण क्षेत्र में सुधार होने के बावजूद प्रौद्योगिकी और उत्पादकता के मामले में यह अभी भी पीछे है। एमएसएमई क्षेत्र, जो रोजगार सृजन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, ऋण, प्रौद्योगिकी और बाजार पहुंच से संबंधित मुद्दों से जूझ रहा है।

सुझाव

1. भारत को नियामक प्रक्रियाओं में सुधार और सुव्यवस्थित करने और व्यापार करने में आसानी में सुधार जारी रखने की आवश्यकता है। विशेष रूप से लॉजिस्टिक्स, बिजली और डिजिटल कनेक्टिविटी के क्षेत्रों में बुनियादी ढांचे को उन्नत करने के लिए अधिक नीतिगत फोकस की आवश्यकता है।

2. कौशल विकास कार्यक्रमों को उद्योग की जरूरतों के साथ जोड़ा जाना चाहिए और व्यावसायिक प्रशिक्षण और शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार के प्रयास किए जाने चाहिए।

3. अनुसंधान और विकास को प्रोत्साहित करने और नई प्रौद्योगिकी अपनाने को बढ़ावा देने के लिए नीतियां बनाई जानी चाहिए। समूहन के लाभों का लाभ उठाने के लिए, विशेष रूप से एमएसएमई के लिए औद्योगिक समूहों को बढ़ावा दिया जा सकता है।

4. पर्यावरणीय रूप से टिकाऊ औद्योगिक विकास को बढ़ावा देने की भी आवश्यकता है। नीतियों को उद्योगों को स्वच्छ प्रौद्योगिकियों को अपनाने और पर्यावरण मानकों का पालन करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

5. आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (एआई), मशीन लर्निंग, इंटरनेट ऑफ थिंग्स (आईओटी), रोबोटिक्स और ब्लॉकचेन जैसी

उभरती प्रौद्योगिकियों में औद्योगिक परिदृश्य को मौलिक रूप से बदलने की क्षमता है। वे उत्पादकता बढ़ा सकते हैं, आपूर्ति श्रृंखलाओं को सुव्यवस्थित कर सकते हैं, उत्पाद की गुणवत्ता में सुधार कर सकते हैं और नए उत्पादों और सेवाओं के विकास को सक्षम कर सकते हैं।

6. सरकार को ऐसी नीतियां बनाने की जरूरत है जो इन प्रौद्योगिकियों को अपनाने की सुविधा प्रदान करें। इसमें डिजिटल साक्षरता को बढ़ावा देना, डेटा सुरक्षा सुनिश्चित करना और नियामक स्पष्टता प्रदान करना शामिल है।

7. इसके अलावा, डिजिटलीकरण सरकारी सेवाओं में भी सुधार कर सकता है, पारदर्शिता बढ़ा सकता है और नियामक प्रक्रियाओं को व्यवस्थित कर सकता है। डिजिटल प्लेटफॉर्म का उपयोग एमएसएमई को ऋण, बाजार की जानकारी और विभिन्न सेवाएं प्रदान करने के लिए किया जा सकता है।

8. विनिर्माण क्षेत्र की प्रतिस्पर्धात्मकता में सुधार के लिए एआई का लाभ उठाया जा सकता है। यह पूर्वानुमानित रखरखाव को बढ़ा सकता है, संसाधन उपयोग को अनुकूलित कर सकता है और उत्पाद डिजाइन में सुधार कर सकता है।

निष्कर्षतः, भारत के औद्योगिक क्षेत्र को बदलने के महत्वपूर्ण अवसर मौजूद हैं हालांकि चुनौतियां बनी हुई हैं,। बुनियादी ढांचागत और नियामक बाधाओं को दूर करके, कौशल विकास को बढ़ावा देकर, नवाचार को बढ़ावा देकर और नई प्रौद्योगिकियों का लाभ उठाकर, भारत अपनी औद्योगिक प्रतिस्पर्धात्मकता को बढ़ा सकता है और टिकाऊ और समावेशी विकास सुनिश्चित कर सकता है।

10.12 सारांश

स्वतंत्रता के बाद से औद्योगिक नीतियां भारत के आर्थिक क्षेत्र को आकार देने में एक महत्वपूर्ण साधन रही हैं। उन्होंने देश की आर्थिक दिशा का मार्गदर्शन किया है, इसके औद्योगीकरण का मार्ग परिभाषित किया है और इसकी विकास गाथा की लय निर्धारित की है। स्वतंत्रता के बाद संरक्षणवादी शासन से शुरू होकर, जिसने एक आत्मनिर्भर औद्योगिक आधार स्थापित करने की मांग की, भारत की औद्योगिक नीतियां समय के साथ बदलती आर्थिक वास्तविकताओं और विकास की जरूरतों को प्रतिबिंबित करने के लिए विकसित हुईं।

1991 के महत्वपूर्ण आर्थिक सुधारों ने उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण की दिशा में एक आदर्श बदलाव को चिह्नित किया, जिससे भारत को वैश्विक अर्थव्यवस्था के साथ प्रभावी ढंग से एकीकृत किया गया। मेक इन इंडिया, आत्मनिर्भर भारत और स्टार्टअप इंडिया, स्टैंडअप इंडिया सहित अन्य हालिया नीतियों का उद्देश्य औद्योगिक विकास को और अधिक प्रोत्साहित करना, नवाचार को बढ़ावा देना और वैश्विक प्रतिस्पर्धात्मकता को बढ़ाना है। इन नीतियों के प्रभाव दूरगामी रहे हैं। उन्होंने भारत के आर्थिक परिदृश्य को बदल दिया है, जो सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि में काफी तेजी, प्रत्यक्ष विदेशी निवेश में वृद्धि और विभिन्न क्षेत्रों, विशेष रूप से सेवाओं और विनिर्माण के विकास से चिह्नित है। नीतियों ने भारत को दुनिया की सबसे तेजी से बढ़ती अर्थव्यवस्थाओं में से एक और विदेशी निवेश के लिए एक पसंदीदा गंतव्य के रूप में उभरने के लिए प्रेरित किया है। हालांकि, यह ध्यान रखना आवश्यक है कि ये नीतियां कुछ चुनौतियां भी लेकर आईं। औद्योगिक विकास उतना रोजगार–परक नहीं रहा है जितना वांछित था, और बुनियादी ढांचे, नियामक जटिलताओं और कौशल विकास से संबंधित मुद्दे लगातार चुनौतियां बने हुए हैं। इन चुनौतियों से निपटना और अधिक समावेशी और टिकाऊ विकास पथ सुनिश्चित करना भविष्य के लिए एक कार्य बना हुआ है।

उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर, यह स्पष्ट है कि औद्योगिक नीतियों ने भारत के आर्थिक विकास की दिशा को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उन्होंने उभरती जरूरतों और वैश्विक रुझानों के जवाब में अनुकूलन और बदलाव के प्रति सरकार की प्रतिबद्धता का प्रदर्शन किया है। यह अनुकूलनशीलता भारत की औद्योगिक नीति व्यवस्था की एक परिभाषित विशेषता रही है और यह महत्वपूर्ण बनी रहेगी क्योंकि देश आर्थिक विकास के पथ पर आगे बढ़ रहा है। आगे देखते हुए, नई प्रौद्योगिकियों, डिजिटलीकरण और कृत्रिम बुद्धिमत्ता का आगमन अवसर और चुनौतियां दोनों प्रस्तुत करता है। चूंकि भारत इन अवसरों का लाभ उठाना चाहता है, इसलिए उसे अपनी औद्योगिक नीतियों को विकसित करना जारी रखना होगा। नवाचार को बढ़ावा देने, उद्यमशीलता को बढ़ावा देने, बुनियादी ढांचे की कमियों को दूर करने, कौशल बढ़ाने और अनुकूल कारोबारी माहौल बनाने पर ध्यान देने की जरूरत होगी। संक्षेप में, देश को यह सुनिश्चित करने की आवश्यकता है कि उसकी औद्योगिक नीतियां बदलते आर्थिक परिदृश्य के प्रति उत्तरदायी एवं आर्थिक विकास के लिए एक गतिशील उपकरण बनी रहें।

निष्कर्षतः, औद्योगिक नीतियां भारत की आर्थिक यात्रा की एक महत्वपूर्ण चालक रही हैं। उन्होंने इसके औद्योगीकरण के मार्ग, इसके विकास के चरित्र और वैश्विक अर्थव्यवस्था में इसके स्थान को प्रभावित किया है।

जैसे–जैसे भारत तेजी से वैश्वीकरण और प्रौद्योगिकी–संचालित दुनिया में अपना रास्ता बना रहा है, ये नीतियां इसकी आर्थिक नियति को परिभाषित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती रहेंगी। अब तक की यात्रा एक लचीले और अनुकूली नीति ढांचे की आवश्यकता को रेखांकित करती है, जो उभरती चुनौतियों का प्रभावी ढंग से जवाब दे सके और नए अवसरों का लाभ उठा सके। आगे का कार्य चुनौतीपूर्ण है लेकिन अपार संभावनाओं से भरा भी है।

10.13 अभ्यास के प्रश्न

1. औद्योगिक नीति से आप क्या समझते हैं? इसके महत्व का वर्णन करें।
2. स्वतन्त्रता पूर्व की औद्योगिक नीति का आलोचनात्मक वर्णन करें।
3. औद्योगिक नीति, 1948 के प्रमुख प्रावधानों का वर्णन करें।
4. औद्योगिक नीति, 1956 की चर्चा करें।
5. नई औद्योगिक नीति, 1991 की प्रमुख प्रावधानों का सविस्तार वर्णन करें।
6. भारतीय अर्थव्यवस्था पर औद्योगिक नीतियों के प्रभावों का वर्णन करें।

10.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय अर्थ व्यवस्था– प्रो० एस.एन. लाल एवं लाल
2. भारतीय अर्थव्यवस्था– रमेश सिंह
3. भारत का आर्थिक उदारीकरणः वित्तीय और बाहरी क्षेत्र– एस. शर्मा
4. ईपीए० 06– लोक नीति निर्माण मुख्य निर्धारक– बुकलेट–4, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।
5. बी०ए०पी०ए०– 301 अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियां इकाई–1.5 उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय।

इकाई –11 पंचायती राज (ग्रामीण विकास)

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 परिचय

11.2 पंचायती राज की पृष्ठभूमि/ ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

11.3 भारत में पंचायती राज की स्थिति

11.3.1 स्वतंत्रता पूर्व भारत में पंचायती राज

11.3.2 स्वतंत्रता के बाद में पंचायती राज

11.4 पंचायती राज के विकास के लिए किये गये प्रयास

11.4.1 सामुदायिक विकास कार्यक्रम

11.4.2 बलवन्त राय मेहता समिति

11.4.3 अशोक राय मेहता समिति

11.4.4 जी.वी.के. राव समिति

11.4.5 डॉ0 एल. एम. सिंघवी समिति

11.4.6 पी. के. थुंगन समिति

11.5 73वें संविधान संशोधन एवं जनतांत्रिक विकेन्द्रीकरण

11.5.1 73वें संविधान संशोधन के प्रमुख प्रावधान

11.5.2 73वें संविधान संशोधन की विशेषताएं

11.6 त्रिस्तरीय पंचायती राज संस्थाओं की संरचना व कार्य

11.6.1 ग्राम पंचायत

11.6.2 क्षेत्र पंचायत/पंचायत समिति

11.6.3 जिला परिषद

11.7 पंचायती राज संस्थाएं एवं ग्रामीण विकास

11.8 पंचायती राज संस्थाओं के माध्यम से समाज के वंचित समूह व महिलाओं का सशक्तिकरण

11.9 पंचायती राज संस्थाओं की पहल की सफलता के केस अध्ययन

11.10 पंचायती राज संस्थाओं के समक्ष चुनौतियां

11.11 पंचायती राज संस्थाओं को मजबूत करने के लिए आवश्यक संभावित अनुशंसाएं

11.12 सारांश

11.13 अभ्यास हेतु प्रश्न

11.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

11.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप निम्नलिखित तथ्यों को समझ सकेंगे:

- भारत में पंचायती राज की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और उसकी स्थिति।
- पंचायती राज के विकास के लिए किये गये कार्य।
- 73वें संविधान संशोधन के उपरान्त पंचायती राज की स्थिति।

- 73वें संविधान संशोधन के प्रमुख प्रावधान एवं विशेषताएं।
- त्रिस्तरीय पंचायती राज संस्थाओं की संरचना व कार्य।
- पंचायती राज संस्थाओं के समक्ष चुनौतियां।

11.1 परिचय

भारत गांवों का देश है। गांवों की उन्नति और प्रगति पर ही भारत की उन्नति और प्रगति निर्भर है। इसलिए पंचायती राज व्यवस्था ग्रामीण स्थानीय शासन की महत्ता स्वयंसिद्ध है। लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के तहत सामाजिक–आर्थिक विकास के लिए पंचायती राज संस्थाएं महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। प्राचीन काल से ही भारत में स्थानीय संस्थाएं विद्यमान रही हैं। प्राचीन काल के राजनैतिक और प्रशासनिक इतिहास पर दृष्टि डालें तो यह विदित होता है कि इन संस्थाओं का अस्तित्व किसी न किसी रूप में सदैव प्रत्येक काल और प्रत्येक राज्य में विद्यमान रहा है। मौर्य शासन काल में नगरीय तथा ग्रामीण स्वशासन की समृद्ध प्रणाली का प्रमाण मिलता है। अर्थात पंचायतें प्राचीन काल से ही भारतीय ग्रामीण समाज का अभिन्न अंग रही है ग्रामीण भारत के सामाजिक–आर्थिक परिवेश की उन्नति एवं प्रगति में पंचायतों की भूमिका अत्यंत प्रभावशाली रही है परन्तु मुगलकाल और अंग्रेजी शासन काल में पंचायतें धीरे–धीरे समाप्त हो गई और सब कार्य प्रान्तीय सरकारें करने लगीं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राज्यों की सरकारों ने पंचायतों की स्थापना की ओर विशेष बल दिया। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने पंचायतों के महत्व को प्रतिपादित करते हुए कहा था, "सच्चा लोकतंत्र वही है जो निचले स्तर पर लोगों की भागीदारी पर आधारित हो।" भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहर लाल नेहरू ने पंचायती राज की स्थापना की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्हीं के प्रयास से 1952 में समुदायिक विकास कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया। अतः पंचायती राज संस्थाएं भारत की लोकतांत्रिक व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण स्तंभ है, जो देश के ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश में गहराई से जुड़ा हुआ है। शासन के सबसे बुनियादी स्तर के रूप में खासकर ग्रामीण क्षेत्रों में पंचायती राज संस्थाएं, सरकार और लोगों के बीच संपर्क के प्रथम बिन्दु के रूप में कार्य करते हैं। वे जमीनी स्तर पर विभिन्न विकासात्मक योजनाओं और कार्यक्रमों को लागू करने के लिए एक महत्वपूर्ण माध्यम के रूप में कार्य करते हैं।

11.2 पंचायती राज की पृष्ठभूमि / ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

भारत में स्थानीय शासन या पंचायतों की जड़ें प्राचीन हैं तथा स्थानीय शासन का विचार, सदियों से भारतीय समाज में व्याप्त है। पंचायत शब्द संस्कृत से लिया गया है, जहां पंच का अर्थ पांच है और यत का अर्थ सभा है। ये सामुदायिक मामलों पर निर्णय लेने के लिए चुने गये पांच सम्मानित बुजुर्गों की परिषदें थीं। प्राचीन काल में गांवों में पंच–परमेश्वर की प्रणाली मौजूद थी। गांव में सर्वसहमति से चुने गये गांव के गणमान्य व बुद्धिमान व्यक्तियों को गांव में न्याय व्यवस्था बनाने व गांव के विकास हेतु निर्णय लेने का अधिकार था। उन्हें पंच–परमेश्वर तक कहा जाता था। पंच परमेश्वर द्वारा न्याय को सरल और सुलभ बनाने की प्राथमिकता काफी मजबूत थी। उस समय ये पंच एक संस्था के रूप में कार्य करते थे। गांव के झगड़े, गांव की व्यवस्थाएं सुधारना जैसे मुख्य कार्य पंच–परमेश्वर संस्था किया करती थी।

प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय राज्य व्यवस्था के किसी भी अध्ययन से व्यक्त होगा कि सामुदायिक जीवन के अनेक पक्षों पर निणर्य के लिए स्थानीय स्तरों पर प्रतिनिधि निकाय किसी न किसी रूप में विद्यमान थे। इसका प्रभाव मिलता है कि प्राचीन भारत में विशेष रूप से ऋगवैदिक काल के दौरान कुछ भागों में गणतांत्रिक सरकारें मौजूद थीं, जो राजा विहीन गणतंत्र 'वैराग्य' कहलाती थीं।

हमारे वैदिक संदर्भों में गांव की प्रमुख सभा को लोकप्रिय प्रतिनिधि 'सभा' कहा गया है तथा समस्त जनता को संस्था के रूप में समिति कहा गया है। समिति से शब्द सम+इति शब्द से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ है, साथ–साथ बैठना। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इन मौलिक समुदायों में से कुछ का विवरण मिलता है। अनेक स्रोतों से भी समिति के संप्रभुता पूर्ण कार्यों के भी संकेत मिलते हैं जैसे जनता की ओर से राजा का निर्वाचन या पुनर्निर्वाचन करना। विभिन्न कुटुम्बों के पित्रात्मक मुखियों से शासन वर्ग का गठन होता था। इस प्रकार के अनेक कुटुम्बों से मिलकर एक 'विस' (केन्टन) राजपदी बनता था। अनेक विसों से 'जन' का निर्माण होता था। जिसका अध्यक्ष, जनपति या राजा होता था। अनेक जगहों पर राजपदी की प्रथा थी, किंतु राजा निर्वाचित किया जाता था, जिसमें राजतंत्र और जनपरामर्श, दोनों सिद्धांतों का समावेश हो जाता था। इनमें कुछ–कुछ गणतांत्रिक तत्व भी शामिल थे।

वायु पुराण में प्रादेशिक जन समुदायों के रूप में भारतवर्ष के 120 जनपदों का उल्लेख मिलता है जो

जनजाति, गोत्र, बोली, सामाजिक रीति–रिवाज, भौगोलिक स्थान और राजनीतिक स्थिति के आधार पर निर्धारित होते थे। ये स्वायत्त और आत्मनिर्भर समुदाय थे, जो परामर्श करने और निर्णय लेने में विभिन्न विधियां प्रयोग में लाते थे।

मौर्य साम्राज्य (324 ई. पू.) के उदय और उसके व्यापक विस्तार के साथ ही गणतांत्रिक और प्रतिनिधि संस्थाओं का ह्रास हो गया, जो थोड़े–बहुत बचे थे वे गुप्तकाल (320–511 ई.) में लुप्तप्राय हो गए। किंतु ग्राम पंचायतों का अस्तित्व शताब्दियों के बाद भी मुगल शासन (1526–1857) तक विद्यमान रहा। कम से कम परामर्शकारी संगठन के रूप में तो यह बना ही रहा।

सभी विवरणों से पता चलता है कि वैदिक काल से ही पारंपरिक भारतीय राज्य व्यवस्था का प्रमुख आधार ग्राम 'गणराज्य' था। ग्राम गणराज्य एक स्वायत्त और लगभग आत्मनिर्भर समुदाय था, जो व्यावहारिक रूप से परस्पर 'जजमानी' प्रणाली पर निर्भर था। मगर यह आश्रय दाता आश्रित संबंध पर आधारित था। यह भारतीय सांस्कृतिक विरासत की एक अनोखी विशेषता है कि चाहे राजतंत्र की स्थापना हुई हो या साम्राज्य बने हों, स्थानीय प्रशासन की मूलभूत इकाई ग्राम ही रहा। ग्राम प्रशासन जो एक पंचायत के माध्यम से संचालित होता था, गांव के तालाबों, नदियों, चारागाह, बाजार तथा मंदिर की देखभाल और कर वसूली तथा न्याय प्रबंध संबंधी कार्य करता था। इसके अलावा ग्राम प्रशासन ही ग्राम निवासियों के सामान्य कल्याण की व्यवस्था करता था। जैसा कि **आल्टेकर** ने उल्लेख किया है "अत्यंत प्राचीन काल से ही भारत के गांव प्रशासन की धुरी रहे हैं।" इस कथन में इतना और जोड़ा जा सकता है कि भारत के गांव भारतीय सामाजिक अस्तित्व की धुरी हैं। यहां तक कि राजा भी गांव पर अपनी शक्ति का प्रयोग पंचायत के मुखिया के माध्यम से ही करता था जिसे 'ग्रामीण' तथा 'ग्रामिक' कहा जाता था। ग्रामीण गणराज्यों की गतिविधियों में राजा या राज्य का बहुत कम हस्तक्षेप था। कुछ परंपराएं और रीति–रिवाज सदियों पहले विकसित हुए थे और वही अघोषित और अलिखित कानून बन गए। समुदाय सामान्यतया उनका अनुकरण और पालन करने लगे। **सर चार्ल्स मेटकाफ** ने ग्राम पंचायतों के बारे में कहा था, "ये छोटे–छोटे गणराज्य हैं," जहां अन्य कुछ शेष नहीं रहा वहां इसका अस्तित्व बना रहा।

भारतीय इतिहास के मध्य काल में पंचायतों के विकास पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। मध्य युग में मुगल शासकों का प्रभाव था। मुगल शासकों ने एक अत्यधिक केंद्रित स्थानीय शासन की स्थापना की। ऐसा उन्होंने इसलिए किया क्योंकि उनका मत था कि बिना केंद्रित शासन के इतने बड़े देश पर शासन करना अत्यधिक कठिन कार्य होगा। परिणाम स्वरूप, उन्होंने विकेन्द्रीकरण को स्वीकार नहीं किया। मुगल काल मे स्थानीय शासन का विकास नहीं हुआ। लेकिन उनके काल में स्थानीय शासन की संस्थाएं कार्य करती रहीं, लेकिन उनकी स्थिति बहुत दयनीय थी। ब्रिटिश काल के दौरान भी अंग्रेजों की केन्द्रीकरण की नीति के कारण स्थानीय या पंचायत व्यवस्था को गहरा झटका लगा।

11.3 भारत में पंचायती राज की स्थिति

भारत मे पंचायती राज की स्थिति व विकास को हम दो भागों में बांटकर अध्ययन कर सकते है– (1) स्वतंत्रता पूर्व भारत में पंचायती राज (2) स्वतंत्रता के बाद भारत में पंचायती राज

11.3.1 स्वतंत्रता से पूर्व भारत में पंचायती राज

स्वतन्त्रता से पूर्व पंचायतों के विकास व मजबूती के लिए विशेष प्रयास नहीं किया गया जिसके परिणाम स्वरूप पंचायती राज व्यवस्था की स्थिति दिन प्रतिदिन दयनीय होती गयी। मध्यकाल में मुगल शासकों का शासन भारत के विभिन्न हिस्सों में फैल गया। यद्यपि स्थानीय शासन की संस्थाओं की मजबूती के लिए विशेष प्रयास नहीं किये गये लेकिन मुगल शासकों ने अपने हितों के लिए पंचायतों का काफी उपयोग किया जिसके फलस्वरूप पंचायतों के मूल स्वरूप को धक्का लगा और वे केन्द्र के हाथों की कठपुतली बन गई। ब्रिटिश काल के दौर में भी पंचायतों व स्थानीय शासन के सुदृढ़ीकरण व मजबूती हेतु विशेष ध्यान नहीं दिया गया जिसके परिणामस्वरूप पंचायती व्यवस्था लड़खड़ाती रही। अंग्रेजी शासन काल में सत्ता का केन्द्रीकरण हो गया और दिल्ली की ब्रिटिश सरकार पूरे भारत पर शासन करने लगी।

(1) स्वतंत्रता पूर्व पंचायतों की स्थिति– स्वतंत्रता से पूर्व भारत में स्थानीय शासन का प्रारम्भ 1687 से माना जाता है जब मद्रास नगर के लिए एक स्थानीय शासन के निकाय अर्थात् एक नगर निगम की स्थापना की गई। 1687 से 1881 तक स्थानीय शासन को केन्द्र तथा प्रान्तों के वित्तीय बोझ को हल्का करने का साधन माना जाता था और इसी रूप में उसका प्रयोग किया जाता था। 1882 में भारत के गवर्नर जनरल 'लॉर्ड रिपन' ने स्थानीय शासन को स्वशासी बनाने का प्रस्ताव रखा। उसकी दृष्टि में स्थानीय शासन प्रधानतः राजनीतिक तथा सार्वजनिक शिक्षा का साधन था। जिस प्रस्ताव में इन सिद्धान्तों का समावेश किया गया था उसे एक 'महान

अधिकार पत्र' (मैग्नाकार्टा) कहा गया। इसीलिये लार्ड रिपन को भारत में स्थानीय स्वशासन का जनक कहा जाता है। लेकिन उक्त प्रयास के बावजूद भी पंचायतों की स्थिति में व्यावहारिक दृष्टि से कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ। वास्तव में ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य भारत में पंचायतों की स्थिति को मजबूत करना न होकर भारत में अपने शासन को मजबूत करना था।

'मांटेस्क्यू चेम्सफोर्ड्स सुधार' के तहत एक अधिनियम पारित करके पंचायतों को फिर से स्थापित करने का काम प्रान्तीय शासन पर छोड़ दिया। अंग्रेजों की नीयत तब उजागर हुई जब एक तरफ पंचायतों को फिर से स्थापित करने की बात कही और दूसरी तरफ गांव वालों से नमक तक बनाने का अधिकार छुड़ा लिया। इसी क्रम में 1935 में लार्ड वैलिंग्टन के समय भी पंचायतों के विकास की ओर थोड़ा बहुत ध्यान दिया गया, लेकिन कुल मिलाकर ब्रिटिशकाल में पंचायतों को फलने–फूलने के अवसर कम ही मिले।

11.3.2 स्वतंत्रता के बाद भारत में पंचायती राज

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद पंचायतों तथा स्थानीय स्वशासन को मजबूत और प्रभावी बनाने के लिए प्रयत्न शुरु हुए। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी स्वराज व स्वालम्बन के लिए पंचायती राज व्यवस्था के प्रबल समर्थक थे। गांधी जी ने पंचायतों के महत्व को प्रतिपादित करते हुए कहा था "सच्चा लोकतंत्र वही है जो निचले स्तर पर लोगों की भागीदारी पर आधारित हो, यह तभी संभव है, जब गांव में रहने वाले आम आदमी को भी शासन के बारे में फैसला करने का अधिकार मिले। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए आजादी के बाद पंचायती राज व्यवस्था को स्थापित करने तथा पंचायती राज व्यवस्था को सशक्त बनाने के लिए प्रभावी कदम उठाये गये। 1950 में नए संविधान के लागू होने के साथ–साथ स्थानीय शासन ने एक नये दौर में प्रवेश किया। भारत के संविधान में पंचायती राज व्यवस्था को राज्य सूची में शामिल करते हुए, इसको राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्त रूप में समाहित किया गया। संविधान के अनुच्छेद 40 में ये कहा गया है कि राज्य, ग्राम पंचायतों का गठन करने के लिए कदम उठाएगा तथा उन्हें ऐसे अधिकार और शक्ति प्रदान करेगा जो कि उनके द्वारा स्वशासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने में सक्षम हो सके। स्वतन्त्रता के पश्चात ग्रामीण क्षेत्र के आर्थिक और सामाजिक विकास पर बल दिया गया और सामुदायिक विकास कार्यक्रम तैयार किया गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ के साथ ही ग्रामीण क्षेत्रों के आर्थिक एवं सामाजिक विकास के लिए सामुदायिक विकास कार्यक्रम का सूत्रपात हुआ तथा पंचायती राज व्यवस्था के विकास के लिए अनेक कदम उठाये गये।

11.4. पंचायती राज के विकास के लिए किये गये प्रयास

भारत में पंचायती राज संस्थाओं के विकास के लिए सरकार द्वारा अनेक कदम उठाये गये हैं तथा समय–समय पर पंचायती राज संस्थाओं को स्थापित करने तथा उनको मजबूत करने के लिए अनेक समितियां भी गठित की गयी।

11.4.1 सामुदायिक विकास कार्यक्रम 1952

ग्रामीण क्षेत्र में जागरूकता और जनसहभागिता बढ़ाने की आवश्यकता अनुभव की गई तथा आर्थिक और सामाजिक विकास पर बल दिया गया, इसलिए 2 अक्टूबर, 1952 को सामुदायिक विकास कार्यक्रम का आरम्भ हुआ, किन्तु तीन–चार वर्षो के अन्तर्गत यह स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगा कि यह कार्यक्रम आम व्यक्ति भी परिधि से बाहर है। सामुदायिक विकास कार्यक्रम ग्रामीण विकास का सबसे पहला व सबसे प्रमुख का कार्यक्रम था। सामुदायिक विकास कार्यक्रम कार्यक्रम को अपने वांछित उद्देश्यों में सफलता प्राप्त नहीं हुई।

11.4.2 बलवन्तराय मेहता समिति

सामुदायिक विकास कार्यक्रम की असफलता की जांच करने तथा सामुदायिक विकास कार्यक्रम को प्रभावी बनाने के उद्देश्य से 1957 में केन्द्र सरकार ने तत्कालीन सांसद बलवन्तराय मेहता के नेतृत्व में एक अध्ययन समिति का गठन किया। इस अध्ययन समिति से अपने प्रतिवेदन में यह कहा कि गांव का विकास गांव वालों की सक्रिय सहभागिता के बगैर सम्भव नहीं है। मेहता समिति ने यह संस्तुति की कि लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के लिए पंचायती राज संस्थाओं की यथाशीघ्र स्थापना की जानी चाहिए। मेहता समिति की कुछ संस्तुतियां निम्नलिखित हैं–

- त्रिस्तरीय पंचायती राजव्यवस्था की स्थापना– ग्रामस्वर पर ग्राम पंचायत, खण्ड (ब्लाक) स्तर पर पंचायत समिति, और जिला स्तर पर जिला परिषद।
- ग्राम पंचायत की स्थापना प्रत्यक्ष रूप से चुने प्रतिनिधियों द्वारा होनी चाहिए, जबकि पंचायत समिति और

जिला परिषद् का गठन अप्रत्यक्ष रूप से चुने हुए सदस्यों द्वारा होनी चाहिए।

- सभी योजना और विकास के कार्य इन निकायों को सौंपे जाने चाहिए।
- इन पंचायती राज संस्थाओं में शक्ति तथा उत्तरदायित्व का वास्तविक स्थानांतरण होना चाहिए।
- पर्याप्त साधन जुटाने व जनसहयोग के लिए इन संस्थाओं को पर्याप्त अधिकार दिये जाने चाहिए।

समिति की इन सिफारिशों को राष्ट्रीय विकास परिषद द्वारा जनवरी 1958 में स्वीकार किया गया। इस समिति की इन सिफारिशों के आधार पर ही 2 अक्टूबर 1959 को राजस्थान के नागौर जिले में तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. जवाहर लाल नेहरू द्वारा पंचायती राज की स्थापना की गई। नेहरू ने पंचायतों की इस व्यवस्था को 'पंचायती राज' का नाम दिया। इसके बाद आन्ध्र प्रदेश तथा देश के अन्य प्रान्तों में त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था को लागू किया गया।

11.4.3 अशोक मेहता समिति,1977

पंचायती राज व्यवस्था की कमियों को दूर करने के लिए तथा उन्हें और अधिक प्रभावी बनाने के लिए केन्द्र सरकार द्वारा 1977 में अशोक मेहता समिति की स्थापना की गई। इस समिति ने 1978 में पंचायती राज व्यवस्था को द्विस्तरीय, जिला स्तर तथा मण्डल स्तर पर बनाने सहित अपने कई सुझाव दिये, लेकिन केन्द्र सरकार ने इसकी सिफारिशों को स्वीकार नहीं किया। इसका प्रमुख कारण यह था कि इस समिति का गठन केन्द्र की जनता पार्टी सरकार द्वारा किया गया था, लेकिन वह सरकार जुलाई 1979 में गिर गई तथा उसके बाद जनवरी 1980 में संपन्न चुनावों में केन्द्र में कांग्रेस पार्टी की सरकार बन गयी, जिसने अशोक मेहता कमेटी की सिफारिशों को स्वीकार नहीं किया।

11.4.4 पी. वी. के. राव समिति

वर्ष 1985 में डॉ. पी.वी.के. राव की अध्यक्षता में एक समिति का गठन करके उसे यह कार्य सौंपा गया कि वह ग्रामीण विकास तथा गरीबी को दूर करने के लिए प्रशासनिक व्यवस्था पर सिफारिश करे। इस समिति ने राज्य स्तर पर राज्य विकास परिषद्, जिला स्तर पर जिला परिषद्, मंडल स्तर पर मण्डल पंचायत तथा गांव स्तर पर गांव सभा के गठन की सिफारिश की। इस समिति ने विभिन्न स्तरों पर अनुसूचित जाति तथा जनजाति एवं महिलाओं के लिए आरक्षण की भी सिफारिश की, लेकिन समिति की सिफारिश को अमान्य कर दिया गया।

11.4.5 डॉ. एल. एम. सिंघवी समिति

पंचायती राज संस्थाओं के कार्यों की समीक्षा करने तथा उसमें सुधार करने के संबंध में सिफारिश करने के लिए सिंघवी समिति का गठन किया गया। इस समिति ने ग्राम पंचायतों को सक्षम बनाने के लिए गांवों के पुनर्गठन की सिफारिश की तथा साथ में यह सुझाव भी दिया कि ग्राम पंचायतों को अधिक वित्तीय संसाधन उपलब्ध कराया जाए। सिंघवी कमेटी ने ही पंचायतों को संवैधानिक मान्यता देने का सुझाव दिया था।

11.4.6 पी. के. थुंगन समिति

1988 में पी.के. थुंगन समिति का गठन पंचायती संस्थाओं पर विचार करने के लिए किया गया। थुंगन समिति ने भी पंचायती राज संस्थाओं को शक्तिशाली बनाने के लिए उन्हें संवैधानिक दर्जा देने का सुझाव दिया। समिति ने कहा कि पंचायतों का संबंध सीधा संघ से होना चाहिए, राज्यों से नहीं। प्रत्येक राज्य में एक वित्त आयोग तथा नियोजन एवं समन्वय समिति होनी चाहिए।

इन समितियों के सुझावों के आधार पर पंचायती राज संस्थाओं में महत्वपूर्ण सुधार किए गए। इन सभी सुधारों को 73वें संविधान संशोधन, 1992 में शामिल किया गया।

11.5 73वें संविधान संशोधन एवं इसके प्रमुख प्रावधान

संविधान के 73वें संशोधन अधिनियम,1992 ने पंचायती राज व्यवस्था को न केवल नई दिशा प्रदान की है अपितु यह लोकतन्त्र की जड़ों को सींचने में भी सार्थक सिद्ध हुआ है। पंचायती राज व्यवस्था का संशोधन अधिनियम मील का पत्थर है। इस अधिनियम द्वारा पंचायतों के गठन, चुनाव, शक्तियों, कार्यों तथा वित्तीय स्वायत्तता की दृष्टि से व्यापक परिवर्तन किये गये। संसद द्वारा यह अधिनियम, दिसम्बर 1992 में पारित किया गया तथा 24 अप्रैल, 1993 को लागू किया गया। इसीलिए प्रतिवर्ष 24 अप्रैल को राष्ट्रीय पंचायत दिवस के रूप में मनाया जाता है। 73वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा पंचायतों को संविधान के 9वें भाग में शामिल कर संवैधानिक दर्जा

प्रदान किया गया। संविधान के अनुच्छेद 243 से 243 'o' तक पंचायती राज संस्थाओं के बारे में लिखा गया है। इस प्रकार संविधान के भाग–9 के अनुच्छेद–243 में पंचायतों से सम्बन्धित निम्नलिखित प्रावधान हैः–

अनुच्छेद 243 (क) – ग्राम सभा

ग्राम सभा ग्राम स्तर पर ऐसी शक्तियों का प्रयोग और ऐसे कार्यों का निर्वहन कर सकेगी जो

विधानमण्डल द्वारा, विधि द्वारा उपबन्धित किये जायेंगे।

अनुच्छेद 243 (ख)– पंचायतों का गठन

अनुच्छेद 243 ख त्रिस्तरीय पंचायती राज का प्रावधान करता है। प्रत्येक राज्य में ग्राम स्तर, मध्यस्तर और जिला स्तर पर पंचायती राज संस्थाओं का गठन किया जाएगा। किन्तु उस राज्य में जिसकी जनसंख्या 20 लाख से अधिक नहीं है वहां मध्यवर्ती स्तर पर पंचायतों का गठन करना आवश्यक नहीं होगा।

अनुच्छेद 243 (ग) – पंचायतों की संरचना

राज्य विधानमण्डलों को विधि द्वारा पंचायतों की संरचना के लिए उपबन्ध करने की

शक्ति प्रदान की गई है।

अनुच्छेद 243 (घ) – पंचायतों में आरक्षण

पंचायत में क्षेत्र की जनसंख्या के अनुपात में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए स्थान आरक्षित रहेंगे। आरक्षित स्थानों में से 1/3 स्थान अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की महिलाओं के लिए आरक्षित रहेंगे।

अनुच्छेद 243 (ड.) – पंचायतों का कार्यकाल

पंचायती राज संस्थाओं का कार्यकाल 5 वर्ष होगा। किसी पंचायत के गठन के लिये निर्वाचन 5 वर्ष की अवधि के पूर्व और विघटन की तिथि से 6 माह की अवधि के अवसान से पूर्व निर्वाचन अनिवार्य होगा।

अनुच्छेद 243 (च)–सदस्यता के लिए योग्यताएं

सदस्यता की न्यूनतम आयु 21 वर्ष होनी चाहिए साथ ही विधानमण्डल की किसी विधि के अधीन निरर्हित ना किया गया हो।

अनुच्छेद 243 (छ)–पंचायतों की शक्तियां, प्राधिकार और उत्तरदायित्व

1. संविधान के उपबन्धों के अधीन रहते हुए राज्य का विधानमण्डल विधि द्वारा पंचायतों को ऐसी शक्तियां और प्राधिकार प्रदान कर सकेगा, जो वह उन्हें स्वायत्त शासन की संस्थाओं के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक समझे।
2. आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय की स्कीमों को जो उन्हें सौंपी जाएं क्रियान्वित

   करना।

अनुच्छेद 243 (ज)– पंचायतों द्वारा कर अधिरोपित

पंचायतों द्वारा कर अधिरोपित करने की शक्ति और पंचायतों की निधियां–राज्य का

विधानमण्डल विधि द्वारा।

अनुच्छेद 243 (झ)– राज्य वित्त आयोग

वित्तीय स्थिति के पुनर्विलोकन के लिए वित्त आयोग का गठन नवगठित वित्त आयोग वित्त के मामले में राज्यपाल को सिफारिश देगा, वित्त आयोग का गठन राज्य करेगा।

अनुच्छेद 243 (ट)– पंचायतों के लिए निर्वाचन

पंचायतों के लिए कराए जाने वाले सभी निर्वाचन के लिए निर्वाचक नामावली तैयार करने का और उन सभी निर्वाचनों के संचालन का अधीक्षण निदेशन और नियन्त्रण एक राज्य निर्वाचन आयोग में निहित होगा जिसमें राज्यपाल द्वारा नियुक्त किया गया एक राज्य निर्वाचन आयुक्त होगा।

पंचायतों के कार्य–11वीं अनुसूची

इसमें 29 विषय हैं जिन पर पंचायतें विधि बनाकर उन कार्यों को कर सकेंगी। ये निम्न प्रकार हैं–

1. कृषि, जिसके अन्तर्गत कृषि विस्तार भी है.
2. भूमि सुधार और मृदा संरक्षण
3. लघु सिंचाई, जल प्रबंध और जल आच्छादन विकास
4. पशुपालन, दुग्ध उद्योग और कुक्कुट पालन
5. मत्स्य उद्योग
6. सामाजिक वनोद्योग और खाद्य प्रसंस्करण उद्योग भी हैं।
7. खादी, ग्राम और कुटीर उद्योग
8. ग्रामीण आवागमन
9. पेयजल
10. ईंधन और चारा
11. सड़के पुलिया, नौघाट
12. जलमार्ग तथा संचार के अन्य साधन
13. ग्रामीण विद्युतीकरण, जिसके अन्तर्गत विद्युत वितरण भी है।
14. गैस – पारम्परिक ऊर्जा स्त्रोत
15. गरीबी अपशमन कार्यक्रम
16. शिक्षा जिसके अन्तर्गत प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालय भी है।
17. तकनीकी प्रशिक्षण और व्यावसायिक शिक्षा
18. प्रौढ़ और अनौपचारिक शिक्षा
19. पुस्तकालय
20. बाजार और मेले
21. सांस्कृतिक क्रियाकलाप
22. परिवार कल्याण
23. स्त्री और बाल विकास
24. स्वास्थ्य और स्वच्छता जिसके अन्तर्गत अस्पताल, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र और औषधालय भी है।
25. समाज कल्याण जिसके अन्तर्गत विकलांगों और मानसिक रूप से अविकसित व्यक्तियों का कल्याण भी है।
26. जनता के कमजोर वर्गों का और विशेष रूप से अनुसूचित जाति/अनुसचित जनजाति का कल्याण।
27. लोक वितरण प्रणाली
28. सामुदायिक आस्तियों का अनुरक्षण
29. आर्थिक विकास

11.6. त्रिस्तरीय पंचायती राज संस्थाएंः संरचना और कार्य

आधुनिक पंचायती राज संस्थाएं, जैसा कि 73वें संवैधानिक संशोधन अधिनियम द्वारा परिकल्पित है, भारत में स्थानीय शासन की एक त्रिस्तरीय प्रणाली है, जो गांव, ब्लॉक और जिला स्तरों पर संचालित होती है। इस संरचना में ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत, ब्लॉक स्तर पर पंचायत समिति और जिला स्तर पर जिला परिषद शामिल हैं।

11.6.1 ग्राम पंचायत

ग्राम पंचायत, पंचायती राज प्रणाली की नींव है और सरकार और ग्रामीण आबादी के बीच सीधे संपर्क के रूप में कार्य करती है। इसमें कम से कम 500 (पहाड़ी क्षेत्रों में) से 5,000 तक की आबादी वाले गांव या गांव के समूह को शामिल किया गया है। ग्राम पंचायत एक निर्वाचित निकाय है, जिसके सदस्य हर पांच साल में प्रत्यक्ष चुनाव के माध्यम से चुने जाते हैं। इसका राजनीतिक प्रमुख सरपंच या प्रधान होता है, जिसे ग्रामीणों द्वारा भी चुना जाता है। ग्राम पंचायत की जिम्मेदारी कृषि विकास, स्वच्छता, पेयजल, ग्रामीण आवास, सड़कें, गरीबी उन्मूलन, सामाजिक और आर्थिक विकास आदि जैसे विभिन्न क्षेत्रों तक फैली हुई हैं। वे स्थानीय कर लगाने और एकत्र करने और गांव में सरकारी योजनाओं को लागू करने के लिए भी जिम्मेदार हैं।

11.6.2 पंचायत समिति

पंचायत समिति, जिसे ब्लॉक पंचायत या क्षेत्र पंचायत के रूप में भी जाना जाता है, पंचायती राज संरचना का मध्यवर्ती स्तर है। इसमें इसके अधिकार क्षेत्र के तहत ग्राम पंचायतों के सभी सरपंच, साथ ही इसके क्षेत्र में चुनावी प्रभागों या वार्डों से चुने गए सदस्य शामिल हैं। पंचायत समिति का राजनीतिक प्रमुख, ब्लॉक प्रमुख होता है। पंचायत समिति ग्राम पंचायतों की देख–रेख करती है और अपने क्षेत्र में विकासात्मक कार्यक्रमों के क्रियान्वयन का समन्वय करती है। यह अपने अधीन ग्राम पंचायतों द्वारा तैयार की गई विकासात्मक योजनाओं को समेकित करने और उन्हें जिला परिषद को प्रस्तुत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

11.6.3 जिला परिषद

जिला परिषद, जिला स्तर पर कार्य करती है, जो इसे पंचायती राज प्रणाली का सर्वोच्च निकाय बनाती है। इसमें पंचायत समिति के निर्वाचित सदस्य, विधान सभा के सदस्य (एमएलए) और उस जिले के संसद सदस्य (सांसद), और अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और महिलाओं के प्रतिनिधि शामिल होते हैं। जिला परिषद का राजनीतिक प्रमुख, अध्यक्ष होता है। जिला परिषद की प्राथमिक भूमिका अपने अधिकार क्षेत्र में पंचायत समितियों और ग्राम पंचायतों के कार्यों का समन्वय, समेकन और पर्यवेक्षण करना है। यह पूरे जिले के लिए विकासात्मक योजना तैयार करता है और जिला स्तर पर विभिन्न राज्य और केंद्र सरकार की योजनाओं को लागू करने के लिए जिम्मेदार है।

11.6.4 ग्राम सभा

पंचायती राज व्यवस्था के केंद्र में ग्राम सभा की अवधारणा है, जो सहभागी लोकतंत्र की आधारशिला है। यह एक गांव के सभी वयस्क सदस्यों या ग्राम पंचायत के अंतर्गत आने वाले गांवों के समूह की एक सभा है। यह वह स्थान है जहां ग्राम पंचायत के कार्यों की सभी योजनाएं लोगों के सामने रखी जाती हैं। ग्राम सभा के पास ग्राम पंचायत के बजट को मंजूरी देने, उसके प्रदर्शन की समीक्षा करने और विकासात्मक योजनाओं की पुष्टि करने की शक्ति है। इसके निर्णय ग्राम पंचायत पर बाध्यकारी होते हैं। ग्राम सभा ग्रामीणों को स्वयं चर्चा और निर्णय लेने के लिए एक मंच प्रदान करके शासन में लोकतांत्रिक भागीदारी और पारदर्शिता सुनिश्चित करती है।

संक्षेप में, पंचायती राज संस्थाओं की संरचना विकेन्द्रीकृत लोकतंत्र अर्थात लोगों के दरवाजे तक सत्ता पहुंचाने का लक्ष्य के सिद्धांतों को दर्शाती है। प्रत्येक स्तर के अलग–अलग कार्य हैं, लेकिन ग्रामीण विकास के साझा लक्ष्य की दिशा में सहयोगात्मक रूप से काम करते हैं। ग्राम सभा, अपने सहभागी दृष्टिकोण के साथ, लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का प्रतीक है।

11.7 पंचायती राज संस्थाएं और ग्रामीण विकास

पंचायती राज संस्थाएं भारत में ग्रामीण शासन की रीढ़ हैं, जो सरकारी अधिकारियों और ग्रामीण आबादी के बीच सेतु का काम करती हैं। भारत के ग्रामीण इलाकों में अपनी गहरी उपस्थिति के साथ, पंचायती राज संस्थाओं की देश के ग्रामीण विकास एजेंडे में महत्वपूर्ण भूमिका है। वे जमीनी स्तर पर विभिन्न सरकारी योजनाओं और विकास परियोजनाओं की योजना बनाने, कार्यान्वयन और निगरानी के लिए जिम्मेदार हैं।

11.7.1 ग्रामीण शासन में पंचायती राज संस्थाओं की भूमिका

ग्रामीण भारत में शासन परिदृश्य को आकार देने में पंचायती राज संस्थाओं की महत्वपूर्ण भूमिका है। अपनी त्रिस्तरीय संरचना – ग्राम पंचायत, पंचायत समिति और जिला परिषद के माध्यम से वे सरकार को लोगों के दरवाजे तक लाते हैं, जिससे ग्रामीण नागरिक सीधे निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में भाग लेने में सक्षम होते हैं। पंचायती राज संस्थाएं विभिन्न ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के कार्यान्वयन और उनकी प्रभावशीलता सुनिश्चित करने

के लिए जिम्मेदार हैं। उनके पास कर लगाने और एकत्र करने का अधिकार है और उन्हें उन मामलों पर निर्णय लेने का अधिकार दिया गया है जो सीधे ग्रामीण आजीविका और कल्याण को प्रभावित करते हैं। सामुदायिक भागीदारी को बढ़ावा देकर, वे सुनिश्चित करते हैं कि शासन स्थानीय आवश्यकताओं के प्रति उत्तरदायी, पारदर्शी और जवाबदेह है।

11.7.2 ग्रामीण विकास परियोजनाओं में भागीदारी

पंचायती राज संस्थाएं बुनियादी ढांचे, शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता और आजीविका सृजन सहित विभिन्न क्षेत्रों में फैली ग्रामीण विकास परियोजनाओं की एक विस्तृत श्रृंखला को लागू करने में सहायक हैं। वे अपने संबंधित क्षेत्रों की जरूरतों के अनुसार विकासात्मक परियोजनाओं की पहचान करने के लिए जिम्मेदार हैं। बुनियादी ढांचे के क्षेत्र में, पंचायती राज संस्थाएं ग्रामीण सड़कों, पुलों, सार्वजनिक भवनों, कुओं और अन्य सामुदायिक संपत्तियों के निर्माण और रखरखाव की देखरेख करते हैं। वे जल आपूर्ति और स्वच्छता सुविधाओं जैसी आवश्यक उपयोगिताओं का प्रावधान सुनिश्चित करते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में, पंचायती राज संस्थाएं प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालयों, वयस्क शिक्षा के संचालन का प्रबंधन करते हैं,और बच्चे की देखभाल करते हैं। उनके अधिकार क्षेत्र में, वे नामांकन सुनिश्चित करते हैं, शिक्षकों की उपस्थिति की निगरानी करते हैं और मध्याह्न भोजन योजना के कार्यान्वयन को सुविधाजनक बनाते हैं।

स्वास्थ्य क्षेत्र में, पंचायती राज संस्थाएं स्वास्थ्य एवं स्वच्छता अभियान,राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन जैसी स्वास्थ्य योजनाओं को लागू करती हैं। वे सार्वजनिक स्वास्थ्य और स्वच्छता को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, और उनके प्रयास महामारी सहित सार्वजनिक स्वास्थ्य संकटों के प्रबंधन में विशेष रूप से महत्वपूर्ण रहे हैं।

इसके अलावा, पंचायती राज संस्थाएं विभिन्न सामाजिक सुरक्षा योजनाओं और महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम (मनरेगा) जैसे रोजगार सृजन कार्यक्रमों के कार्यान्वयन के माध्यम से गरीबी उन्मूलन और रोजगार सृजन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

11.7.3 समावेशी विकास और भागीदारी के लिए एक मंच के रूप में पंचायती राज संस्थाएं

पंचायती राज संस्थाएं भागीदारी को बढ़ावा देकर समावेशी विकास के लिए एक मंच के रूप में कार्य करते हैं। पंचायती राज संस्थाओं में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और महिलाओं के लिए सीटों का आरक्षण, स्थानीय शासन में उनका प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करता है, जिससे अधिक न्यायसंगत और समावेशी विकास होता है। पंचायती राज संस्थाओं का समावेशी दृष्टिकोण केवल प्रतिनिधित्व तक सीमित नहीं है। इसका विस्तार यह सुनिश्चित करने पर भी है कि विभिन्न योजनाओं और कार्यक्रमों का लाभ समाज के सबसे वंचित वर्गों तक पहुंचे। वे विशिष्ट आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विकास पहलों को तैयार करके सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को दूर करने की दिशा में काम करते हैं। इसके अलावा, सार्वजनिक भागीदारी को बढ़ावा देकर, पंचायती राज संस्थाएं यह सुनिश्चित करती हैं कि विकास प्रक्रिया लोगों द्वारा और लोगों के लिए संचालित हो। ग्राम सभा की बैठकों जैसे तंत्रों के माध्यम से, वे आम नागरिकों को अपनी चिंताओं को व्यक्त करने, निर्वाचित प्रतिनिधियों से जवाबदेही की मांग करने और शासन की प्रक्रिया में सीधे भाग लेने के लिए एक मंच प्रदान करते हैं।

निष्कर्षतः, भारत में पंचायती राज संस्थाओं और ग्रामीण विकास के बीच संबंध गहरा और बहुआयामी है। पंचायती राज संस्थाएं केवल ग्रामीण विकास परियोजनाओं के कार्यान्वयन के लिए प्रशासनिक इकाइयां नहीं हैं, वे एक लोकतांत्रिक प्रणाली के स्तंभ हैं जिसका उद्देश्य ग्रामीण समुदायों को सशक्त बनाना, सहभागी शासन को बढ़ावा देना और समावेशी और सतत विकास को बढ़ावा देना है। भारत के ग्रामीण परिदृश्य को आकार देने में उनके महत्व को कम करके आंका नहीं जा सकता।

11.8 पंचायती राज संस्थाओं के माध्यम से समाज के वंचित समूह व महिलाओं का सशक्तिकरण

पंचायती राज संस्था महिलाओं के सशक्तिकरण के लिए महत्वपूर्ण मंच के रूप में उभरी हैं। वे महिलाओं की भागीदारी, प्रतिनिधित्व और निर्णय लेने की क्षमता को बढ़ावा देने में सहायक हैं। इस प्रकार सामाजिक समानता और समावेशी विकास को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

11.8.1 पंचायती राज संस्था के माध्यम से महिलाओं का सशक्तिकरणः

73वें संशोधन अधिनियम, 1992 ने पंचायती राज संस्था में महिलाओं के लिए कुल सीटों में से एक तिहाई आरक्षित करना अनिवार्य बना दिया। यह परिवर्तनकारी कदम केवल राजनीतिक प्रतिनिधित्व हासिल करने के बारे में नहीं था। यह जमीनी स्तर पर महिलाओं को सशक्त बनाने, उन्हें उन मुद्दों में निर्णय लेने की प्रक्रिया का हिस्सा बनाने के बारे में था जो सीधे उन पर और उनके समुदायों पर प्रभाव डालते हैं। पंचायती राज संस्था में सक्रिय भागीदारी के माध्यम से, महिलाओं ने आत्मविश्वास हासिल किया है और पारंपरिक रूढ़ियों को तोड़ रही हैं। वे अब अपने विचारों को व्यक्त कर रही हैं, कल्याणकारी योजनाओं को लागू कर रही हैं, सामाजिक बुराइयों से लड़ रही हैं और अपने समुदायों की बेहतरी की दिशा में काम कर रही हैं।पंचायती राज संस्था के माध्यम से महिलाओं का सशक्तिकरण का एक उल्लेखनीय उदाहरण केरल सरकार की कुदुम्बश्री परियोजना है, जिसने स्थानीय शासन में महिलाओं की भागीदारी को बदल दिया है।

11.8.2 पंचायती राज संस्था के माध्यम से वंचित समूह का सशक्तिकरणः

इसी तरह, पंचायती राज संस्था के माध्यम से अनुसूचित जाति (एससी) और अनुसूचित जनजाति (एसटी) जैसे वंचित समूहों का प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करके उन्हें सशक्त बनाया गया है। इसने इन समुदायों को अपने मुद्दों को उठाने के लिए एक सशक्त मंच प्रदान किया है, जिससे यह सुनिश्चित हुआ है कि विकास प्रक्रिया में उनकी जरूरतों और अधिकारों की अनदेखी नहीं की जाएगी।पंचायती राज संस्था के द्वारा केन्द्रीकरण ऐतिहासिक अन्यायों और सामाजिक–आर्थिक असमानताओं को दूर करने में मदद मिली है। हालांकि,पंचायती राज संस्था के माध्यम से सशक्तिकरण की यह यात्रा चुनौतियों से रहित नहीं है।

11.8.3 चुनौतियां और प्रगतिः

आरक्षण के कानूनी प्रावधानों के बावजूद महिलाओं और वंचित समूह की वास्तविक भागीदारी और प्रभाव पंचायती राज संस्था में अक्सर सीमित रहते हैं। सांस्कृतिक मानदंड, पितृसत्ता, जाति पदानुक्रम और शिक्षा की कमी अक्सर उनकी सक्रिय भागीदारी में बाधा बनती है। कई मामलों में, महिला प्रतिनिधि अपने पुरुष रिश्तेदारों के लिए प्रतिनिधि बन कर रह जाती हैं। इसी प्रकार, से प्रतिनिधि वंचित समूहों को निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में अक्सर भेदभाव और बहिष्कार का सामना करना पड़ता है। हालांकि, पिछले कुछ वर्षों में, महिलाओं और वंचित समूहों के लोग अपने समाज में प्रभावी ढंग से परिवर्तन का नेतृत्व कर रहे हैं। यह उन महिलाओं और वंचित समूहों के नेतृत्व वाली पंचायतों के मामले के अध्ययन से स्पष्ट है जिन्होंने जल संरक्षण, शिक्षा, स्वच्छता और सामाजिक बुराइयों के उन्मूलन जैसे क्षेत्रों में उत्कृष्ट प्रदर्शन किया है।

निष्कर्षतः, यद्यपि चुनौतियां बनी हुई हैं, फिर भी पंचायती राज संस्था ने महिलाओं और वंचित समूहों की भागीदारी के लिए जमीनी स्तर पर एक लोकतांत्रिक स्थान बनाया है। उनका सशक्तिकरण एक धीमी और स्थिर प्रक्रिया रही है, जिसके लिए सामाजिक–सांस्कृतिक बाधाओं और क्षमता बाधाओं को दूर करने के लिए निरंतर प्रयासों की आवश्यकता है। इन समूहों की क्षमता को मजबूत करने और उनकी सक्रिय भागीदारी के लिए एक सक्षम वातावरण बनाने से पंचायती राज संस्था को सामाजिक समावेशन और ग्रामीण विकास के लिए प्रभावी उपकरण के रूप में लाभ मिलेगा।

11.9 सफल पंचायती राज पहलों का केस अध्ययन

ग्रामीण विकास में योगदान देने वाली पंचायती राज संस्थाओं के सफल उदाहरण पूरे भारत में व्यापक हैं। निम्नलिखित केस अध्ययन सशक्त और प्रभावी ढंग से संलग्न होने पर पंचायती राज संस्थाओं की परिवर्तनकारी क्षमता को उजागर करते हैं।

11.9.1. महाराष्ट्र के सूखाग्रस्त गांव हिवरे बाजार का कायापलटः

महाराष्ट्र के अहमदनगर जिले का एक सूखाग्रस्त गांव हिवरे बाजार इस बात का प्रमाण देता है कि स्थानीय प्रशासन कितना प्रभावी है और ग्रामीण परिदृश्य को बदल सकता है। जब 1980 और 1990 के दशक में गांव सूखे की समस्या से ग्रस्त था, तो पलायन बड़े पैमाने पर हुआ था, और गांव की अर्थव्यवस्था जर्जर हो गई थी।

एक सक्रिय सरपंच, पोपटराव पवार के नेतृत्व में, ग्रामीणों ने आदर्श गांव योजना (आदर्श गांव योजना) के तहत वाटरशेड विकास और जल संरक्षण कार्यक्रमों को सफलतापूर्वक क्रियान्वित किया। ग्रामीणों को सक्रिय रूप से भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया गया, और पानी के दुरुपयोग और खुली चराई पर गंभीर प्रतिबंध लगाए

गए। जिसका परिणाम एक उल्लेखनीय बदलाव था। जलस्तर में वृद्धि हुई, फसल की पैदावार में सुधार हुआ और पलायन में कमी आई। आज हिवरे बाजार को करोड़पतियों का गांव कहा जाता है। सफलता की यह कहानी विकासात्मक चुनौतियों से निपटने में स्थानीय शासन और सामुदायिक भागीदारी की शक्ति को रेखांकित करती है।

11.9.2. पुंसरी, गुजरातः ग्रामीण आधुनिकीकरण का एक मॉडल

गुजरात के साबरकांठा जिले का एक गांव पुंसरी अपनी गतिशील पंचायत की बदौलत ग्रामीण आधुनिकीकरण का एक मॉडल बनकर उभरा है। गांव में कई विकास परियोजनाएं देखी गई हैं, जिनमें उचित सड़कें, स्वच्छता, चौबीस घंटे बिजली, स्वच्छ पेयजल आपूर्ति, वाईफाई कनेक्टिविटी, वातानुकूलित स्कूल और सुरक्षा के लिए सीसीटीवी कैमरे शामिल हैं। पंचायत ने विभिन्न सरकारी योजनाओं के तहत प्राप्त धन का कुशलतापूर्वक प्रबंधन किया और उनसे प्राप्त करों से राजस्व में वृद्धि किया। इसने इन पहलों की योजना बनाने और कार्यान्वयन में सक्रिय सामुदायिक भागीदारी भी सुनिश्चित की। पंचायत ने ग्रामीण विकास के लिए स्पष्ट दृष्टिकोण, कुशल संसाधन प्रबंधन और प्रौद्योगिकी के नवीन उपयोग द्वारा यह सफलता प्राप्त की।

11.9.3. धरनई, बिहारः भारत का पहला सौर ऊर्जा संचालित गांव

बिहार में, धरनई ग्राम पंचायत ने भारत का पहला पूर्णतः सौर ऊर्जा संचालित गांव बनकर एक अनोखी उपलब्धि हासिल की। तीन दशकों तक, गांव बिना बिजली के रहा, जिससे इसके निवासियों को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। पंचायत ने गैर–सरकारी संगठन ग्रीनपीस के सहयोग से 2014 में एक सौर माइक्रो–ग्रिड स्थापित किया, जिससे ग्रामीणों को चौबीस घंटे बिजली उपलब्ध कराई गई। परियोजना को समुदाय की सक्रिय भागीदारी के साथ कार्यान्वित किया गया, जिससे उनकी स्वामित्व और जिम्मेदारी की भावना में वृद्धि हुई। धरनई की सफलता इस बात का प्रेरक उदाहरण है कि कैसे पंचायती राज संस्थाएं ग्रामीण विकास के लिए नवीकरणीय ऊर्जा समाधानों का लाभ उठा सकते हैं, जिससे एक स्थायी भविष्य की शुरुआत हो सकती है।

11.9.4. केरल का कुदुम्बश्री कार्यक्रमः पंचायतों के माध्यम से महिलाओं को सशक्त बनाना

केरल सरकार द्वारा 1998 में शुरू किया गया गरीबी उन्मूलन और महिला सशक्तिकरण कार्यक्रम कुदुम्बश्री, इस बात का उदाहरण है कि कैसे पंचायती राज संस्थाएं सामाजिक सशक्तिकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। राज्य गरीबी उन्मूलन मिशन (एसपीईएम) के माध्यम से कार्यान्वित, यह कार्यक्रम पंचायती राज संस्थाओं के साथ मिलकर काम करता है। कार्यक्रम की ताकत महिलाओं के स्वयं सहायता समूहों (एसएचजी) के नेटवर्क में निहित है, जो वार्ड स्तर पर क्षेत्र विकास समितियों (एडीएस) में और आगे स्थानीय सरकार स्तर पर सामुदायिक विकास समितियों (सीडीएस) में संबद्ध हैं। ये संरचनाएं, जो पंचायती राज संस्था प्रणाली के साथ संरेखित हैं, महिलाओं को स्थानीय शासन में सीधे भाग लेने की अनुमति देती हैं।

कुदुम्बश्री कार्यक्रम महिलाओं के आर्थिक सशक्तिकरण और सामाजिक स्थिति पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालने में सफल रहा है। इसने अपने विभिन्न सूक्ष्म उद्यमों के माध्यम से स्थानीय अर्थव्यवस्थाओं को भी बढ़ावा दिया ह और इस प्रकार पंचायती राज संस्थानों के माध्यम से समावेशी और सतत विकास का एक मॉडल पेश किया है।

11.10. पंचायती राज संस्थाओं के समक्ष चुनौतियां

भारत में ग्रामीण प्रशासन और विकास में पंचायती राज संस्थाओं की महत्वपूर्ण भूमिका के बावजूद, उन्हें कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है जो उनके कामकाज और प्रभावकारिता को प्रभावित करती हैं। प्रमुख मुद्दों में भ्रष्टाचार, जवाबदेही की कमी, अपर्याप्त धन, क्षमता की कमी और नौकरशाही हस्तक्षेप शामिल हैं।

11.10.1 भ्रष्टाचारः

भ्रष्टाचार पंचायती राज संस्थाओं के कामकाज में एक महत्वपूर्ण बाधा है। धन का दुरुपयोग, भाई–भतीजावाद, और पक्षपात आम शिकायतें हैं.। यह भ्रष्टाचार न केवल इन संस्थानों में जनता के विश्वास को कम करता है बल्कि विकासात्मक उद्देश्यों को पूरा करने की उनकी क्षमता को भी कमजोर करता है। लोक कल्याण के लिए लक्षित संसाधन अक्सर इच्छित लाभार्थियों तक नहीं पहुंच पाते हैं, जिससे सरकारी योजनाओं का खराब कार्यान्वयन और घटिया सार्वजनिक सेवाएं प्राप्त होती हैं।

11.10.2 उत्तरदायित्व की कमीः

पंचायती राज संस्थाओं में अंतर्निहित लोकतांत्रिक जवाबदेही के सिद्धांत के बावजूद, वास्तविक जवाबदेही तंत्र अक्सर कमजोर होते हैं। पंचायत गतिविधियों की सार्वजनिक जांच सुनिश्चित करने के उद्देश्य से ग्राम सभा

की बैठक कई स्थानों पर नियमित रूप से आयोजित नहीं की जाती हैं या उनमें सार्थक भागीदारी का अभाव होता है। परिणामस्वरूप, निर्णय लेने की प्रक्रिया अक्सर अपारदर्शी होती है, और पंचायत सदस्यों को उनके प्रदर्शन या शक्ति के किसी भी दुरुपयोग के लिए जवाबदेह नहीं ठहराया जा सकता है।

11.10.3 अपर्याप्त निधिः

पंचायती राज संस्थाओं का वित्तीय स्वास्थ्य एक बड़ी चिंता का विषय है। हालांकि उन्हें पर्याप्त जिम्मेदारी सौंपी गई हैं, लेकिन उन्हें प्रभावी ढंग से पूरा करने के लिए उनके पास अक्सर आवश्यक धन की कमी होती है। पंचायती राज संस्थाएं राज्य या केंद्र सरकार से प्राप्त धन पर बहुत अधिक निर्भर करती हैं, जो अक्सर उनकी जरूरतों के लिए अपर्याप्त होते हैं। इसके अलावा, राजस्व के उनके अपने स्रोत, कर और शुल्क अपेक्षाकृत अपर्याप्त होते हैं। पंचायती राज संस्थाओं के कार्यों और उनके वित्तीय संसाधनों के बीच बेमेल विकास परियोजनाओं को शुरू करने और सार्वजनिक सेवाओं को प्रभावी ढंग से वितरित करने की उनकी क्षमता में बाधा डालता है।

11.10.4 क्षमता की कमीः

पंचायती राज संस्थाओं को गंभीर क्षमता संबंधी बाधाओं का भी सामना करना पड़ता है। कई पंचायत सदस्यों, विशेषकर ग्राम पंचायत स्तर पर, के पास अपनी भूमिकाओं को प्रभावी ढंग से निष्पादित करने के लिए आवश्यक कौशल और ज्ञान का अभाव है। वे अक्सर जटिल प्रशासनिक प्रक्रियाओं से अपरिचित होते हैं और विकास परियोजनाओं की योजना बनाने और उन्हें लागू करने के लिए आवश्यक तकनीकी विशेषज्ञता का अभाव होता है। पंचायत सदस्यों के लिए प्रशिक्षण और क्षमता–निर्माण कार्यक्रम राज्यों में अपर्याप्त और असमान रूप से वितरित हैं।

11.10.5 नौकरशाही हस्तक्षेपः

पंचायती राज संस्थाओं को शक्तियों के हस्तांतरण के लिए संवैधानिक जनादेश के बावजूद, व्यवहार में, नौकरशाही मशीनरी का अक्सर काफी हस्तक्षेप होता है। निर्वाचित पंचायत प्रतिनिधियों और नियुक्त अधिकारियों के बीच भूमिकाओं की ओवरलैपिंग से भ्रम और संघर्ष होता है, जिससे पंचायती राज संस्थाओं की स्वायत्तता और प्रभावशीलता कम हो जाती है। कई राज्यों में, स्वास्थ्य, शिक्षा और सामाजिक कल्याण से संबंधित प्रमुख कार्य अभी भी पंचायती राज संस्थाओं को सौंपे जाने के बजाय संबंधित विभागों द्वारा नियंत्रित किए जाते हैं।

इन चुनौतियों का पंचायती राज संस्थाओं और ग्रामीण विकास के कामकाज पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। भ्रष्टाचार और जवाबदेही की कमी पंचायती राज संस्थाओं में जनता के विश्वास को कमजोर करती है और इसके परिणामस्वरूप खराब सेवा वितरण होता है। अपर्याप्त धन और क्षमता की कमी पंचायती राज संस्थाओं की विकास परियोजनाओं को पूरा करने और आवश्यक सार्वजनिक सेवाएं प्रदान करने की क्षमता को सीमित करती है। नौकरशाही हस्तक्षेप पंचायती राज संस्थाओं की स्वायत्तता को कमजोर करता है और स्थानीय जरूरतों पर प्रभावी ढंग से प्रतिक्रिया करने की उनकी क्षमता को बाधित करता है।

इन चुनौतियों से निपटने के लिए व्यापक सुधारों की आवश्यकता है, जिसमें पारदर्शिता और जवाबदेही बढ़ाने, वित्तीय संसाधनों को मजबूत करने, क्षमता–निर्माण प्रयासों में सुधार और पंचायती राज संस्थाओं को शक्तियों का वास्तविक हस्तांतरण सुनिश्चित करने के उपाय शामिल हैं। भारत में समावेशी और टिकाऊ ग्रामीण विकास हासिल करने के लिए पंचायती राज संस्थाओं को मजबूत करना महत्वपूर्ण है।

11.11 पंचायती राज संस्थाओं को मजबूत करने के लिए आवश्यक संभावित अनुशंसाएंः

पंचायती राज संस्थाओं की कार्यप्रणाली को मजबूत करने के लिए आवश्यक संभावित अनुशंसाएं निम्नवत हैः

1. **राजकोषीय स्वायत्तताः** पंचायती राज संस्थाओं की वित्तीय स्वायत्तता बढ़ाने की आवश्यकता है और आत्मनिर्भरता को सक्षम करने के लिए उन्हें अपने अधिकार क्षेत्र के भीतर उपयुक्त कर लगाने और एकत्र करने की अनुमति दी जानी चाहिए।
2. **क्षमता निर्माणः** पंचायत सदस्यों की क्षमता निर्माण, उन्हें कुशल प्रशासन के लिए आवश्यक कौशल और ज्ञान से युक्त करने के लिए निरंतर प्रशिक्षण कार्यक्रम लागू करने की आवश्यकता है।
3. **उन्नत जवाबदेही तंत्रः** पारदर्शिता और जवाबदेही बढ़ाने के लिए सिस्टम स्थापित किए जाने चाहिए। नियमित सामाजिक लेखा परीक्षा और प्रभावी शिकायत निवारण प्रणालियां इसे सुनिश्चित कर सकती हैं।

4. **प्रभावी विकेन्द्रीकरणः** 73वें संशोधन की भावना के अनुसार पंचायती राज संस्थाओं को शक्तियों, कार्यों और वित्त का वास्तविक हस्तांतरण महत्वपूर्ण है।

11.12. सारांश

पंचायती राज संस्थाएं भारत के ग्रामीण शासन की रीढ़ हैं, जो जमीनी स्तर पर लोकतंत्र और समावेशी विकास को सुविधाजनक बनाने में अभिन्न भूमिका निभाती हैं। उनके ऐतिहासिक विकास और त्रिस्तरीय संरचना से लेकर उनकी सफलता की कहानियों और चुनौतियों तक, ग्रामीण भारत में पंचायती राज संस्थाओं का महत्व अकाट्य है। बाधाओं के बावजूद,पंचायती राज संस्थाओं ने विशेष रूप से महिलाओं और वंचित समूहों के सशक्तिकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। हालांकि, पंचायती राज संस्थाओं को अपनी पूरी क्षमता हासिल करने के लिए, भ्रष्टाचार, जवाबदेही की कमी, पर्याप्त धन और क्षमता की कमी और नौकरशाही हस्तक्षेप के मुद्दों को संबोधित करने के लिए पर्याप्त सुधारों की आवश्यकता है। जैसे–जैसे भारत सतत विकास लक्ष्यों को प्राप्त करने की दिशा में आगे बढ़ेगा, पंचायती राज संस्थाओं की भूमिका सर्वोपरि होगी। भारत में ग्रामीण विकास का भविष्य वास्तव में इसकी पंचायती राज प्रणाली की मजबूती पर निर्भर है।

11.13 अभ्यास के प्रश्नः

1. पंचायती राज संस्थाएं क्या हैं, और वे भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था और ग्रामीण विकास में क्या भूमिका निभाती हैं?
2. बलवंत राय मेहता समिति और 73वें संवैधानिक संशोधन जैसे प्रमुख मील के पत्थर पर प्रकाश डालते हुए भारत में पंचायती राज संस्थाओं के विकास का वर्णन करें।
3. भारत में पंचायती राज संस्थाओं की संरचना, जिसमें त्रिस्तरीय प्रणाली और प्रत्येक स्तर के कार्य शामिल हैं, की व्याख्या करें।
4. पंचायती राज संस्थाएं ग्रामीण विकास में किस प्रकार योगदान देती हैं? पंचायती राज संस्थाओं के नेतृत्व में सफल ग्रामीण विकास पहलों के उदाहरण प्रस्तुत करें।
5. पंचायती राज संस्थाओं को अपने कामकाज में किन चुनौतियों का सामना करना पड़ता है और ये चुनौतियां ग्रामीण विकास को कैसे प्रभावित करती हैं?
6. पंचायती राज संस्थाओं ने महिलाओं वंचित समूहों के सशक्तिकरण में किस प्रकार योगदान दिया है? इस क्षेत्र में किसी भी बाधा और प्रगति पर चर्चा करें।
7. पंचायती राज संस्थाओं को मजबूत करने के लिए कौन से प्रमुख सुधार किए गए हैं और भविष्य में किन अतिरिक्त सुधारों की आवश्यकता हो सकती है?
8. सतत विकास लक्ष्यों को प्राप्त करने में पंचायती राज संस्थाओं की संभावित भूमिका पर चर्चा करें।

11.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. प्रा0 एस0 आर0 महेश्वरी– भारत में स्थानीय स्वशासन
2. भारत के संविधान की सांतवीं अनुसूची की दूसरी सूची की चतुर्थ प्रविष्टि
3. इन्साक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटेनिका
4. प्रो0 सी0 पी0 बर्थवाल – स्थानीय स्वशासन
5. कुरूक्षेत्र जनवरी 2014
6. डॉ0 बी0 एल0 फाड़िया– भारत में लोक प्रशासन
7. डी0डी0 बसु– भारत का संविधान
8. डॉ0 सुरेन्द्र कटारिया– भारत में स्थानीय स्वशासन
9. लोक प्रशासन – एम0 लक्ष्मीकांत

इकाई–12 नीति निर्माण दृष्टिकोण एवं नीति विश्लेषण के नमूने

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 परिचय

12.2 नीति विश्लेषण के दृष्टिकोण

12.2.1 ऐतिहासिक दृष्टिकोण

12.2.2 कार्यमूलक दृष्टिकोण

12.2.3 जांच मूलक दृष्टिकोण

12.2.4 नवीनता सम्बन्धी दृष्टिकोण

12.3 नीति–निर्माण के नमूने / प्रतिमान

12.3.1 समूह प्रतिमान

12.3.2 संस्थानिक प्रतिमान

12.3.3 अभिजात्य वर्ग प्रतिमान

12.3.4 प्रक्रिया प्रतिमान

12.3.5 वृद्धिपरक प्रतिमान

12.3.6 तार्किक प्रतिमान

12.3.7 क्रीड़ा प्रतिमान

12.3.8 मिश्रित अन्वीक्षण प्रतिमान

12.4 सारांश

12.5 अभ्यास के प्रश्न

12.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

12.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप निम्नलिखित तथ्यों को समझ सकेंगेः

- नीति–विश्लेषण के अर्थ तथा महत्त्व को समझ सकेंगें।
- नीति–विश्लेषण के विभिन्न दृष्टिकोणों को समझ सकेंगें।
- नीति निर्माण के विभिन्न / नमूनों प्रतिमानों की व्याख्या करने में सक्षम होंगे।

12.1 परिचय

नीति–निर्माण एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है जिसमें, सरकार, संगठन या उद्यमिता से संबंधित मुद्दों के समाधान के लिए मार्गदर्शन तैयार किया जाता है। इस प्रक्रिया में नीति–निर्माताओं को विभिन्न दृष्टिकोणों में मामूली और महत्वपूर्ण जानकारी की आवश्यकता होती है। इस प्रकार नीति विश्लेषण उन दृष्टिकोणों को आवश्यक जानकारी के साथ आलेखित करता है जो नीति–निर्माण की प्रक्रिया के दौरान उपयोगी हो सके।

नीति विश्लेषण को समग्र रूप से समझने के लिए नीति विश्लेषण के निश्चयों के आरम्भ बिन्दु नीति विश्लेषण के विभिन्न दृष्टिकोणों तथा नीति–निर्माण के विभिन्न नमूनों पर भी चर्चा आवश्यक है। नीति–निर्माण दृ ष्टिकोण, किसी विवरण अथवा विषय को समझने का साधन है। यह एक विद्वतापूर्ण रणनीति है अथवा विश्लेषण

का साधन है जो कि राजनैतिक परिघटना को अध्ययन तथा समझ के लिए बौद्धिक औजारों का एक विन्यास प्रदान करता है। कोई दृष्टिकोण राजनैतिक जांच के बेहतरीन रूप में मूल्यांकन किए जा रहे आंकड़े को एकत्रित करके व्यवस्थित करने तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों का अर्थ खोज निकालने का एक तीव्र साधन प्रदान कर सकता है। इसका मुख्य उद्देश्य विभिन्न प्रकार के विस्तृत राजनैतिक परिघटनाओं को अवधारणाओं के एक सीमित विन्यास के तहत जोड़कर एक क्रम में लगाना है। नीति–विश्लेषण सम्बन्धित नमूने, कुछ अधिक व्यवस्थित संक्षिप्तकरण है जो कि गणितीय अथवा ज्यामितीय रूप में भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं। सामान्यतः नमूना एक कामचलाऊ बौद्धिक रचना के रूप में जाना जाता है जिसके द्वारा सामाजिक और भौतिक परिस्थितियों, वास्तविक अथवा काल्पनिक का प्रतिनिधित्व किया जा सकता है। अधिकांश नमूने बौद्धिक रचनायें होती हैं। नमूने में अलग तरह से श्रेणियां, अनुमान तथा शर्तें शामिल रहती हैं जिनका उपयोग आंकड़ों की छंटनी, उनका विश्लेषण तथा सम्बन्ध निश्चित करने के लिए किया जाता है जिससे नमूना बनाने वाले को वर्णन करने अथवा अनुमान लगाने में सहायता मिलती है। नीति विश्लेषण को समग्र रूप से समझने के लिए, नीति विश्लेषण के निश्चयों के आरंभ बिन्दु, नीति विश्लेषण के विभिन्न दृष्टिकोणों, तथा नीति निर्माण के विभिन्न नमूनों पर इस ईकाई में चर्चा की गयी है।

12.2 नीति विश्लेषण के दृष्टिकोण

नीतियों को बेहतर एवं व्यवस्थित तरीके से समझने व विश्लेषण करने हेतु दृष्टिकोण की महत्वपूर्ण भूमिका है। ये दृष्टिकोण विद्वत्तापूर्ण रणनीति या विश्लेषण के ऐसे साधन हैं जो लोक नीति तथा इससे सम्बद्ध राजनीतिक घटनाओं के अध्ययन एवं समझ के लिए बौद्धिक उपकरणों का कार्य करते है। **मार्टिन रीन** ने अपनी पुस्तक "Social ScienceAnd Public Policy' में नीति विश्लेषण सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोणों का विस्तार से वर्णन किया है।

12.2.1 ऐतिहासिक दृष्टिकोणः

यह दृष्टिकोण भूतकाल तथा उसके वर्तमान पर पड़ रहे प्रभाव की विवेचना करता है। किसी भी देश की शासन–प्रशासन व्यवस्था ऐतिहासिक निरन्तरता का परिणाम होती है जिसमें समय के साथ परिवर्तन आते रहते हैं। समय के साथ बहुत सारी समस्याएं परस्पर उलझ जाती हैं। यही कारण है कि नीतिगत मुद्दों, प्रश्नों या समस्याओं के बारे में विस्तृत जानकारी, वैज्ञानिक अर्थों में संचित नहीं हो पाती है। समय के साथ कुछ बातें तेजी से तो कुछ धीरे–धीरे परिवर्तित हो जाती हैं। कोई भी लोक नीति न तो समाज से पृथक हो सकती है, और न ही ऐसे में सफल हो सकती है। किसी भी संभावित लोक नीति के निर्माण, क्रियान्वयन तथा उसकी सफलता के संभावित अवसरों को जानने हेतु उसे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित करना आवश्यक है। उदाहरणस्वरूप भारत में औद्योगिक नीति बनाते समय सन् 1948, 1956, तथा 1991 की नीतियों का सन्दर्भ अवश्य विचारार्थ आयेगा इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टिकोण भूतकाल में देखने तथा उससे कुछ सीखने एवं निष्कर्ष निकालने का अवसर प्रदान करता है। और किसी नीति विशेष के संभावित प्रभाव एवं परिणामों का स्पष्ट तौर पर पता लगाने के लिए नीति की ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में विश्लेषण करने की जरूरत होती है।

12.2.2 कार्यमूलक दृष्टिकोणः

लोक नीति विश्लेषण का यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि लोकनीति, कानून या कार्यक्रम इत्यादि जो कि राजनीतिक कार्यपालिका या विधायिका के संरक्षण में निर्मित होते हैं, उनमें कई प्रकार की बाध्यताओं एवं विवशताओं के चलते बहुत सारी कमियां, उलझने तथा विसंगतियां रह जाती हैं। इन समस्याओं से मुक्ति पाने का कार्य लोकनीति के क्रियान्वयन के समय नौकरशाही एवं अन्य तंत्रों द्वारा किया जाता है। अतः लोकनीति का अध्ययन करते समय इसके क्रियान्वयन पक्ष का भी विश्लेषण किया जाना चाहिए। वैसे भी लोकनीति को उसके उद्देश्यों, वक्तव्यों एवं अन्य पक्षों के बजाय उसके दैनन्दिन क्रियान्वयन पक्ष को जानकर अधिक बेहतर ढंग से समझा जा सकता है क्योंकि नीति का सैद्धान्तिक स्वरूप उसके व्यवहारिक स्वरूप से भिन्न होना अत्यन्त स्वाभाविक है।

12.2.3 जांचमूलक–स्थानापन्न दृष्टिकोण

यह दृष्टिकोण मुख्यतः लोक नीतियों के लक्ष्यों, उद्देश्यों तथा उनके परिणामों की जांच करने तथा उसमें आवश्यकतानुसार सुधार करते हुए नीति स्थापन्न करने पर बल देता है। लोक नीतियों का मुख्य उद्देश्य मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति तथा समस्याओं से मुक्ति प्रदान करना होता है। ऐसी परिस्थिति में लोकनीति में बहुत सारे परस्पर विरोधी एवं अस्पष्ट उद्देश्य समाहित हो जाते हैं। राजनीतिक मान्यताएं, दबाव एवं हित समूह तथा दूसरे कारक जैसे– क्रियान्वयनकारी संस्थाएं इत्यादि लोक नीति के उद्देश्यों को जटिल बना देते हैं अतः हर बार नयी

या संशोधित नीति, पूर्व की नीति का स्थापन्न ही होती है। इसलिए नीति विश्लेषकों को किन्हीं उद्देश्यों को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं करना चाहिए, बल्कि इसके निवेश (inputs) निर्णयों तथा परिणामों के प्रकाश में नीति उद्देश्यों की पूर्ण छानबीन करनी चाहिए।

12.2.4 नवीनता सम्बन्धी दृष्टिकोणः

यह दृष्टिकोण परम्परागत या रुढ़िवादी तरीके के स्थान पर नवीनता लाने का समर्थन करता है यह नवीनता नीति निर्माण तथा विश्लेषण, दोनों स्तरों पर दिखायी देनी चाहिए। नवीनता सम्बन्धी दृष्टिकोण यह मानता है कि नीति को कार्यों, क्षेत्रों, स्थानों तथा अन्य परिवर्तनों को ध्यान में रखकर विश्लेषित किया जाना चाहिए। राजनीतिक, प्रशासनिक, आर्थिक तथा सामाजिक समस्याएं और परिवर्तित हो रही परिस्थितियां लोक नीतियों के उद्देश्यों एवं इनके विकास को प्रभावित करती हैं अतः नीति के समस्त पक्षों को नवीन दृष्टिकोण से देखना अति आवश्यक है। सामान्यतः कोई भी लोकनीति बहुत सारे विरोधाभासों एवं बाध्यताओं को कम करने तथा विरोधी हितों एवं उद्देश्यों के मध्य एक समझौता होती है और राजनीतिक व्यवस्था इसे स्वीकार्यता प्रदान करती है। ऐसे में यह भी स्वाभाविक है कि लोक नीतियों को परम्परागत एवं स्थापित तरीके के अनुसार ही निर्मित एवं क्रियान्वित किया जाता है। साथ ही इन नीतियों का विश्लेषण भी परम्परागत ढंग से किया जाता है। यह उपागम इन तरीकों को नकारता है तथा नए परिवेश में नयी पद्धति पर बल देता है।

12.3 नीति–निर्माण के नमूने/प्रतिमान

नीति–निर्माण प्रक्रिया को बेहतर ढंग से समझने तथा उसकी व्याख्या करने के लिए नीति विद्वानों द्वारा अनेक नमूनों एवं सिद्धान्तों को विकसित किया गया है। ये नमूने स्पष्टीकरण की ऐसी युक्तियां हैं जो नीति–निर्माण प्रक्रिया की वास्तविकताओं का प्रतिनिधित्व करना चाहती हैं। नीति–निर्माण की समस्त जटिलताओं को ध्यान में रखते हुए यह कहना अधिक उचित होगा कि इसे समझने के लिए विभिन्न प्रकार के नमूनों की आवश्यकता है। नीति विद्वानों ने ऐसे सिद्धान्तों तथा नमूनों का निर्माण किया है जो नीति–निर्माण प्रक्रिया को समझने तथा उसकी व्याख्या करने में उनकी सहायता करते हैं। थॉमस आर. डाई (Thomas R.Dye) ने इस संदर्भ में एक अच्छा वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। इसका वर्णन निम्न शीर्षकों के अंतर्गत किया जा सकता है–

12.3.1 समूह प्रतिमान

समूह प्रतिमान मूलतः इस मान्यता पर आधारित है कि लोक नीतियां समूहों के संघर्ष का परिणाम हैं। समान लक्ष्यों, विचारों तथा साझे सम्बन्धों से पहचाने जाने वाली एकजुटता ही समूह है। समाज में बहुत सारे समूह औपचारिक या अनौपचारिक रूप से कार्य करते हैं जिन्हें हित समूह, दबाव समूह या राजनीतिक दल इत्यादि कहा जाता है। समूह तथा सरकार तथा विभिन्न समूहों के मध्य संघर्ष सदैव चलता रहता है। यह प्रतिमान यह मानकर चलता है कि शासन तंत्र एक ऐसी व्यवस्था है जो बहुत सारी शक्तियों एवं दबावों से घिरी है तथा प्रत्येक शक्ति अपनी इच्छानुरूप लोकनीति चाहती है। जिस समय एक शक्ति शिथिल पड़ती है तो दूसरी शक्ति हावी हो जाती है। ऐसे में हावी होने वाली शक्ति के अनुकूल नीति निर्मित हो जाती है। नीति निर्धारकों को समूह शक्तियों से निरन्तर मोल–भाव, विचार–विमर्श, सौदेबाजी तथा समझौते करने पड़ते हैं, यह प्रतिमान मुख्यतः विधायिका द्वारा समूह संघर्ष के पश्चात जारी लोक नीतियों के सन्दर्भ में व्याख्या करता है। नौकरशाही तथा कार्यपालिका इसके केन्द्रीय चिन्तन का हिस्सा नहीं हैं। यद्यपि यह प्रतिमान स्वीकारता है कि चाहे नौकरशाही तटस्थ हो किन्तु वह समूह की शक्ति से प्रभावित होता है। किसी समय विशेष पर किसी प्रभावशाली समूह के हित में जो होता है, वही देश के हित में मानना पड़ जाता है।

दूसरे शब्दों में समूह प्रतिमान यह मानता है कि सरकार में नीतियों का निर्माण समूहों के प्रभावों का परिणाम होता है। जिस हित–समूह का प्रभाव नीति–निर्माताओं पर अधिक पड़ता है उसके पक्ष में लोकनीति झुकी होती है जबकि जिस समूह का प्रभाव कम होता है उस समूह के पक्ष में लोकनीति का झुकाव कम होता है। अतः लोकनीति को प्रभावित करने हेतु विभिन्न समूह आपस में संघर्ष करते हैं जो समूह अधिक संगठित और प्रभावशाली होता है वह अधिक लाभ में होता है तथा नीति को अपने पक्ष में करने में सफल होता है।

12.3.2 संस्थागत प्रतिमान

यह लोक नीति–निर्माण का परम्परागत प्रतिमान है। इस प्रतिमान के अनुसार लोक नीतियां संस्थाओं के माध्यम से, निर्धारित एवं लागू की जाती हैं अर्थात कोई भी नीति तब तक लोकनीति नहीं कहलाती है जब तक उसके निर्माण तथा क्रियान्वयन में सरकारी संस्थाएं संलग्न नहीं होती हैं। वस्तुतः ऐसी नीतियां संविधान, राज्य द्वारा निर्मित कानूनों, नियमों, उप विधियों, प्रशासनिक निर्देशों तथा इसी प्रकार के अन्य वैधानिक प्रवाधनों के

अनुसरण में बनती है जिनका मुख्य उद्देश्य व्यापक सार्वजनिक हितों का संवर्द्धन करना होता है।

दूसरे शब्दों में लोक नीतियों का निर्माण सरकारी संस्थाओं द्वारा होता है। लोकनीति के निर्माण, कार्यान्वयन एवं प्रभावोत्पादक बनाने में संसद, मंत्रिमंडल, प्रशासनिक तंत्र तथा न्यायापालिका जैसी विभिन्न सरकारी संस्थाओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। कोई भी नीति, लोकनीति का रूप तभी ले पाती है जब अधिकारिक रूप से इसका निर्धारण सरकारी संस्थाओं द्वारा हो। सरकार ही लोक नीतियों को वैज्ञानिक प्राधिकार प्रदान करती है। इसमें विधायिका की भूमिका अहम होती है। चूंकि नीतियां सरकारी प्रयासों का परिणाम होती हैं, अतः इनका चरित्र सार्वभौमिक होता है और ये समाज व राष्ट्रीय जीवन के हर क्षेत्र एवं व्यक्ति पर लागू होती है। उल्लेखनीय है कि संस्थागत दृष्टिकोण के अंतर्गत मुख्यतः संस्थागत विन्यासों एवं लोक नीति की विषय–वस्तु के बीच के सब सहसंबंधों तथा इन संबंधों के बीच तुलनात्मक जांच–पड़ताल पर बल दिया जाता है। किंतु यह आवश्यक नहीं कि संस्था की संरचना में हुआ कोई परिवर्तन लोकनीति में परिवर्तन ले आएगा। संरचना और नीति के बीच वास्तविक संबंध की पड़ताल किए बिना लोक नीतियों पर संस्थायी विन्यासों के प्रभाव का मूल्यांकन करना मुश्किल है।

12.3.3 अभिजात्य वर्ग प्रतिमान

लोकनीति का अभिजात्य वर्ग प्रतिमान यह मानता है कि लोक नीतियां समाज के अभिजात्य लोगों की इच्छा तथा उनके स्वहितकारी परम्परागत मूल्यों को पोषित करने वाली सरकारी नीतियां होती हैं। यह प्रतिमान यह भी प्रतिपादित करता है कि समाज प्रायः दो वर्गो में बंटा है। चन्द शक्ति–सम्पन्न या प्रतिष्ठित व्यक्तियों का समूह तथा अनेक बहुसंख्यक शक्तिविहीन लोगों का समूह तथा लोकनीति प्रतिष्ठित व्यक्तियों का इच्छा और मूल्यों का परिणाम है। इस नमूने के अन्तर्गत लोक नीतियां प्रतिष्ठित वर्ग द्वारा निर्धारित की जाती हैं तथा इसे नौकरशाही द्वारा लागू किया जाता है। **मौस्का** ने अपने **"शासक वर्ग"** नामक पुस्तक में कह लिखा है कि "सभी समाजों में सभ्यता के मामूली लक्षणों को ग्रहण करने वाली नाममात्र को विकसित समाज व्यवस्थाओं से लेकर अत्यन्त आधुनिक समाज और व्यवस्थाओं तक जनता के दो वर्ग दिखाई पड़ते हैं।" एक शासक वर्ग जो छोटी संख्या में होता है तथा दूसरा शासित वर्ग जिसकी संख्या बड़ी होती है। शासक वर्ग बहुत से राजनैतिक कार्यों का निष्पादन करता है, सत्ता पर अधिकार प्राप्त कर लेता है। प्रतिष्ठित वर्ग सिद्धान्त का सारांश **थामस डाई और हामर्न जैगलर** ने अपनी पुस्तक **"जनतंत्र की विडम्बना"** में व्यक्त करते हुए कहा है– "समाज चन्द शक्ति सम्पन्न तथा बहुत सारे शक्तिविहीन लोगों में बंटा है। ये चन्द शक्ति सम्पन्न लोग शक्ति का निर्धारण करते हैं, ये चन्द शक्ति सम्पन्न लोग शासन करते हैं। वे शासित जनता से अलग किस्म के नहीं होते हैं। प्रतिष्ठित वर्ग प्रतिमान से यह स्पष्ट है कि सत्ताधारी प्रतिष्ठित वर्ग लोक नीतियों को निर्धारित करते हैं और उसमें बहुसंख्यक शासित वर्ग की कोई भूमिका नहीं होती है।

12.3.4 प्रक्रिया प्रतिमान

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है यह प्रतिमान लोक नीतियों के निर्माण, प्रवर्तन तथा क्रियान्वयन से लेकर उनके मूल्यांकन तक सम्मिलित प्रक्रियाओं या गतिविधियों को केन्द्र मानकर अध्ययन करने का हामी है। **चार्ल्स ओ. जोन्स** की कृति **An Introduction to the Study of Public Policy (1977)** इस प्रतिमान की वकालत करती है। यह प्रतिमान इस मान्यता पर टिका है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् से राजनीति विज्ञान एवं अन्य सामाजिक विज्ञानों में समुदाय, मतदाताओं, बाजार, राजनीतिक दलों, विधायिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका, हित एवं दबाव समूहों तथा नौकरशाही इत्यादि के व्यवहार को समझना महत्वपूर्ण हो गया है क्योंकि प्रत्येक स्तर पर होने वाली गतिविधियां लोक नीति को प्रभावित करती हैं। लोक नीतियां अपने आप में राजनीतिक गतिविधियों की श्रृंखला का परिणाम हैं।

इस प्रतिमान में न केवल यह देखा जाता है कि नीतियां 'कैसे' बनती हैं बल्कि यह भी बताने का प्रयास किया जाता है कि नीतियां कैसे बननी चाहिए। इस प्रतिमान में लोकनीति के सार तत्त्व अर्थात् 'कौन क्या प्राप्त करता है', को जानने का प्रयास नहीं किया जाता है। लोकनीति प्रक्रिया में समस्या की पहचान – एजेण्डा निर्धारण – नीति–निर्माण – नीति–प्रवर्तन एवं उसकी वैधता नीति क्रियान्वयन नीति मूल्यांकन को क्रमशः प्रक्रियाओं के रूप में विश्लेषित किया जाता है। लोकनीति निर्माण की प्रक्रिया इसकी अन्तर्वस्तु (Content) को प्रभावित करती है या अन्तर्वस्तु के अनुसार लोकनीति प्रक्रिया प्रभावित होती है। प्रक्रिया तथा अन्तर्वस्तु के मध्य सम्बन्धों की खोजबीन होनी चाहिए।

12.3.5 वृद्धिपरक प्रतिमान

निर्णय के परम्परागत तार्किक प्रतिमान की आलोचनास्वरूप राजनीति विज्ञानी **चार्ल्स ई. लिण्डब्लोम** ने **'वृद्धिपरकवाद' (Incrementalism)** नामक प्रतिमान की व्याख्या की है। सन् 1959 में **लिण्डब्लोम** का लेख

The Science of Muddling Through लोक प्रशासन की प्रतिष्ठित पत्रिका **PublicAdministration Review (PAR)** में प्रकाशित हुआ था। इस लेख में लिण्डब्लोम का कहना है कि लोक प्रशासन में निर्णयों या लोक नीतियों के सन्दर्भ में प्रायः प्रवर्तित या पूर्ववर्ती कार्यक्रमों, नीतियों या कानूनों में कुछ जोड़कर, घटाकर या संशोधन करके नयी नीति बना ली जाती है अर्थात् पूर्ववर्ती निर्णय या नीतियां नीति निर्धारकों हेतु वैधता, सन्दर्भ तथा आधार का कार्य करते हैं। चूंकि सरकारी तंत्र में नीति निर्धारक बहुत सारी बातों में उलझे रहते हैं तथा धन, समय एवं सूचनाओं की कमी या विवशता बनी रहती है अतः नीति एवं निर्णयों में 'वृद्धिपरकवाद' ही कार्य कर पाता है। लिण्डब्लोम के अनुसार निर्णयन में सीमान्त वृद्धिपरकवाद (Marginal Incrementalism) तथा सम्पूर्ण सहयोगात्मक साझा एकीकरण (Partisan MutualAdjustment) की अवधारणाएं महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती हैं अर्थात् नीति या निर्णयन में या तो थोड़ी–सी नयी बात जोड़ दी जाती है या फिर सभी सम्बद्ध पक्ष मिलकर उत्साहपूर्वक कुछ साझा मुद्दे तय कर लेते हैं।

वृद्धिपरक प्रतिमान के अनुसार नयी नीतियों के बजाय पुरानी नीतियों में संशोधन करने के पीछे एक कारण यह भी है कि सरकार के प्रवर्तित कार्यक्रमों में भारी निवेश हो चुका होता है अतः यकायक उसे छोड़ा नहीं जा सकता है साथ ही राजनीतिक परिवेश में नीतियों में आंशिक बदलाव आसानी से हो जाते हैं। नौकरशाह भी वृद्धिपरक प्रतिमान के समर्थक होते हैं। चूंकि प्रवर्तित नीतियां वैधता प्राप्त कर चुकी होती हैं अतः पूर्णतया नया कार्यक्रम अपनाने में झिझक भी होती है।

12.3.6 तार्किक प्रतिमान

लोकनीति का तार्किक अथवा विधेयपूर्ण प्रारूप प्रशासक को लक्ष्य–उपलब्धि के लिए प्रस्तुत विकल्पों में से बेहतर विकल्प के चयन का अवसर प्रदान करता है। किंतु ऐसे विकल्पों का चयन सूचीबद्ध प्राथमिकताओं के आधार पर किया जाता है। इस संदर्भ में निर्णयपरक दृष्टिकोण (Decision-makingApproach) को उदाहरण के तौर पर देख सकते हैं क्योंकि इसके अंतर्गत विकल्पों और मूल्यों का तार्किक रूप से चयन किया जाता है और उनके सापेक्ष महत्व का मूल्यांकन किया जाता है। कोई भी नीति तर्कसम्मत या विवेकपूर्ण तभी मानी जाती है जब वह सर्वाधिक कार्य कुशल एवं परिणामोत्पादक हो। **हरबर्ट साइमन (Herbert Simon)** ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'तार्किकता अथवा विवेकपूर्णता का संबंध मूल्यों की दृष्टि से चुने गए भावी आचरणों के विकल्पों से है और यह संबंध ऐसा होता है कि आचरणों के परिणामों का मूल्यांकन किया जा सके।'

तर्कसम्मत प्रारूप के अंतर्गत नीति–निर्धारण के संदर्भ में निम्न बातों पर बल दिया जाता है।

1. निर्धारणाधीन नीति से संबंधित सभी सामाजिक मूल्यों की पहचान की जाए तथा प्रत्येक को महत्व दिया जाए।
2. कार्यवाही के संदर्भ में सभी संभव वैकल्पिक उपायों एवं नीतियों को ध्यान में रखा जाए।
3. प्रत्येक वैकल्पिक कार्यवाही के परिणामों की पहचान की जाए और उनका मूल्यांकन किया जाए जिससे कि जिन मूल्यों की प्राप्ति हुई और जिन मूल्यों का परित्याग प्रत्येक वैकल्पिक नीति के परित्याग के फलस्वरूप हुआ है, उसके अनुपात का आकलन किया जा सके।
4. इनमें से किसी एक विकल्प का नीति के रूप में चयन व अंगीकरण जोकि मूल्यवान उद्देश्यों की उपलब्धि में सर्वाधिक उपयुक्त व परिणामोत्पादक हो।

साइमन के अनुसार, प्रशासनिक सिद्धांत को निर्णयन और कार्यवाही की प्रक्रिया से संबंधित होना चाहिए। साइमन ने तर्कसम्मत नीति निर्माण की प्रक्रिया में तीन तरह की गतिविधियों को महत्त्वपूर्ण माना है।' बोधगम्य गतिविधि (IntelligenceActivity) संरचनात्मक गठन संबंधी गतिविधि (DesignActivity) तथा अभिकल्पित चयन से संबंधी गतिविधि (ChoiceActivity)। निर्णयन के प्रथम चरण में परिवेश की उन परिस्थितियों की छानबीन की जाती है जो निर्णय की मांग करते हैं। दूसरे चरण में संभावित कार्यवाही से संबंधित आविष्कार, विकास एवं विश्लेषण शामिल होता है। निर्णयन के तीसरे व अंतिम चरण में किसी एक बेहतर विकल्प कार्यवाही को चुन लिया जाता है और तदनुसार आचरण किया जाता है।

नीति–निर्माण अथवा निर्णयन का तर्कसम्मत प्रारूप प्रशासकों से यह अपेक्षा करता है कि वे प्रत्येक मुद्दे पर सोच–विचार के उपरांत ऐसे निर्णय लें जो अधीनस्थ कार्मिकों की कार्यवाहियों का मार्गदर्शन कर सकें। इसके परिणामस्वरूप एकीकृत नीतियों का निर्माण होगा जो परस्पर विरोधी न होकर पूरक होंगी।

किंतु लोक नीति–निर्धारण के तार्किक प्रारूप के मार्ग में अनेक बाधाएं हैं। सर्वप्रथम तो नीति–निर्धारण के संदर्भ में न तो सामाजिक मान–मूल्यों को लेकर एकमतता है और न ही इन मान–मूल्यों में से किसी एक को

महत्त्व देना आसान है। दूसरे, नीति–निर्धारण हेतु अपेक्षित और समुचित सहायक आंकड़ों एवं सूचनाओं को समग्र रूप से समेटना भी आसान नहीं है, क्योंकि यह एक खर्चीली गतिविधि है। तीसरे, स्वयं निर्णयनकारी तंत्र की प्रकृति कभी–कभी इतनी जटिल हो जाती है कि अनेक मस्तिष्कों को एक साथ कार्य करना पड़ता है और इससे मूल्यों एवं व्यक्तित्वों के परस्पर टकराव की संभावना बढ़ जाती है जिससे निर्णयन की प्रक्रिया बाधित होती है। अंत में, चार्ल्स लिंडब्लोम ने लोक नीति के तर्कसम्मत प्रारूप की निश्चित सीमाओं के आधार पर उसकी आलोचनात्मक समीक्षा करते हुए अपने संवृद्धिवादी प्रतिरूप का विकास किया है।

12.3.7 क्रीड़ा प्रतिमान

खेल एवं खिलाड़ी के चिन्तन को आधार बना कर बना क्रीड़ा प्रतिमान मुख्यतः दो या अधिक सम्भागियों के संभावित विकल्पों तथा उनकी रणनीतियों के आधार पर स्वयं एवं दूसरों के संभावित निर्णयों को बताता है। वस्तुतः क्रीड़ा प्रतिमान में 'सर्वश्रेष्ठ' कुछ नहीं होता है बल्कि दूसरों के निर्णय अन्य के निर्णयों को प्रभावित करते हैं। दी गई प्रतिस्पर्द्धात्मक परिस्थिति में 'दूसरे क्या करेंगे' को आधार बनाकर स्वयं के निर्णय परिवर्तित एवं निर्मित करने पड़ते हैं।

मूलतः रक्षा नीति, विदेश नीति, अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीतिक सम्बन्धों, युद्ध एवं शांति, परमाणु अस्त्रों तथा विधायिका में गठबंधनों इत्यादि के समय क्रीड़ा प्रतिमान प्रयुक्त होता है किन्तु लोकनीति में इस प्रतिमान का प्रयोग सीमित ही माना जाता है। क्रीड़ा प्रतिमान तार्किकवाद का एक प्रकार है। **थॉमस आर. डाई** एक उदाहरण देते हुए कहते हैं कि यदि किसी हाईवे पर दो किशोर कार ड्राईवर तेजी से एक–दूसरे की ओर आ रहे हों तो कोई भी हाईवे के मध्य से हटकर दूसरों को साईड न देना चाहता हो तो इस बीच एक–दूसरे की संभावित मौत, साइड देने पर कायर (Chicken) कहलाने की आशंका इत्यादि विचार उनके मनोमस्तिष्क में घूमेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भी ऐसी ही स्थितियां बनती हैं। इस स्थिति को Briksmanship (ब्रिक्समैनशिप) कहते हैं जो यह बताती है कि आप न केवल दूसरों को डरा रहे हैं बल्कि स्वयं भी खतरे में पड़ने को तैयार हैं। शीत युद्ध के दौर में अमेरिका तथा सोवियत संघ ने ऐसा ही किया था। क्रीड़ा प्रतिमान में परिमाणात्मक प्रविधियों (Quantitative Techniques) की भांति गणितीय सूत्रों का भी उपयोग किया जाता है। सुप्रसिद्ध गणितज्ञ जॉन वान न्यूमैन (John Von Newmann) तथा अर्थशास्त्री ऑस्कर मार्गेन्सटैम (Oscar Morgenstem) की पुस्तक Theory of GamesAnd Economic Behaviour (1944) इस प्रतिमान की विस्तृत व्याख्या करती है।

12.3.8 मिश्रित अन्वीक्षण

मिश्रित अन्वीक्षण का दृष्टिकोण संवृद्धिवाद एवं तर्कसम्मत दृष्टिकोण से निकट रूप से जुड़ा हुआ है तथा दोनों को जोड़ने का प्रयत्न करता है। इसके मुख्य प्रवक्ता समाजविज्ञानी **एमिटेयी एटजियोनी** (Amitai Etzioni) हैं। एटजियोनी का यह प्रतिरूप एक मध्यवर्ती प्रतिरूप के रूप में तर्कसम्मत या विवेकपूर्ण प्रतिरूप और संवृद्धिवादी प्रतिरूप दोनों के ही तत्त्वों को समाहित करता है। एटजियोनी तर्कसम्मत दृष्टिकोण की लिंडब्लोम की आलोचना से सहमत हैं, लेकिन उनका यह मानना है कि संवृद्धिवाद भी त्रुटियों से सर्वथा मुक्त नहीं है। संवृद्धिवाद सामाजिक नवपरिवर्तन प्रक्रिया को हतोत्साहित करता है तथा यह दृष्टिकोण पक्षपाती भी है। इसके अंतर्गत सर्वाधिक शक्तिशाली और संगठित लोगों के हितों पर नीति निर्माता अधिक ध्यान देते हैं। इसके अतिरिक्त, संवृद्धिवाद युद्ध घोषणा जैसे मूलभूत निर्णयन में लागू नहीं किया जा सकता। अतः एक संभावित विकल्प के रूप में एटजियोनी ने मिश्रित अन्वीक्षण दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है। इस संदर्भ में उन्होंने दो तरह की निर्णय प्रक्रिया पर बल दिया है। पहला, मूलभूत नीति–निर्धारण जो आधारभूत निर्देशनों को सुनिश्चित करता हो। दूसरा, संयुक्त संवृद्धिकारी प्रक्रिया जो मूलभूत निर्णयों को व्यावहारिक रूप प्रदान करती है तथा उसे गत्योन्मुख करती है। यह प्रतिरूप दोनों काम करता है। पहले तो यह सारे संबंध क्षेत्र का व्यापक परीक्षण करता है तथा उसकी व्याख्या के विस्तार में नहीं जाता और इसके बाद उन पहलुओं पर ध्यान केंद्रित करता है जहां गहराई में जाकर पड़ताल करने की जरूरत है।

12.4 सारांश

इस प्रकार इस इकाई में हमने नीति विश्लेषण के विभिन्न दृष्टिकोणों और नीति निर्माण के अनेको प्रतिमानों का विस्तृत रूप से वर्णन किया है। नीति निर्माण प्रक्रिया को समझने के लिए यह आवश्यक होता है कि नीति निर्माण के विभिन्न पहलुओं को विस्तृत रूप से समझा जाये। नीति–प्रक्रिया के प्रत्येक चरण में नीति–विश्लेषक अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। नीति विश्लेषण के विभिन्न दृष्टिकोण हैं, जैसे ऐतिहासिक, कार्यमूलक, जांच मूलक स्थानापन्न सम्बन्धी तथा नवीनता लाने सम्बंधी। नीति विश्लेषक को परिस्थिति, वातावरण, संरचना तथा कार्यमूलक स्थितियों के आधार पर सर्वाधिक अनुकूल दृष्टिकोण तथा क्रिया–विधि का प्रयोग करना चाहिए तथा

अपने व्यवस्थित तरीकों पर दृढ़ रहना चाहिए। इसी प्रकार नीति–निर्माण के कुछ स्वीकृत नमूनों की चर्चा की गई है। नीति–निर्माण प्रक्रिया को बेहतर एवं सुव्यवस्थित ढंग से समझने तथा इसकी व्याख्या करने के लिए अनेक नमूनों/प्रतिमानों एवं सिद्धांतों को विकसित किया गया है। ये प्रतिमान स्पष्टीकरण ही एक ऐसी युक्तियां है जो नीति–निर्माण प्रक्रिया की वास्तविकताओं का प्रतिनिधित्व करना चाहती है। नीति–निर्माण की समस्त जटिलताओं को ध्यान में रखते हुए इसे समझाने तथा प्रभावी बनाने के लिए विभिन्न प्रकार के प्रतिमानों की आवश्यकता होती है।

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि लोकनीति के अध्ययन एवं विश्लेषण ने लोक प्रशासन साहित्य को एक नया परिप्रेक्ष्य और विमर्श क्षेत्र प्रदान किया है। लोक नीति निर्माण के अध्ययन एवं विश्लेषण से संबंधित जितने प्रतिमानों का विकास हुआ है, वे अपनी निश्चित सीमाओं के बावजूद न केवल लोक नीति–निर्धारण से जुड़ी समस्याओं, जटिलताओं, मनोभावों एवं बाध्यताओं को समझने में सहायता प्रदान करते है अपितु नीति–विज्ञान के विकास हेतु सशक्त दृष्टिभूमि का भी निर्माण करते है।

12.5 अभ्यास के प्रश्न

1. नीति–विश्लेषण के विभिन्न दृष्टिकोणों का वर्णन करें।
2. नीति–निर्माण के विभिन्न प्रतिमानों की व्याख्या करें।
3. नीति निर्माण के तार्किक प्रतिमान की व्याख्या करें।

12.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. लोक नीति– आर. के. सप्रू
2. लोक प्रशासन– प्रो0 अवस्थी एवं माहेश्वरी
3. प्रशासनिक सिद्धांत व प्रबंध– डॉ0 सुरेन्द्र कटारिया
4. लोक प्रशासन– डॉ0 बी. एल. फाड़िया
5. ईपीए० 06– लोक नीति निर्माण मुख्य निर्धारक– बुकलेट–4, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।
6. बी०ए०पी०ए०– 301 अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियां इकाई–1.5 उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय।

इकाई–13 नीति विश्लेषण (आमण्ड एवं ईस्टन के सन्दर्भ में)

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 परिचय

13.2 नीति विश्लेषण

13.3 नीति विश्लेषण के विभिन्न रूप

13.4 नीति विश्लेषण के आयाम

13.5 नीति विश्लेषण ईस्टन के संदर्भ में

13.6 सारांश

13.7 अभ्यास–प्रश्न

13.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

13.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप निम्नलिखित तथ्यों को समझ सकेंगे।

- नीति विश्लेषण के अर्थ एवं प्रकृति
- नीति विश्लेषण के विभिन्न रूप एवं आयाम
- नीति विश्लेषण के सन्दर्भ में ईस्टन की भूमिका

13.1 परिचय

नीति विश्लेषण नीति–निर्माण प्रक्रिया का महत्वपूर्ण भाग है। लोक नीति का विश्लेषण आवश्यक है। नीति विश्लेषण में नीति–निर्माण, क्रियान्वयन, मूल्यांकन के अतिरिक्त अन्य कारकों एवं आयामों को भी विश्लेषित किया जाता है। नीति विश्लेषण का उद्देश्य नीति की कमियों में सुधार, गुणवत्ता को सुधारना तथा क्रियान्वयन को बढ़ाना है और इसमें एक विस्तृत क्षेत्र के अध्ययनों तथा शोध क्रियाओं को अपनाना है। नीति विश्लेषण समस्याओं की संरचना का पता लगाने, नियन्त्रण करने तथा भविष्यवाणी करने, अनिवार्य मूल्यांकन करने, तथा सिफारिशें प्रस्तुत करने एवं प्रत्यक्ष प्रभावों का अनुमान लगाना है। लोक नीति विश्लेषण का महत्वपूर्ण लक्ष्य विश्वसनीय आशाओं के साथ ऐसे व्यवहार्य सुविचारित नीति विकल्पों तक पहुंचने में नीति निर्माताओं की सहायता करना है जो उन नीति विकल्पों के संभावित परिणाम होंगे।

इस अध्याय में नीति विश्लेषण से सम्बन्धित पहलुओं, जैसे नीति विश्लेषण के रूपों एवं विभिन्न आयामों पर चर्चा की गई है तथा नीति विश्लेषण में डेविड ईस्टन के योगदान की भी चर्चा की गई है।

13.2 नीति–विश्लेषण

नीति विश्लेषण नीति–निर्माण प्रक्रिया का सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग है। यह नीति–निर्धारण प्रक्रिया को बेहतर बनाने तथा उसमें सुधार लाने से सम्बन्धित है। यह स्पष्ट है कि लोक नीतियां सरकार के सामूहिक प्रयासों का परिणाम होती हैं। वे उद्देश्य उन्मुख होती हैं। लोक नीतियां उन तमाम निर्णयों से मिलकर बनती हैं जोकि इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए किया जाता है। अतः नीति विश्लेषण के अन्तर्गत नीति के अर्थ तथा ध्येय के बारे में स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए। नीति विश्लेषण के लिए यह जरूरी है कि वह लोक नीति प्रक्रिया में राज्य की भूमिका, भारत में लोक नीति के अनुभव, सूक्ष्म–स्थूल नीतियों आदि के बारे में जानकारी रखे ताकि वह नीति विश्लेषण सम्बन्धी अपनी भूमिका के साथ न्याय कर सके।

नीति विश्लेषण में नीति–निर्माण, क्रियान्वयन, मूल्यांकन तथा प्रभाव के अतिरिक्त अन्य कारकों एवं आयामों को भी विश्लेषित किया जाता है। सामान्यतः विश्लेषण किसी विषय के गहन एवं विस्तृत परीक्षण को कहते हैं जिसमें उस विषय के बारे में अधिक जानकारी प्राप्त की जा सके। लोक नीति का सीधा सम्बन्ध राजनीति से है।

एक सदी पूर्व राजनीति की व्याख्या किसे क्या मिला, कब मिला तथा कैसे मिला के आधार पर होती थी किन्तु अब लोक नीति विश्लेषण जैसी अवधारणाओं ने यह दृष्टि बदली है। अब राजनीति की व्याख्या कौन, क्या सोचता है तथा कैसे सोचता है के आधार पर होती है।

लोक नीति विश्लेषण इस विषय पर केन्द्रित रहता है कि सरकार क्या करती है, वह ऐसा क्यों करती है तथा इसमें क्या परिवर्तन आते हैं। वस्तुतः नीति विश्लेषण तीन प्रकार के प्रश्नों के उत्तर खोजने का कार्य करता है। पहला, प्रयोजनमूलक अर्थात नीतियों के उद्देश्य एवं परिणाम क्या है? दूसरा मूल्यांकन मूलक अर्थात नीतियां किस कीमत पर निर्मित एवं क्रियान्वित हो रही है? तथा तीसरा समर्थन मूलक अर्थात किन नीतियों को अपनाया जाना चाहिए।

दरअसल, नीति विश्लेषण का अकादमिक महत्व है। नीति विश्लेषक, मूल्यों तथा प्राथमिकता वाली कार्य योजनाओं के क्रम में सूचनाएं उपलब्ध कराते हैं। स्पष्ट है इसमें नीति मूल्यांकन साथ–साथ सार्वजनिक पैरवी भी सम्मिलित है। नीति विश्लेषण के मुख्यतः तीन प्रकार प्रचलित हैं–

1. **प्रत्याशित विश्लेषण** – इसमें नीतिगत कार्यवाही की शुरुआत या क्रियान्वयन से पूर्व सूचना का निर्माण तथा रुपान्तरण सम्मिलित है।
2. **सिंहावलोकन विश्लेषण** – इसमें नीतिगत कार्यवाही सम्पन्न हो जाने पर सूचना के निर्माण तथा रूपांतरण पर कार्य किया जाना सम्मिलित है।
3. **एकीकृत विश्लेषण** – नीति विश्लेषण का यह व्यापक रूप है। इसमें सूचना निर्माण तथा रूपान्तरण से जुड़े पेशेवर व्यक्तिगत नीतिगत कार्यवाही से पूर्व तथा उसके पश्चात के कार्यमूलक तरीकों को एकीकृत करते हैं।

थॉमस आर. डाई ने लोक नीति विश्लेषण को इस प्रकार स्पष्ट किया है –

1. नीति विश्लेषण का प्राथमिक उद्देश्य लोक नीतियों की व्याख्या करना है न कि उपाय सुझाना।
2. दूसरा उद्देश्य लोक नीतियों के कारणों तथा परिणामों की गहन खोज करता है।
3. लोक नीतियों के कारणों तथा परिणामों के बारे में सामान्य प्रस्तावों का विकास तथा परीक्षण का प्रयास करना और साथ ही सामान्य उपयोगिता हेतु विश्वसनीय अनुसंधान परिणामों का संचय करना।

पेटॉन और सॉविकी (PattonAnd Sawicki) के अनुसार शब्द 'नीति विश्लेषण' संभवतः पहली बार लिण्डब्लोम (Lindblom) द्वारा 1958 में प्रयुक्त किया गया था। चूंकि विषय पर कई विशेषज्ञों ने परिभाषाएं दी हैं। नीति विश्लेषण के मुख्य पहलू कुछ विशेषज्ञों द्वारा निम्नलिखित प्रकार से परिभाषित किए गए हैं:

1. डन (Dunn) इस बात पर बल देता है कि नीति विश्लेषण अनुप्रयुक्त विधा है। उसके शब्दों में नीति विश्लेषण "अनुप्रयुक्त विधा (Applied Discipline) है जो नीति–प्रासंगिक सूचना (Policy relevant Information) उत्पन्न करने के लिए और रूपांतरित करने के लिए जांच और तर्क की बहुविधियां प्रयोग करता है उसे सार्वजनिक समस्याओं का समाधान करने के लिए राजनीतिक व्यवस्थाओं में प्रयुक्त किया जा सकता है।"
2. जैकब बी. यूकेलिस (Jacob B. Ukeles) उल्लेख करता है कि "नीति विश्लेषण वैकल्पिक नीति विकल्पों का क्रमबद्ध अन्वेषण और प्रत्येक विकल्प के पक्ष और विपक्ष के साक्ष्य का संयोजन तथा एकीकरण है। इसमें समस्या समाधान, सूचना का संग्रह और व्याख्या तथा कार्यवाही के वैकल्पिक मार्गों के परिणामों का पूर्वानुमान करने के कुछ प्रयास हैं।"
3. पेटॉन और साविकी का मत है कि नीति विश्लेषण "कार्यान्वयन के लिए वैकल्पिक नीतियों कार्यनीतियों का तकनीकी मूल्यांकन, आर्थिक व्यवहार्यता राजनीतिक व्यवहार्यता और नीति अंगीकरण के परिणाम हैं।"

नीति–विश्लेषण नीति–निर्माण प्रक्रिया का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है। यह सर्वश्रेष्ठ सम्भव मुद्दों को नीतियों में बदलना तथा उनका क्रियान्वयन सम्भव बनाता है। हॉवर्ड फ्रिमेन तथा इलेन वरन स्टीम के शब्दों में "लोक नीति विश्लेषण की सीमा रेखाएं भ्रांति पैदा करने वाली हैं तथा नीति के अध्ययन में शामिल व्यक्तियों तथा समूहों के दृष्टिकोण एवं तौर–तरीके काफी ध्यान देने योग्य हैं। हालांकि इस बात से सहमति है कि नीति विश्लेषण गतिविधि का एक अभाज्य हिस्सा, मानव संसाधन कार्यक्रमों के आचरण, सामर्थ्य, कार्यकुशलता का मूल्यांकन करना है। यह

जरूरी है कि स्वास्थ्य, शिक्षा, कल्याण, जन सुरक्षा के सरकारी एवं अर्ध–सरकारी कार्यक्रम एवं मानव स्थितियों में सुधार के विभिन्न नवीनता लाने वाले तथा प्रयोगतम प्रयासों का मूल्यांकन किया जाये।"

नीति विश्लेषण के प्रकार निम्नलिखित हैं–

(क) व्याख्यात्मक (ख) निदानात्मक एवं (ग) तुलनात्मक

नीति–विश्लेषण से सम्बन्धित इन विभिन्न रूपों का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से किया गया है–

(क) व्याख्यात्मक – नीति– विश्लेषण का यह रूप निम्न प्रकार के मुद्दों पर प्रकाश डालने से सम्बन्धित हैं। वे महत्त्वपूर्ण कारक जोकि अन्तः निर्माण की प्रक्रियाओं का आरम्भ करने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। नीति निर्णयों में सरकारी तथा गैर–सरकारी संस्थाओं की भागीदारों द्वारा निभाई गयी भूमिका, नीति–निर्णयकर्ताओं द्वारा प्रयोग में लाई गयी तकनीकी और प्रभाव। व्याख्यात्मक विश्लेषण अधिकतर नीति–निर्माण में वास्तविक घटनाओं तथा विभिन्न संस्थाओं द्वारा निभाई गयी भूमिका पर बल देता है। इस प्रकार का नीति– विश्लेषण काफी उल्लेखनीय है क्योंकि जब तक नीति विश्लेषण किसी नीति की पृष्ठभूमि, शासक प्रतिष्ठित वर्ग, साथ ही विरोधी प्रतिष्ठितों द्वारा निभायी गई भूमिका, संस्था की भूमिका, उपयोग में लाई गयी तकनीक की गुणवत्ता तथा साथ ही उसकी उपयोगिता तथा प्रभाव के मूल्यांकन आदि के बारे में स्पष्ट नहीं होंगे, वे नीतियों में वांछित सुधार करने के लिए निदान बताने की स्थिति में नहीं हो सकेंगे।

(ख) निदानात्मक – यह नीति–निर्धारण प्रक्रिया को बेहतर बनाने तथा उसमें सुधार लाने से संबधित है। यह एक हकीकत है कि निदानात्मक विश्लेषण नीति–प्रक्रिया में अपेक्षित गुणवत्ता में खासा योगदान कर सकता है। और इसके फलस्वरूप नीतियों का निर्धारण समाज, शासन व्यवस्था, नागरिकों के हित में किया जा सकता है। निदान के उपरान्त व्याख्या अथवा स्पष्टीकरण किये जाने चाहिए। **थोमस आर डाई** के शब्दों में, यह सिद्धान्त की व्याख्या को निदान से पूर्ण किया जाना चाहिए कि "लोक नीति के उद्देश्य और परिणामों की गम्भीर खोज करना, इस खोज में निष्कर्ष के वैज्ञानिक मानकों को प्रयोग में लाना तथा लोक नीति के बारे में आम सिद्धान्तों को विकसित तथा जांचने का प्रयास करना जोकि नीति विश्लेषण आन्दोलन को वह बौद्धिक संगति प्रदान करता है जो कुछ वह जमा कर पाया है।"

(ग) तुलनात्मक – नीति निर्धारकों के सामने अनेक मुद्दे होते हैं जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मुद्दों को लोक नीतियों में बदला जाता है। नीति को बहुमत के हितों में बनाये जाने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि नीति के सभी सम्भावित पक्षों के बारे में विभिन्न क्षेत्रों से आंकड़े एकत्रित किये जाये। यह एक कठिन कार्य है परन्तु बहुत उपयोगी है। **माइकल वाकाऊन** के शब्दों में, "आंकड़ों के व्यापक रूप से अज्ञात शरीर रचना तथा निम्न स्तर के सिद्धान्त मौजूद हैं जिन्हें यदि साधने के साथ आलोचनात्मक ढंग से प्रयोग में लाया जाये तो राजनीतिक विज्ञान का अनुसंधान किया जा सकता है" (यहां राजनैतिक विज्ञान के अनुसंधान का तात्पर्य नीति विज्ञान अनुसंधान हैं)

नीति विश्लेषण मुख्यतः सरकार के उन तरीकों से सम्बद्ध है जिनके द्वारा सरकार ध्येयों को हासिल करना चाहती है तथा अपने वातावरण को रूपान्तरित करती है। साथ ही सरकारी संगठनों के भीतर व्यक्तियों द्वारा किये जाने वाले व्यवहारों से सम्बद्ध है। नीति विश्लेषण इस तरह के प्रश्नों का उत्तर खोजने का प्रयास करते हैं। जैसे नीति क्या थी? इसे किसने बनाया? पर्यावरण पर क्या प्रभाव पड़ा? इसे कैसे चालू किया जाये? तथा इससे शुद्ध परिणाम क्या निकले? आदि निदानात्मक और तुलनात्मक विश्लेषण पुनः यह समझाते हैं कि ध्येयों की अधिकतम प्राप्ति के लिए नीति में क्या जोड़ना चाहिए?

नीति विश्लेषण के आयामः

उद्देश्य – प्रत्येक नीति का कोई उद्देश्य होता है। नीतिगत उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए नीति विश्लेषक यह प्रयास करते हैं कि क्या उन्हें प्राप्त किया जा सका है यदि हां तो उनमें कितनी लागत तथा समय लगाया गया है। यदि नीति उद्देश्य पूरे न किये गये हों तो विश्लेषक उनके कारणों को इंगित करते हैं तथा उन्हें पूरा करने का प्रयास करते हैं। नीति के उद्देश्य का विश्लेषण करते समय अन्य नीतिगत ध्येयों के साथ तुलना, मौजूदा पर्यावरण की स्थिति तथा जनता की आवश्यकताओं को भी ध्यान में रखा जाता है।

निर्धारक – ऐसे अनेक निर्धारक होते हैं जोकि निर्धारित नीतियों पर काफी प्रभाव डालते हैं। प्रत्येक निर्धारक चाहे वह कोई राजनैतिक दल, हित–समूह, स्वयंसेवी संस्था, गैर–सरकारी संस्था, जन प्रचार माध्यम, सामाजिक आन्दोलन इत्यादि कोई भी हो नीति–निर्माण क्रियाविधि को प्रभावित करता है।

नीति विश्लेषक नीति के निर्धारण से पूर्व तथा उसके बाद भी निर्धारकों की भूमिका को ध्यान में रखकर नीति के प्रारूपों तथा कर्त्तव्य को विश्लेषित करने का प्रयास करता है। नीति विश्लेषक प्रभावित करने वाले कारकों तथा नीति निर्माताओं द्वारा तय किए गए नीति के मकसद पर प्रकाश डालता है। विश्लेषक इस बात को उजागर करता है कि प्रभावकारी कारकों ने नीति क्रियान्वयन पर क्या असर डाला है। यह इस तथ्य को उजागर करता है कि लाभ उठाने वाले कौन लोग हैं लागत कितनी रही है, लागत लाभ अनुपात क्या रहा है और किस तरह से कथित नीति समान प्रकृति वाली पहले से मौजूद नीतियों की सहायता, विरोध अथवा उन्हें नुकसान पहुंचाती है।

हस्तक्षेप – यह इस बात को उजागर करता है कि किस तरह से हस्तक्षेप नीतियों में सुधार तथा उनके जरिए समाज में सुधार लाने में मदद करते हैं। **रीन** के शब्दों में, "यह भी दर्शाया जा सकता है कि आर्थिक प्रगति कुछ समूहों के लिए असमानता में वृद्धि कर देती है। यह मूल्यगत पूर्वानुमान विश्लेषण को यह पता लगाने को विवश करता है कि प्रगति और विकास के दौड़ में कौन लोग पीछे रह गये। इस संदर्भ में एक उदाहरण सरकार द्वारा किसानों को अपेक्षाकृत सस्ती बिजली उपलब्ध कराने की नीति निजी हो सकती है। नीति का मकसद छोटे तथा सीमित किसानों को राहत देना था किंतु क्या इसमें छोटे किसानों को लाभ मिला बल्कि उनकी तुलना में भू–स्वामियों को इसका विशेष लाभ प्राप्त हुआ। यह तर्क भी दिया जा सकता है कि सस्ती दर पर बिजली प्राप्त कराने के संविधान बड़े व छोटे किसानों को कृषि उत्पादन में वृद्धि करने में सहायता के लिए प्रदान किया गया था। इसका दूसरा पहलू यह भी है कि बड़े भू–स्वामी जिन्होंने इसका लाभ उठाया, उपयोग की गयी बिजली का उच्चतर दर पर भुगतान करने में सक्षम थे।

सम्बद्ध संस्थाएं – संस्था मानव व्यवहार का एक स्थापित पैटर्न है जो प्रासंगिक मूल्यों के एक ढांचे के तहत संरचनागत सामाजिक अन्योन्य क्रिया से मिलकर बनता है। स्थानीय, राज्य तथा राष्ट्रीय स्तर की राजनैतिक तथा गैर–राजनैतिक संस्थाएं, संविधान तथा अन्य मौलिक दस्तावेजों एवं प्रथाओं से लेकर औपचारिक विधान मण्डलीय कार्यपालक, प्रशासनिक तथा न्यायिक संरचनाओं एवं प्रक्रियाओं तक फैली रहती है। नीति विश्लेषक की भूमिका नीति–निर्माण में विशिष्ट संस्था की भूमिका को स्पष्ट करना है।

राजनैतिक संभाव्यता – साधारणतः किसी राजनैतिक प्रणाली में ऐसी नीतियां निर्धारित की जाती हैं जो राजनैतिक रूप से सम्भव हों और संविधान, प्रथाओं तथा परम्पराओं की मूलभूत स्थापित भावनों के विरूद्ध न जाती हों। नीति–निर्माता सामान्य परिस्थितियों में ऐसी नीतियां निर्धारित नहीं करते जो स्थापित रिवाजों तथा परम्पराओं के विरुद्ध जाती हों। किन्तु जहां तक कहीं ऐसा करना अनिवार्य हो जाता है वहां आवश्यक नीतियां बना दी जाती हैं भले ही उन रिवाजों और परम्पराओं के विरुद्ध जाती हों। नीति–निर्माताओं को नीतियां बनाते समय आन्तरिक एवं बाह्य परिवर्तनों तथा पर्यावरण के बारे में सतर्क रहना चाहिए। इसके अलावा सत्ताधारी राजनैतिक दल की विचारधारा आधार तथा मूल सुधार में उद्देश्यों पर भी कायम रहना होता है। नीति विश्लेषक किसी नीति विशेष को सहायता नहीं देता है बल्कि एकत्रित आंकड़ों पर आधारित एक वस्तुनिष्ठ रिपोर्ट नीति की स्वीकार्यता को बढ़ा सकता है। नीति विश्लेषक के कार्यभार नीति में पुनः सुधार लाने में सहायक होते हैं।

विश्लेषक के विश्वास एवं धारणाएं – किसी व्यक्ति के विश्वास तथा रुझान जिसे कोई कार्यभार सौंपा गया हो आमतौर पर उसके द्वारा पूरे किये गये कार्य में प्रतिबिम्बित होते हैं। यह नीति विश्लेषकों पर भी उतना ही लागू होती है। नीति विश्लेषकों के विश्वास तथा मूल्य उनके रिपोर्टों में प्रतिबिम्बित होते हैं। विश्लेषण के कार्य को निष्पादित करने के लिए विश्लेषकों को प्रदान किये जाने के लिए स्थापित मानदण्ड होने चाहिए ताकि उनके मूल्यों और विश्वासों का रिपोर्ट पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की अधिक गुंजाइश न रहे। अंत में यह कह सकते हैं कि समूची नीति–निर्माण, क्रियान्वयन एवं मूल्यांकन की प्रक्रिया में नीति विश्लेषण निर्णायक महत्त्व रखता है।

किसी नीति की विस्तृत एवं व्यवस्थित परीक्षण के लिए विश्लेषक को विचारणीय नीति के अर्थ तथा ध्येय के बारे में स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए। यह विश्लेषक का प्रस्थानबिन्दु है। नीति विश्लेषक को निम्नलिखित लक्षणों की जांच करनी चाहिए–

1. नीति–निर्माण एक जटिल और गतिशील प्रक्रिया है।
2. इसके विभिन्न अवयव हैं।
3. नीति संरचनाओं के जरिये विभिन्न अवयव अलग–अलग योगदान करते हैं।
4. इनका निर्धारण मुख्यतः सरकारी संस्थाओं तथा कभी–कभी गैर–सरकारी संस्थाओं द्वारा किया जाता है।

5. सरकार की विभिन्न नीतियों को पृथक प्रमुख प्रकारों में श्रेणीबद्ध किया जाता है जिनमें से प्रत्येक का एक निश्चित लक्ष्य क्षेत्र तथा समूह होता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि नीति प्रक्रिया में शुरुआत से अन्त तक सभी विभिन्न पक्षों का तथा आयामों का नीति विश्लेषण के जरिये ध्यान रखना चाहिए।

13.5 नीति विश्लेषण ईस्टन के सन्दर्भ में

डेविड ईस्टन एक विख्यात राजनीतिक विज्ञानी है। उन्होंने नीति विश्लेषण के क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है और नीतियों के अध्ययन को एक विशेष प्रकार के अद्यतन और परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। ईस्टन ने नीति विश्लेषण के क्षेत्र में प्रणाली या व्यवस्था दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है। जिसमें वे नीतियों को केवल विशिष्ट निर्णयों के रूप में नहीं बल्कि एक पूरे प्रणाली के रूप में समझने का प्रयास करते है। उनका मानना है कि राजनीतिक प्रणालियों और नीतियों का पूरी तरह से अध्ययन केवल उनके प्रभावों पर ही नहीं, बल्कि उनके बीच संबंधों पर भी होता है।

डेविड ईस्टस अपनी प्रसिद्ध कृति "राजनीतिक व्यवस्था" (The Political system 1953) में लोक नीति के विभिन्न सामाजिक–आर्थिक चरों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में नीति–निर्माण की प्रक्रिया में कुछ निवेश अर्थात जनता की मांगें, समर्थन तया विरोध इत्यादि होते हैं, जो नीति निर्धारकों के मनो–सामाजिक ढांचे में, संरचनाओं एवं प्रक्रियाओं से गुजरकर निर्गत के रूप में बाहर निकलते हैं। निवेश को निर्गत में बदलने के बीच की क्रिया को Black Box नाम दिया गया है जो निर्णय या नीति निर्माण की चिन्तन–मंथन प्रक्रिया को बताता है। वस्तुतः व्यवस्था प्रतिमान राजनीतिक तंत्र का एक सामान्य प्रतिमान है जो नीति निर्माण प्रक्रिया की साधारण सी व्याख्या कर सकता है। यह प्रतिमान उस 'Black Box' पर प्रकाश नहीं डाल पाता है जहां वास्तव में निर्णय होते हैं। ईस्टन मानते हैं कि लोक नीति की अवधारणा किसी सामाजिक पर्यावरण में उठने वाली मांगों, उनके समर्थन तथा विरोध और संसाधनों से जुड़ी है। लोक नीतियां सम्पूर्ण पर्यावरण को प्रभावित करती हैं तथा पर्यावरण से ये नीतियां प्रभावित भी होती हैं। लोक नीतियों के क्रियान्वयन–मूल्यांकन के पश्चात प्राप्त पुनर्निवेशन (Feedback) आगामी नीतियों के लिए निवेश (Input) का कार्य करता है।

नीति विश्लेषण के लिए प्रणाली प्रतिमान

नीति निर्माण प्रक्रिया को एक ऐसा काला बक्सा माना जाता है जो समाज की मांगों को नीतियों में बदल देता है। **डेविड इस्टन** ने अपनी पुस्तक **एनलाइसिस ऑव पोलटिकल सिस्टम्स** में बताया है कि राजनीतिक प्रणाली समाज का अंग था जो "आधिकारिक रूप से मूल्यों के आवंटन की भूमिका" निभाती थी।

चित्र 1

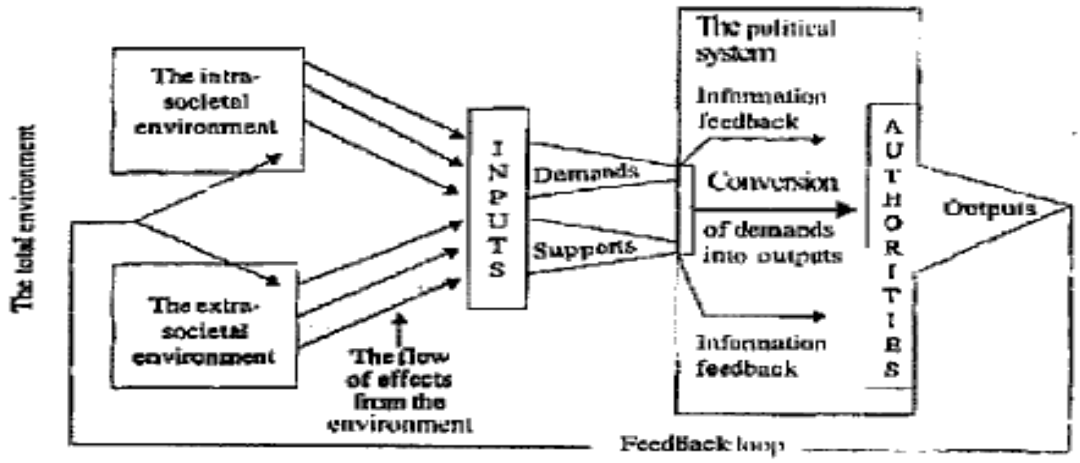

Source: Adapted from Easton's A Framework for Policy Analysis (1965)

अन्तर्सामाजिक परिवेश	बहिर्सामाजिक परिवेश
पर्यावरण प्रणाली	अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक प्रणालियां
जैविक प्रणाली	अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरण प्रणालियां
व्यक्तित्व प्रणाली	अंतर्राष्ट्रीय सामाजिक प्रणालियां

राजनीतिक विश्लेषण के प्रणाली प्रस्ताव को चित्र 1 में देखा जा सकता है। इस रेखाचित्र से अनुमान लगाया जा सकता है कि एक राजनीतिक प्रणाली की व्याख्या करते समय राजनीतिक वैज्ञानिकों के दिमाग में क्या रहता है।

निवेशों को परिवेश का भौतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक उत्पाद के तौर पर देखा जा सकता है। उन्हें राजनीतिक प्रणाली में मांग और समर्थन के रूप में ग्रहण किया जाता है। मांग राजनीतिक प्रणाली से किए गए दावे हैं जो व्यक्तियों और समूहों द्वारा परिवेश के कुछ पहलू को बदलने के लिए किए जाते हैं। मांगें तब सामने आती हैं जब परिवेश की स्थितियों को देखते हुए व्यक्ति या समूह लोक नीति को प्रभावित करने के लिए कार्य करते हैं।

परिवेश ऐसी स्थिति या घटना है जिसकी व्याख्या राजनीतिक प्रणाली की सीमाओं से बाहरी तत्व के रूप में की जाती है। राजनीतिक प्रणाली के समर्थन में नियम, कानून और परंपराएं सम्मिलित होती हैं जो राजनीतिक समुदाय और प्रशासकों के अस्तित्व के लिए आधार मुहैया कराती है। समर्थन तब किया जाता है जब व्यक्ति या समूह निर्णयों या कानूनों को स्वीकार करते हैं। समर्थन एक प्रणाली के प्रतीकात्मक या भौतिक निवेश (जैसे, कानून का पालन करना, कर अदा करना, या राष्ट्रीय पताका का आदर करना) होते हैं, जिनसे प्रणाली के मनोवैज्ञानिक या भौतिक संसाधनों का निर्माण होता है। राजनीतिक प्रणाली के केंद्र में नीति–निर्माण करने वाली संस्थाएं और व्यक्ति होते हैं। इनमें मुख्य कार्यकारी अधिकारी, विधायक, न्यायाधीश एवं नौकरशाह शामिल होते हैं। प्रणालियों के संस्करण में वे निवेशों को उत्पादनों में रूपांतरित करते हैं।

इस तरह उत्पादन राजनीतिक प्रणाली के मूल्यों का आधिकारिक आवंटन होते हैं, और इन आवंटनों के साथ लोक नीति या नीतियां जुड़ी रहती हैं। प्रणालियों का सिद्धांत राजनीतिक प्रणाली में लोक नीति को एक उत्पादन के रूप में चित्रित करता है।

पुनर्निवेशन की अवधारणा संकेत करती है कि लोक नीतियों का पर्यावरण और उससे उत्पन्न मांगों पर संशोधनकारी प्रभाव पड़ सकता है, और राजनीतिक प्रणाली के चरित्र पर भी प्रभाव पड़ सकता है। नीति के उत्पादन से नई मांगें और समर्थन सामने आ सकते हैं, या प्रणाली के पुराने समर्थन का प्रत्याहार हो सकता है। भविष्य की नीति के लिए उपयुक्त परिवेश तैयार करने में पुनर्निवेशन अहम भूमिका निभाता है।

व्यवस्था प्रतिरूप की कुछ निश्चित सीमाएं भी हैं जो निम्नलिखित हैं–

1. इसके अंतर्गत यह स्पष्ट नहीं है कि वातावरण के वे महत्त्वपूर्ण तत्त्व क्या हैं जो राजनीतिक व्यवस्था में मांगे उत्पन्न करते हैं।
2. पर्यावरणीय मांगें किस प्रकार राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करती हैं, इसके स्पष्टीकरण का अभाव है।
3. इसके अंतर्गत जिन मांगों को लोक नीतियों के रूप में रूपांतरित किया जाता है, उनकी प्रकृति जटिल एवं अस्पष्ट होती है।
4. इसमें इस स्पष्टीकरण का भी अभाव है कि पर्यावरण से उत्पन्न निवेश किस प्रकार लोक नीति की संतुष्टि को प्रभावित करते हैं।
5. व्यवस्था प्रतिरूप यह भी स्पष्ट नहीं कर पाता कि लोक नीति को किस प्रकार संतुष्टि, वातावरण एवं राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप द्वारा प्रभावित किया जाता है।

इन सीमाओं के बावजूद यहां यह उल्लेखनीय है कि राजनीतिक व्यवस्था को जिन मूल्यों के अधिकारिक आवंटन से ईस्टन ने जोड़ा है, उसका संबंध नीतिगत निर्णयों से ही है। इस तरह देखें तो यह प्रतिरूप लोक नीति को राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत होने वाले निवेश–निर्गत प्रक्रिया का परिणाम मानता है। इस प्रतिरूप को नीति प्रक्रिया को समझने का है। वस्तुतः व्यवस्था प्रतिरूप नीति–निर्धारण की प्रक्रिया को समझने और उसका मूल्यांकन एक महत्त्वपूर्ण उपकरण माना जाता है, क्योंकि यह शासकीय प्रयोजनों में उपयोगी सिद्ध करने का एक सशक्त

ढांचा प्रस्तुत करता है।

13.6 सारांश

इस प्रकार इस इकाई में नीति विश्लेषण के विभिन्न पहलुओं तथा डेविड ईस्टन द्वारा प्रतिपादित नीति विश्लेषण के प्रणाली प्रतिमान का अध्ययन किया गया है। नीति विश्लेषण, नीति निर्माण प्रक्रिया का सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग है। नीति विश्लेषण में नीति निर्माण, क्रियान्वयन, मूल्यांकन के अतिरिक्त अन्य विभिन्न तथ्यों तथा आयामों का विश्लेषण किया जाता है। नीति विश्लेषण में लोक नीति के विभिन्न पहलुओं को गहन व विस्तृत परीक्षण किया जाता है जिससे नीति से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं पर अधिक ज्ञान प्राप्त किया जा सके। नीति विश्लेषण तीन प्रकार के होते हैं, व्याख्यात्मक, निदानात्मक तथा तुलनात्मक। नीति विश्लेषण मुख्यतः सरकार के उन तरीकों से सम्बद्ध है जिनके द्वारा सरकार लक्ष्यों को हासिल करना चाहती है तथा अपने वातावरण को रूपान्तरित करती है। निदानात्मक और तुलनात्मक विश्लेषण पुनः यह समझाते हैं कि लक्ष्यों की अधिकतम प्राप्ति के लिए नीति में क्या जोड़ना चाहिए। नीति विश्लेषण के अनेक आयाम हैं जैसे– उद्देश्य, निर्धारक, हस्तक्षेप, सम्बद्ध संस्थाएं तथा संभाव्यता आदि। विख्यात राजनीतिक विद्वान डेविड ईस्टन ने नीति विश्लेषण के क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है और नीतियों के अध्ययन को एक विशेष प्रकार के अद्यतन और परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। डेविड ईस्टन ने नीति विश्लेषण के क्षेत्र में व्यवस्था दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है जिसमें वे नीतियों को केवल विशिष्ट निर्णयों के रूप में नहीं बल्कि एक पूरी व्यवस्था के रूप में समझने का प्रयास करते हैं। ईस्टन का मानना है कि राजनीतिक प्रणालियों और नीतियों का पूरी तरह से अध्ययन केवल उनके प्रभावों पर ही नहीं, बल्कि उनके सोच संबंधों पर भी होता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि नीति प्रक्रिया में प्रारंभ से अन्त तक नीति विश्लेषण के अन्तर्गत विभिन्न पक्षों का तथा आयामों का अध्ययन किया जाता है।

13.7 अभ्यास प्रश्न

1. नीति–विश्लेषण से आप क्या समझते हैं, इसके विभिन्न पहलुओं का वर्णन करें।
2. नीति–विश्लेषण के विभिन्न प्रकारों का वर्णन करें।
3. नीति–विश्लेषण के प्रमुख आयामों की चर्चा करें।
4. डेविड ईस्टन द्वारा प्रतिपादित नीति विश्लेषण के व्यवस्था दृष्टिकोण की व्याख्या करें।

13.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. लोक नीति – आर. के. सप्रू
2. प्रशासन एवं लोक नीति – मनोज सिन्हा
3. लोक प्रशासनः सिद्धान्त एवं व्यवहार – सुषमा यादव एवं बलवान गौतम
4. लोक प्रशासन– प्रो0 अवस्थी एवं महेश्वरी
5. प्रशासनिक सिद्धांत व प्रबंध– सुरेन्द्र कटारिया
6. लोक प्रशासन – बी.एल. फाड़िया
7. ईपीए. 06 लोक नीति – इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्व विद्यालय
8. बी. ए. पी. ए. 301 लोक नीति, उत्तराखण्ड मुक्त विश्व विद्यालय